

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 06, अंक : 23, जुलाई-सितम्बर 2019

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्ताचल

नयी  
सदी  
के  
(आर. पार  
हिंदी  
कविता  
के  
पचास साल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच



**उस पार से ...**



**सर्वेश्वर दयाल सक्सेना**  
(15 सितम्बर 1927 - 24 सितम्बर 1983)

**फसल**

हल की तरह  
कुदाल की तरह  
या खुरपी की तरह  
पकड़ भी लूँ कलम को  
तो भी फसल काटने को  
मिलेगी नहीं हमको।

हम तो जमीन ही तैयार कर पायेंगे  
क्रांतिबीज बोने कुछ बिरले ही आर्येंगे।  
हरा-भरा वही करेंगे मेरे श्रम को  
सिलसिला मिलेगा आगे मेरे क्रम को।

कल जब फसल उगेगी लहलहायेगी  
मेरे न रहने पर भी हवा से इठलायेगी  
तब मेरी आत्मा सुनहरी धूप बन बरसेगी  
जिन्होंने बीज बोया था उन्हीं के चरण परसेगी।

कारेंगे उसे जो, फिर वही उसे बोयेंगे  
हम तो कहीं धरती के नीचे दबे सोयेंगे।

**- खुंटियों पर टंगे लोग (1982)**



शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-6, अंक-23, जुलाई-सितम्बर 2019

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा  
अतिथि संपादक : प्रो. मनीषा झा  
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा  
कला सम्पादक : शुभागता श्रीवास्तव

## समस्त पद अवैतनिक

### व्यवस्थापन एवं प्रबन्धन :

परमजीत कुमार पंडित, विनीता लाल, सुशील कुमार पाण्डे,  
विनोद यादव, पार्वती कुमारी साव, प्रभा उपाध्याय, गुड़िया राय,  
विद्या रजक, नगीना लाल दास, सोनू संगम।

### परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. शशि मुदीराज : प्राकृतन अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सेन्ट्रल  
यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी,  
बारासात

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी : विश्व भारती, शांतिनिकेतन

डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : खुदीराम बोस कॉलेज, कोलकाता

निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल

रामप्रवेश रजक : हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता

पत्रिका में व्यक्त विचारों में संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं  
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता  
उच्च न्यायालय होगा।



आवरण : डिजाइन बॉक्स के सौजन्य से

### संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन  
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क : 0332675 1686, 098314 97320

ई-मेल : muktanchalquarterly2014@gmail.com

sinhameera48@gmail.com

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन  
के लिए सामग्री यूनिकोड वर्ड(Unicode Word) में भेजें।

मुक्तांचल : A/C-50200014076551

HDFC BANK, BURRABAZAR,  
KOLKATA-700007

IFSC CODE :-HDFC0000219

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य

एक अंक-50 रुपये

सदस्यता शुल्क

वार्षिक-200 रुपये, आजीवन-2000 रुपये

संस्थाओं के लिए

वार्षिक-250 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

डाकखर्च(प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’



## अवस्थिति

शोध	<b>संस्तुति</b>	
	<b>आलेख</b>	
	08 मनीषा झा	: कविता के पचास साल : समकालीन कविता
	12 डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय	: समकालीन हिंदी कविता : दशा और दिशा
समीक्षा	19 सुधीर रंजन सिंह	: कविता और समकालीनता
	23 डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल	: समकालीन कवियों की समसामयिक दृष्टि
	<b>अनुशीलन</b>	
	28 रामनिहाल गुंजन	: ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की काव्य-संवेदना और दृष्टि
विवर्ण	34 परशुराम	: सृजनशीलता के धरातल पर संघर्ष
	42 प्रो. दामोदर मिश्र	: मुक्तिबोध का काव्य दर्शन
	47 निशांत	: हिंदी कविता का पिकासो : विष्णु खरे
	<b>विमर्श</b>	
गवेषणा	56 विमल वर्मा	: ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है
	63 जयप्रकाश मानस	: कवि की उपस्थिति
	<b>गवेषणा</b>	
	68 डॉ. बिनय कुमार पटेल	: समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी स्वर
सृजन	74 डॉ. सारदा बैनर्जी	: राजेश जोशी : लोकतंत्र की तलाश में
	80 डॉ. शशि शर्मा	: समकालीन कविता में समय, समाज और संस्कृति : सन्दर्भ स्त्री कलम
	<b>समय की शिला पर</b>	
	87 स्वप्निल श्रीवास्तव	: संवेदना की संरक्षक है कविता
संवासर	<b>कविता</b>	
	90 राजवंती मान	: मेरी दादी, अकाश छोटा है, सूखते तालाब, दूरी
	92 रंजीत वर्मा	: आरक्षण की थाप पर हम नहीं नाचेंगे, मुश्किल है स्त्री की प्रतिभा पर बात करना
	94 पंखुरी सिन्हा	: दुनिया भर का नक्शा, अमूर्त प्रेम, नंगे प्रेम पत्र
	96 कालिका प्रसाद उपाध्याय 'अशेष':	अपशब्द का मीठा जहर ही अच्छा है, मैं डरता हूँ
	98 मधु सिंह	: तुम ले चलो मुझे, स्त्री का आदिम इतिहास, चुप्पी, मौत और जिंदगी



शोध	सरगम के सुर साधे	
	101 शिव कुमार अर्चन	: गीत बोलेंगे हम नहीं
	कहानी	
समीक्षा	104 नीरजा हेमेन्द्र	: प्रेम का रंग स्याह
	115 हरभजन सिंह मेहरोत्रा	: स्वप्नहंता
	लघुकथा	
समीक्षा	120 डॉ. पंकज साहा	: कथनी और करनी
	122 रामप्रवेश रजक	: अंग्रेजी का प्रभाव, खुमारी
	प्रवासी साहित्य	
समीक्षा	123 पूनम सिन्हा	: प्रवासी कवि पद्मेश गुप्त से एक मुलाकात
	127 पद्मेश गुप्त	: घड़ी, छड़ी और ऐनक (कविता)
	रचना संदर्भ	
समीक्षा	128 कौशल किशोर	: यह है 'नई शुरुआत'
	131 अनिल कुमार पाण्डेय	: सामाजिक जीवन का जीवंत दस्तावेज : कौशल किशोर की कविताएँ
	शोधार्थी की कलम से	
समीक्षा	138 भैरव सिंह	: अनाहत शब्द और जीवन-मूल्यों के कवि : त्रिलोचन
	144 पिंकी झा	: केदारनाथ सिंह एवं धूमिल की कविताओं में बिंब-विधान
	पुस्तकायन	
समीक्षा	150 डॉ. ऋषिभूषण चौबे	: गद्य वद्य कुछ : एक स्वाधीन आलोचना
	157 आनंद गुप्ता	: निशांत की प्रेम कविताएँ
	गतिविधियाँ	
संचार	159 सोनू संगम	: नामवर सिंह की स्मृति में आलोचना केंद्रित अंक 'मुक्तांचल' का लोकार्पण
	159 आनंद गुप्ता	: एक साँझ कविता के कार्यक्रम की 5वीं कड़ी संपन्न
	160 पार्वती शॉ	: प्रेमचंद साहित्यिक अड्डा, कवि डॉ. केशरीनाथ त्रिपाठी का अभिनन्दन एवं 'विहान' की प्रस्तुति
संचार	161 कुसुम वर्मा	: 'एक अदद सपने के लिए' का काव्य मंचन



---

## संस्तुति

कविता अपने सृजन समय की आवाज है। समकालीन कविता जैसा नाम एक समय विशेष के लिए रूढ़ हो गया है। उसके विविध संदर्भ उग आये हैं जो विमर्शों को जन्म देते हैं। अपने आज को प्रतिबिंबित करने में कविता अपनी पुरानी केंचुल उतारकर अलग कर रही है। कई सारे ठप्पे और मुहर लगी कविताएँ जो पिछली सदी के पार से आई थीं आज अलग खड़ी दिख रही हैं। अभिव्यक्ति की खोज में एक भटकाव है अतः सृजन में कोई विन्यास नहीं है; न शब्दों का और न बिम्बों का। जीवन-जगत की लड़ाई 'तू-तू मैं-मैं' की जनतांत्रिकता से सिमटकर 'हम' 'हमारा' की निरंकुशता में बदल गई हैं। जगी हुई आँखों ने जिन सपनों को देखा था वे सब टूट गये हैं और वे सपने जो अभी देखे-दिखाये जा रहे हैं वे नींद वाली आँखों के हैं जिनका अंत कभी जगने पर ही हो सकता है। स्वप्न और जागरण के द्वंद में फँसी है हमारी कविता अर्थात् हमारी अभिव्यक्ति की मुक्ति।

सदी के आर-पार से पिछले पचास वर्षों का समय अनेक घटनाओं, परिघटनाओं का गवाह रहा है। बीसवीं शताब्दी में छठे दशक का अंत हो रहा था और आजादी के बीस साल पूरे होने को थे। जागी आँखों से देखे गये सपनों को मुकम्मल करने की ताबीर बनने लगी थी। धूमिल 'संसद से सड़क तक' पहुँचने के लिए ऐलान कर रहे थे। धूमिल की 'पटकथा' में स्वाधीन भारत की ऐसी तस्वीर उभरकर आयी थी जो उस समय की युवा मानसिकता को प्रकट कर रही थी। व्यवस्था को बदलने या आमूलचूल परिवर्तन की आवाज तेज होती जा रही थी। आजादी के बीस-पच्चीस वर्ष के अनंतर देश में मोहभंग की लहर उठ रही थी। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता कि पंक्ति 'मैं यह खिड़की नहीं खोलूँगा हवा को आना है तो आये' एक तरह से अनास्था का स्वर है जो विभिन्न राजनैतिक दलों के नाकामयाबी की ओर संकेत करता है। दुष्यंत कुमार इसी भाव को प्रकट करते हैं- 'हो गई है पीर पर्वत/ अब पिघलनी चाहिए/ इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।' अभिव्यक्ति के तीखे और तुर्श प्रयोग तथा आंदोलनों की भरमार ने जून उन्नीस सौ पचहत्तर में देश को आपातकाल के शिकंजे में डाल दिया। अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गई। 'प्रेस सेंसरशिप' लागू हो गया। सजग बुद्धिजीवी और लेखक को जेल में डाल दिये गये। जायज बात कहने की आजादी पर रोक लगा दी गई। दुष्यंत कुमार ने अपनी गजलों में राह बनाई 'मत कहो कुहरा घना है, यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।' उन्नीस जनवरी सतहत्तर को चुनाव की घोषणा हुई और आपातकाल हटा ली गई। कलकत्ता के लेखकों ने आपातकाल के दरम्यान तैयारी करके 23, 24, 25 जनवरी को 'भारतीय जन-साहित्य सम्मेलन' का आह्वान

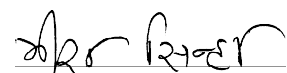


किया। पूरे भारत से लगभग सत्तर-पचहत्तर हिंदी के लेखक इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए और अभिव्यक्ति की आजादी पर रोक की निंदा करते हुए राजनैतिक बंदी मुक्ति के लिए प्रस्ताव पारित किया। उस सम्मेलन में नागार्जुन जी नहीं पहुँच पाये, जेल में थे। शंभुनाथ, आनंद सिन्हा, ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण', मीरा सिन्हा, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, राजेन्द्र सिंह, कर्ण सिंह चौहान, सुधीश पचौरी, नरेन्द्र मोहन, दिविक रमेश, शांति सुमन, विजय बहादुर सिंह, गणेश मंत्री, नचिकेता, सुब्रत लाहिड़ी, मृत्यंजय श्रीवास्तव, श्रवण कुमार, कालिका प्रसाद सिंह, धीरेन्द्र अस्थाना, अशोक चक्रधर, मनमोहन, पन्नालाल जायसवार, रामनिहाल गुंजन, नरेन्द्र मोहन, जितेन्द्र राठौर आदि सैकड़ों साहित्यकारों ने भाग लिया। मार्च में चुनाव हुए और सत्ता पक्ष को जनता ने जवाब दे दिया। उस समय की जनता के फैसले ने जनवादी कविता को मुखरित किया। सतहत्तर ने हिंदी कविता की जमीन को जनवादी कविता से पुख्ता कर दिया-अरुण कमल, आलोक धन्वा, मदन कश्यप, राजेश जोशी, गोरख पाण्डे, महेश्वर आदि मुख्यधारा के कवियों की रचनाशीलता इन्हीं दिनों बलबती हुई।

20वीं सदी का अंतिम दशक सारी दुनियाँ में आतंक और अवसाद लेकर आया। कई-कई सपनों के टूटने-बिखरने की किरचें चुभने लगीं। देश के सामाजिक-राजनीतिक पटल पर जातिवाद, सांप्रदायवाद, भाई-भतीजावाद और फिर भ्रष्टाचार सबने मिलकर अजीब से अंधड़ की सृष्टि कर डाली। नयी सदी में भी उसी अंधड़ की धमक अभी तक चल रही है। बाजारवाद और शहरीकरण ने लोकजीवन की सहजता को छीन लिया है। 'लोक' गाँव से निर्वासित हो गया है और उसे महानगरों के 'मॉल' और 'आयोनेक्स' में जगह लेना पड़ रहा है। प्रकृति और पर्यावरण विनाश के कगार पर है। पर्वत ढह रहे हैं, नदियाँ उफन रहीं हैं, कहीं बाढ़ तो कहीं जलजला।

साहित्य की दुनियाँ में एक असमंजस एवं दिग्भ्रम की स्थिति जारी है। जनसंघर्ष से जुड़ी कविताएँ अब कहीं गुम हो गई हैं क्योंकि जन आकांक्षाओं से उसका संबंध सिकुड़ गया है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में व्यक्ति की आकांक्षा आसमान छूने लगी है ऐसे में साहित्य का संरक्षण-ग्रस्त हो जाना स्वभाविक है समकालीन कविता अपने समय की जनवादी चेतना को मुखर करने की जिस ताकत से लैस थी वह दुर्बल होती गयी है। वस्तुतः कविता एक जुनून है जो कुछ कर गुजरने की हिम्मत देती है लेकिन यह समय न तो हिम्मत दिखाने का बचा है और न कुछ कर गुजरने का क्योंकि आदमी अकेला कर दिया गया है। पसरी हुई सुविधाओं के बीच वह अकेला भी जी सकता है। फलतः कविता की दुनियाँ में विन्यास नहीं है। शब्द, अर्थ, बिम्ब सब गड़डमड़्ड। फिर हम समकालीन कविता की शक्तिशाली परंपरा को कहाँ-कहाँ ढूँढना चाहते हैं। समकालीनता की डोर पकड़े आज की कविता मुक्त नहीं हो पा रही है। किन्हीं विचारों, किन्हीं अवधारणाओं से घिरी निस्तेज हो रही है वह। काल को पार करने के लिए उसे अपने समय को अपने आस-पास को और सबसे अधिक अपने लोक को ठीक-ठीक पहचानना होगा। नये-नये कवियों में आज कल कभी प्रेम तो कभी प्रकृति की ओर भागने की होड़ लगी है। लेकिन गौर करने की बात यह है कि दोनों ही तरफ कोहराम मचा हुआ है।

समय की विडंबना यह है कि जिसे जो करना चाहिए वह उसे नहीं करता। छूट और अवसरवाद अकादमिक जगत की पहचान बनती जा रही है। 'मुक्तांचल' अपने प्रयास से इस तरह की निस्संगता को तोड़ने के लिए कटिबद्ध है।



संपादक

## कविता के पचास साल : समकालीन कविता

मनीषा झा

हिंदी साहित्य के इतिहास में जिसे समकालीन कविता कहा जाता है, उसकी शुरुआत आज से लगभग पचास साल पहले हुई। अर्थात् समकालीन कविता सन् 1970 के आस-पास से चलकर आज तक अनवरत गतिशील है। इन पचास सालों में समय, समाज और देश की परिस्थितियाँ काफी तेजी से परिवर्तित हुई हैं। ऐसे में, इस कालखंड में रचित साहित्य का अध्ययन काफी जटिल हो जाता है। समकालीन कविता पर उपलब्ध आलोचना या टिप्पणी में इस काव्यधारा को दशकों में बांटकर अध्ययन का चलन मिलता है। जैसे-सातवें दशक की कविता, आठवें दशक की कविता, नवें दशक की कविता, नई सदी या इक्कीसवीं सदी की कविता आदि। इसे आज की कविता या इधर की कविता भी कहा गया। इस विभाजन में दिक्कत यह है कि इससे हर दशक की कविता के अपने अलग लक्षण तो स्पष्ट हो जाते हैं, पर समकालीन कविता की छवि खंड-खंड हो जाती है। अतः परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए समकालीन हिंदी कविता का अध्ययन यदि दो चरणों में बांटकर किया जाय तो समस्या का कुछ निवारण लगता है। पहला चरण सन् 1967 से 1990 तक, दूसरा चरण 1991 से अब तक। 1990 विभाजन सीमा इसलिए, कि इसके बाद भारत के भूमंडलीकरण तथा अर्थिक उदारीकरण की नीतियों में शामिल हो जाने से देश के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्यवस्थागत परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है। परिणाम स्वरूप जीवन में नई-नई चुनौतियों और जटिलताओं का समावेश दिखाई पड़ता है।

समकालीन कविता के पहले चरण और दूसरे चरण की प्रवृत्तियों में अंतर है। अरुण कमल लिखते हैं—“नवें दशक की कविता को पढ़ते हुए जो बात सबसे पहले ध्यान खींचती है वह है उसका अ-राजनीतिक स्वरूप। धूमिल और उनके बाद हिंदी कविता स्पष्टतः राजनीतिक रही है। कभी कम कभी ज्यादा। रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा भी राजनीतिक आशय के बिना संभव नहीं। लेकिन इधर की कविता प्रायः अ-राजनीतिक है।” अरुण कमल के मत से यह स्पष्ट होता है कि समकालीन कविता के दोनों चरणों को बांटने वाला मुख्य बिंदु राजनीतिक रूझान है। मदन कश्यप भी मानते हैं कि नवें दशक की कविता का स्वरूप अ-राजनीतिक है। वे लिखते हैं—“यह सही है कि नौवें दशक की कविता में राजनीतिक सरोकार



कमजोर पड़े और उत्सवधर्मिता बढ़ी, लेकिन यह भी सच है कि इस दौरान सामाजिक सरोकारों का विस्तार हुआ। पहली बार स्त्री, दलित और आदिवासी को कविता में ठीक-ठाक जगह मिली।” रेवती रमण राजनीति को समकालीन कविता की पृष्ठभूमि मानते हैं—“समकालीन हिंदी कविता की एक राजनीतिक पृष्ठभूमि भी है। उसके प्रणायन के पीछे यह विश्वास काम करता है कि विपक्ष में केवल कविता है।” इस तरह समकालीन कविता के पहले चरण का मूल स्वभाव राजनीतिक रुझान को रेखांकित किया गया है। इस दौर में अति राजनीतिक आग्रह के कारण कविता अतिक्रांतिकारिता से युक्त हुई, जिसे कुमार विकल, गोरख पांडे, वेणु गोपाल, आलोकधन्वा आदि कवियों ने समृद्ध किया। इस तरह सातवें-आठवें दशक यानी समकालीन कविता के पहले चरण में विचारधारा की सशक्त अभिव्यक्ति की गई कविता में। कहीं-कहीं तो इसे ही समकालीन कविता माना गया और इस काल में आधुनिकतावादी दृष्टि वाली कविता को इस दायरे से बाहर रखा गया। समकालीन कविता के अंतर्गत उनका मूल्यांकन नहीं किया गया। यह परिदृश्य बदल गया जब भूमंडलीकरण की विचारधारा सामने आई। फलतः कविता में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति भिन्न रूपों में होने लगीं। यहाँ तक कि पहले चरण में सक्रिय कवि- राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, ज्ञानेंद्रपति आदि की कविताएँ भी प्रतिरोध के अन्य रास्ते तलाशती नजर आती हैं। यानी सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-व्यवस्थागत बदलाव ने नये-पुराने सभी को प्रभावित किया।

समकालीन कविता के पहले चरण में पूंजीवाद और सत्ता के विरुद्ध विचारधारा का स्वर तेज है तथा सामान्य जन के प्रति पक्षधरता का स्वर स्पष्ट है, मानो पूंजीवाद और सत्ता वर्चस्व ही सबसे बड़ी चुनौती हो। पर दूसरे चरण की कविताओं में विचारधारा के स्वर का लोप भी हुआ, जो पहले की कविताओं के लिए

अखरनेवाली बात थी। अरुण कमल लिखते हैं—“इधर की कविताएं अधिकांशतः छोटे-छोटे विषयों और आशयों की कविताएं हैं। स्थिर, शांत और सौम्य। घर-परिवार-गृहस्थी-प्रकृति-लोकजीवन के सुकोमल दृश्य और बिंब जो दृश्य-पटल पर जरा-सा ठहरकर विसर्जित हो जाते हैं, इधर की कविता में लगातार बढ़ते गए हैं। कह सकते हैं कि कविता ज्यादा घरेलू और पालतू हो गई है।” असल बात यह हुई कि समकालीन कविता के पहले चरण की कविताओं की अपेक्षा दूसरे चरण की कविताएं अ-राजनीतिक स्वभाव वाली है। इसके पीछे मूलतः समय का दबाव था। अब कविता में समय-सजगता मूल चिंता दिखने लगी। कहना चाहिए कि पहले चरण की कविता में जो स्थान राजनीतिक विचारों का था, अब वह स्थान समय की पहचान ने ले लिया। कविता का घरेलू और पालतू हो जाना बहस का विषय है। विनोद दास ने नोट किया है—“यह सही है कि इधर कवि अकेला हुआ है। जिन मूल्यों और प्रतिबद्धताओं के लिए अपनी कविता में आवाज उठाता है, उन्हें समाज में आगे ले जानेवाली राजनीतिक और सामाजिक शक्तियाँ कमजोर हुई हैं। लेकिन यह भी सच है कि हमारे समाज और समय में छोटे-छोटे स्तरों पर प्रतिरोध कार्रवाइयाँ भी चल रही हैं।” प्रतिरोध समकालीन कविता की ताकत है।

वस्तुतः पूंजी, बाजार, स्वार्थ, हिंसा तथा अमानवीयता के विरुद्ध आवाज या प्रतिरोध समकालीन कविता का वास्तविक स्वरूप है। क्षेत्रीयतावाद, आतंकवाद, व्यक्तिवाद, भेद-भाव की बढ़ती खाई, सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, पर्यावरण, प्रदूषण आदि विविध चुनौतियों का सामना करने के कारण समकालीन कविता का दायरा बढ़ा है। इस कविता में वर्चस्व के प्रति प्रतिरोध, बाजारवाद, अमानवीयता, सांप्रदायिकता आदि के प्रति प्रतिरोध दर्ज है। संपूर्ण समकालीन कविता में प्रतिरोध का स्वर प्रबल है। इस कविता के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की कविता में दाने मंडी जाने से इंकार

कर देते हैं -“नहीं/हम मंडी नहीं जाएंगे  
खलिहान से उठते हुए  
कहते हैं दाने।”

दाना से सबसे बड़ा सरोकार सामान्य जन का होता है, जो बाजार जाने के प्रतिरोध करता है। यह वास्तविकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए जन का भी तभी तक महत्त्व रहता है, जब तक वह पूंजी को गति देने वाला मशीन बना रहता है। जहाँ वस्तु और पूंजी ही सबकुछ हो, वहाँ मनुष्य गरिमाहीन हो जाता है। इस नए बाजार में सब कुछ चकमक है। एयर कंडीशन्ड है। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के आ जाने से इस देश में बाजार का स्वरूप विस्तार हुआ है और बदला है, तो कविता में इसे भी रेखांकित किया गया है। बाजार के कारण मनुष्य और समाज का स्वरूप बदला है, तो यह भी कविता में दर्ज हुआ है। बाजार के प्रति प्रतिरोध का स्वर समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि से लेकर युवा कवि तक में देखा जा सकता है। संजय कुंदन, निर्मला पुतुल, हेमंत कुकरेती की कविता में यह स्वर प्रबल है।

उपभोक्तावाद का चलन बाजारवाद से आया। इसकी प्रवृत्ति है कि सजीव-निर्जीव हर वस्तु और प्राणी को मात्र एक वस्तु के रूप में देखता है। इस विचार में पूंजी और पैसा ही सब कुछ है। भौतिक सुख-साधन इकट्ठा करने और उसे भोगने में ही जीवन की सफलता है। पूंजी और बाजार की नीतियों के साथ चलने में ही जीवन की सफलता समझी जाती है। नया समय सबको बदल रहा है। जीवन का पैमाना और कसौटी बदल रही है। जो बाजार की नीतियों में शामिल हैं, वे वातानुकूलित कमरे में बैठकर पूंजी का कारोबार करते हैं। समकालीन कवि कठिन समय, हिंसक समय, संवेदनहीन समय, जो मूलतः पूंजीवाद और उपभोक्तावाद की देन है, को रेखांकित करते हुए प्रतिरोध करते हैं। नीलेश रघुवंशी ‘पागल समय’ कविता में लिखती हैं—

“कितना पागल समय है ये

घूम रहे हैं जिसमें सब बौराए-बौराए।”

विश्व बाजार के आतंक ने सहज-सामान्य-स्वाभाविक को हाशिए पर ठेल दिया है। समकालीन कवि उसे चुन-चुनकर बाहर लाता है।

समकालीन कविता में प्रतिरोध के बिंदु और भी हैं। सांप्रदायिक कट्टरता, रक्तपात, हिंसा, आतंक, बर्बरता की विभीषिका चित्रित करते हुए उसके प्रति प्रतिरोध अख्तियार किया गया है। इस दिशा में राजेश जोशी, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, मदन कश्यप, ज्ञानेंद्रपति, कात्यायनी, सविता सिंह आदि कवियों की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। श्रम की स्थापना और श्रमजीवी की गरिमा का बखान समकालीन कविता के पहले चरण से लेकर दूसरे चरण तक विद्यमान है। पूंजीवाद के प्रति प्रतिरोध इस कविता के दोनों चरणों में मौजूद है। मानवीय संबंध, प्रकृति और मनुष्य का अन्योन्याश्रित संबंध, मनुष्य का सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन दोनों चरणों की कविताओं में प्रमुखता से चित्रित है। पर दूसरे चरण की कविता में कुछ और जीवन-संदर्भ आ जुड़े। जैसे अब केवल वर्गगत वैषम्य ही नहीं, जातिगत और लिंगगत वैषम्य भी प्रमुखता से चित्रित किए गए। जिसके परिणास्वरूप स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी-विमर्श का स्वर कविता में स्थान पाने का अधिकारी हुआ। पर्यावरण-संकट को गहराई से अनुभव करते हुए समकालीन कवि प्रकृति और मनुष्य की मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करते हैं।

समकालीन कविता में वैविध्य है। वैविध्य दोनों पक्षों में है-विषय पक्ष में भी और अभिव्यक्ति पक्ष में भी। कविता का क्षेत्र विस्तार हुआ है। आज कविता को विविध जीवन-स्थितियाँ, जीवनानुभव मिल रहे हैं, जिनसे कविता का दायरा विस्तृत हो रहा है। समकालीन कविता की एक प्रमुख विशेषता वैविध्य है, इसे परमानंद श्रीवास्तव भी रेखांकित करते हैं। अपने ‘कठिन समय में कविता’ शीर्षक लेख में नीलेश रघुवंशी, पवन करन, कुमार अंबुज, नीलाभ, अनामिका आदि कवियों का

हवाला देकर कहते हैं—“इधर की कविता का वैविध्य चकित करता है।” राजेश जोशी ने लिखा है—“जीवन का विशद चित्रण ही समकालीन कविता का खास मकसद रहा है।” अरुण कमल लिखते हैं—“जीवन के जितने सारे क्षेत्र, अनुभव भंगिमाएँ अभी आ रही हैं, उतनी पहले नहीं थीं। चीखने से लेकर स्वगत तक पूरा विस्तार मिलता है।” अरविंद त्रिपाठी ‘कविता का आज’ लेख में लिखते हैं—“समकालीन कविता में एकरूपता की जगह विविधता का संसार रचा गया है।” वस्तुतः समकालीन कविता के वैविध्य पर सभी

आलोचक एवं कवि एकमत हैं।

इस तरह समकालीन कविता का स्वरूप वैविध्यपूर्ण है तथा इसकी मुख्य प्रवृत्ति प्रतिरोध की है। समकालीन कवि समस्त भेद-भाव और मनुष्यता को बांटनेवाली स्थितियों की पहचान कर उसके प्रति प्रतिरोध दर्ज करते हैं। मनुष्य और प्रकृति के अस्तित्व की रक्षा का प्रयास दिखता है इस कविता में। जातिगत, लिंगगत और वर्गगत वैषम्य बढ़ानेवाले तत्त्वों के प्रति प्रतिरोध का स्वर दर्ज है इस कविता में। समकालीन कविता में संघर्ष तथा प्रतिरोध का सौन्दर्य प्रबल है।

अध्यक्ष(हिंदी विभाग), उत्तर बंग विश्वविद्यालय

राजा राम मोहनपुर, सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग-734013(पं. बं.), मो- 9434462850

### ‘मुक्तांचल-24(अक्टूबर-दिसम्बर 2019)

यह अंक ‘नयी सदी के आर-पार हिंदी कहानी के पचास साल’ पर केन्द्रित होगा। इस कथा केन्द्रित अंक की अतिथि सम्पादक नवोदित कहानीकार डॉ. शुभ्रा उपाध्याय होंगी।



## समकालीन हिंदी कविता : दशा और दिशा

डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

‘समकालीन’ एक व्यापक शब्द है जिसमें एक काल विशेष में रचित सभी काव्यधाराओं का समावेश स्वतः सिद्ध है। समकालीन हिंदी कविता प्रगतिवादी-प्रयोगवादी कविता से विकसित ‘नई कविता’ की परिणति है। समकालीन कविता नई कविता की आत्मकेन्द्रीयता के स्थान पर समाज-सत्य की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता के अहसास की उपज है। यह उस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए समर्पित प्रगतिशील परम्परा का सार्थक विकास है जिसे ‘नव प्रगतिवादी’ कहकर समाज और राजनीति के परहेजदार उसके रचनाकारों का माखौल उड़ाया करते थे। सन् 1967-68 से लेकर अब तक की समकालीन कविता का मूल स्वर जनवादी रहा है। वस्तुतः समकालीन कविता के केन्द्र में यथार्थ के निर्माण हेतु संवेदनशील साक्षात्कार की जो प्रवृत्ति है, वही इसे पूर्ववर्ती कविता से पृथक् करती है। अपनी इसी क्षमता के बल पर समकालीन कविता के वर्तमान परिवेश की चुनौतियों की सामना करने की आवश्यक क्षमता अर्जित की है। वैसे तो हर युग अपने समय के साथ आगे या पीछे बढ़ता है और बदले हुए शब्दों में उस पूरे युग को तत्कालीन ही माना जाता है। हर इतिहास का, हर संस्कृति का तथा हर साहित्य का अपना एक निश्चित समय होता है। वह कालखंड में बंटा होता है। हर साहित्य अपना समकालीन होता है। समकालीन का अर्थ वर्तमान में सृजित कविताओं से कम और वर्तमान के लिए सृजित कविताओं से अधिक लिया। समकालीन हिंदी कविता यानी इस समय की कविता। इस समय की कविता कब से कब तक? हर काल की कविता उस काल के समकालीन हुआ करती है। समकालीन हिंदी कविता में विशेष रूप से 1960 के बाद शोषण और विषमता के युग यथार्थ को तथा राजनीतिक विसंगतियों से सीधी टकराहट व्यक्त होने लगी थी। समकालीन हिंदी कविता की शुरुआत कब से स्वीकार की जाये- इतना समय व्यतीत होने पर भी यह प्रश्न पूर्ववत् बना हुआ है। 1960 के बाद कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्तर साफ तौर पर उभरा है। नयी कविता में भी यह स्वर विद्यमान है। किंतु 60 के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार सन् 1960 से समकालीन कविता का विकास मानने का तर्क प्रबल है। इतना समय बीतने के बाद भी इस कविता धारा के विषय में अंतिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता

है। अभी इस कविता का मूल्यांकन सम्यक धरातल पर नहीं हो पाया है। यह हमारे लिए चिंता नहीं चिंतन का विषय है।

समकालीन कविता की दशा, दिशा और चुनौतियों पर विचार करने से पहले चंद शब्दों में समकालीनता को समझना आवश्यक है। समकालीनता का प्रश्न निरंतर उलझन भरा होता है-कम से कम एक रचनाकार के लिए कई कठिनाइयां खड़ा करता है। समकालीनता के साथ समय अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है जबकि समय सतत प्रवाहमान होता है। समसामयिक या समकालीनता का साहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ यह है कि किसी समय अथवा कालखंड विशेष के परिवेश से प्रभावित, रचित साहित्य जिसमें समय बोध उभरकर स्पष्ट हुआ है। समसामयिकता का बोध वर्तमान समय, वर्तमान क्षण से है। जिस जगत में हम सांस लेते हैं, जिस परिवेश में जीवित रहते हैं उसके सुख-दुःख आकर्षण-विकर्षण, तनाव को चित्रित करने वाला साहित्य या साहित्य-विधा समसामयिक है। अतिबोध से मुक्ति, वर्तमान में जीने का आग्रह और वर्तमान क्षण की अवधारणा ही समसामयिकता है। रचनाकार अपने समय की परिस्थितियों से कटकर नहीं रह सकता। परिवेश का प्रभाव उसकी रचना पर अवश्य पड़ता है। सामयिक परिवेश से टूटकर साहित्य का सृजन नहीं किया जा सकता। साहित्यकार वही जीवन जीता है जो उसके चारों ओर के परिवेश में दूसरे लोग जी रहे होते हैं। परिणामस्वरूप वह संवेदना के स्तर पर अपने चारों ओर के परिवेश व समाज से जुड़ा होता है और स्वयं को उसका अंग समझता है। उसका कथ्य उसके पास सभी इन्हीं अनुभूतियों में जन्म लेते हैं। यही साहित्यकार, उसके सामाजिक दायित्व का निर्वाह है या जो परिवेशगत जुड़ाव है और इसी से उसकी रचना अर्थवत्ता प्राप्त करती है। रचना का माध्यम बनकर परिवेश रचनाकार को उसके साध्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है। समकालीनता की स्वचेतना, सचेतना और संवेदनशीलता

अनिवार्य शर्त होती है। जड़ व्यक्ति अपने काल, समय और प्रवृत्तियों की परवाह नहीं करता वह एक गतिहीन मुर्छा में जीता है किंतु सचेतन व्यक्ति काल के किसी भी बिंदु से निरपेक्ष नहीं रह सकता, वर्तमान में ही वह भूत और भविष्य को समझता है। यही कारण है कि समकालीनता पूरे युग का काल-बोध न होकर स्थिति विशेष का ही बोधक होता है।

पिछले 35-40 वर्षों से हमारी कविता में अनेक छद्म चेतना के रूपों अनावृत करने की कोशिशें लगातार हो रही हैं। भारतीय समाज में उन्माद तथा उपभोग की इस नई वास्तविकताओं में छिपी बर्बरता के सूक्ष्म रूपों की पड़ताल और एक बुनियादी नैतिक ताने-बाने को बचाये रखने की चिंता हमारी समकालीन कविता की मुख्य चिंता है। जिस दौर में इतिहास के नकार के स्मृतिहीन उत्सव हो रहे हैं और कला की स्वायत्तता की चतुर चर्चाएँ चल रही हैं, उसी दौर में यह कविता मनुष्य होने की मूलभूत गरिमा से भी वंचित लाखों-करोड़ों मनुष्यों की दीनता और दुखदर्द को समझना चाहती है। यह कविता नैतिक मूल्यों पर आधारित जीवन-दृष्टि तथा मनुष्य के बुनियादी राग व जीवन के तत्त्वों की ओर भी लौटना चाहती है। पर यह कहना न होगा कि जातीय परम्पराओं और अपनी सांस्कृतिक पहचान का यह संकट आज जितना कठिन हो गया है, उतना शायद कभी नहीं था। परम्परा और सामुदायिक अन्तश्चेतना की अवधारणा आज सर्वव्यापी और एकमत नहीं रह गयी है। विदेशी पूंजी के भारी निवेश से जो परिवर्तन इस समय समाज में हो रहे हैं उनके चलते 'अपनी जड़ों की खोज' और 'संस्कृति पुनरुत्थान' के नारे ने विभिन्न प्रकार की दक्षिणापंथी, अंध धासिस्ट तथा साम्प्रदायिक शक्तियों को ही मजबूत किया है। जातीय स्मृतियों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं की पहचान का यह ऊपर से सरल तथा आकर्षण दिखता नारा आज एक खास तरीके से अल्पसंख्यकों, दलितों, गरीबों तथा किसानों को हाशिये पर धकेल दिए गये वर्गों के हितों के

खिलाफ इस्तेमाल हो रहा है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद के खिलाफ 'सांस्कृतिक जातीयता' को प्रतिरोधी ताकत के रूप में इस्तेमाल करना तब तक बेमानी है, जब तक समाज में चल रही सूक्ष्म, बहुविध राजनीति प्रक्रियाओं की समझ हमारी कविता में नहीं उभरती।

समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख पुरोधा कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन, अज्ञेय, कुंवरनारायण, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण शाही, केदारनाथ सिंह, दुष्यंत कुमार आदि का उल्लेखनीय है। समकालीन कविता का प्रथम पड़ाव मुक्तिबोध, द्वितीय पड़ाव राजकमल चौधरी तथा तृतीय पड़ाव सुदामा पाण्डेय धूमिल से शुरू होता है। समकालीन हिंदी कविता को एक आंदोलन के रूप में लाने तथा कविता की सही सार्थक पहचान करवाने में नये कवियों में धूमिल का नाम अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। अन्य प्रमुख कवियों में-लीलाधर जगूड़ी, अशोक वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहना, रामदरश मिश्र, जदनाथ नलिन, सुनीता जैन, विनोद कुमार शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, राजकुमार कुम्भज, विष्णु खरे, अवधेश कुमार, नंद भारद्वाज, नंदकिशोर आचार्य, विनोद चंद्र पाण्डेय, प्रयाग शुक्ल, मणि मधुकर, मनोज सोनकर इत्यादि। विचार कविता के प्रमुख कवियों में बलदेव वंशी, नरेश मोहन विनय आदि प्रमुख हैं। जनवादी कविता के प्रमुख कार्य कुमारेन्द्र, विजेन्द्र, चंद्रकांत देवताले, वेणुगोपाल, कुमार विमल, ज्ञानेन्द्रपति, राजेश जोशी, माहेश्वर, गोरख पाण्डेय, ऋतुराज, आलोक धन्वा, अरुण कमल, शलभ श्रीराम सिंह इत्यादि। जनचरित्री उत्तर कविता के प्रमुख कवियों में नरेन्द्र जैन, ब्रदीनारायण, एकांत श्रीवास्तव, स्वप्निल श्रीवास्तव, लीलाधर मंडलोई, कुमार अम्बुज। समकालीन हिंदी कविता की स्त्री विमर्श चेतना की प्रमुख कवयित्रियों सुनीता जैन, राजी सेठ, अनामिका गगल गिल, कात्यायनी... ग़ोवर मुक्ता, निलेश रघुवंशी, सविता सिंह इत्यादि का नाम लिया जा सकता

है। दलित चेतना के प्रमुख कवियों में एन. सिंह, ओमप्रकाश वाल्मीकि, रमेन्द्र जारपू, होरिल, माता प्रसाद गुप्त, लाल चन्द्र राही, पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी, सोहन पाल, सुमनाश्रर, मोहनदास नैमिषराय, दयानंद बटोही, जयप्रकाश... इत्यादि हैं।

समकालीन कविता समसामयिक युग संदर्भों और जीवन मूल्यों की कविता है। इसका रचना शिल्प इसके विषय-वस्तु के अनुरूप है। यह सभी दृष्टियों से समय के साथ रही है। इसने प्राचीन और जीर्ण के प्रति विद्रोह किया है तथा नवीन और मूल्यवान के प्रति आत्म-समर्पण। कवियों ने पुरातन मूल्य पर गहरे प्रश्न चिह्न लगाये हैं तथा रतन मानव मूल्यों की स्थापना की है। आज का कवि इस बात से चिंतित है कि वृहत् से वृहत्तर होती जा रही वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कहीं आज के मानव को अस्तित्वहीन न बना दें। समकालीन कविता ने नारी, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर, आम आदमी को सम्मान की दृष्टि से देखा है और उनके महत्व को अंकित किया है। स्नेह संवेदना, करुणा, सदभाव, बंधुत्व आदि मूलभूत मानव मूल्यों को कविता मनुष्य मात्र को एकता के सूत्र में पिरोने का काम करती है।

20वीं शताब्दी के अंतिम दशक से विचार-दर्शन में बदलाव आया है। साहित्य के भविष्य के साथ कविता के भविष्य की बात होती रही है। उत्तर-आधुनिकता के केन्द्र से परिधि की ओर जाने का दर्शन प्रस्तुत किया गया है। आधुनिकता और समकालीनता से जुड़ा साहित्य अब एक नये मोड़ पर आया है। आज जो साहित्य रचा जा रहा है वह समकालीन बोध से भी आगे है। कविता को आज कितना ही अप्रासंगिक कहा जाये पर वह सदा प्रासंगिक रहेगी। उसका स्वरूप बदला है पर वह रहती है। आधुनिकता के समानांतर समकालीनता का प्रयोग भी किया जाता है। समकालीन कविता नामक कोई आंदोलन नहीं हुआ पर 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की काव्य रचना को ही समकालीन कविता के नाम से



सम्बोधित किया गया। समकालीन कविता में अज्ञेय, मुक्तिबोध से लेकर अद्यतन कविता तक समावेश है। इसमें अकविता के कवि राजकमल चौधरी, वाम कविता के कवि धूमिल तक का समावेश हो जाता है।

विद्रोह की भावना समकालीन हिंदी कविता में अपनी सुनिश्चित दिशा में बढ़ सकी। यथास्थिति की क्रूरता, निमर्म सच्चाई, आम आदमी व्यथा, कारुणिक और दर्दनाक जीवन, नेता, अफसर पूंजीपति, कापॉरेट वर्ग के चरित्र की शोषक मनोवृत्ति, असंतोषबोध तथा जनता की निस्संगता तथा गैर जागरूकता के बिम्बात्मक चित्रण रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य, साम्प्रदायिकता पर कुठाराघात, धार्मिक संवेदनाओं, पाखंडों की खिल्ली आदि ऐसी बातें हैं जो समकालीन कविता की कविताओं में सर्वत्र दिखायी पड़ती हैं। आक्रमकता, उग्रता तथा क्रांति की भावना समकालीन हिंदी कविता के आवश्यक तत्व हैं। समकालीन हिंदी कवितायें सत्ता, व्यवस्था और रूढ़ियों के प्रति आक्रमण तथा तहस नहस करने की उग्र भावना की प्रवृत्तियाँ सामाजिक जीवन यथार्थ के विश्लेषण के संदर्भ में प्राप्त होती हैं। इन कविताओं में व्यक्त जीवन का रूप सामाजिक वर्गीकरण पर आधारित है। यह कविता रोजमर्रा के जीवन के जीवन की स्थूलता में सूक्ष्मता की खोज करती है, कवि के सभी अनुभव रोजमर्रा के जीवन से जुड़े हैं। अतः आज का कवि दैनिक जीवन के अनुभवों, दृश्यों तथा ध्वनियों को कविता में लाकर कविता और अनुभव को जन के करीब लाने का प्रयास करता है।

वस्तुतः समकालीन कविता मानवीय चेतना के सौन्दर्य बोधात्मक मूल्यों की रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इसका आपार सामूहिक चेतना है। इसे कुछ समीक्षक प्रगतिशील परम्परा, लोक प्रचलित प्रयोग शैलियों के वरण एवं जनवादी चेतना के रूपांतरण की कविता मानते हैं। लेकिन इस काव्यधारा को किसी एक विचारधारा में आबद्ध करना उचित नहीं होता। यह कविता धारा बहुआयामी तथा मानवीय मूल्यों के

प्रतिपादन में व्यापक है। समकालीन कविता समाज, राजनीति, संस्कृति, आर्थिक गतिविधियों से सम्पृक्त है, कहीं भी उससे कटी हुई नहीं है। इसमें समाज, राजनीति की विद्रूपता और विसंगति का पूरी समाजवादी से उद्घाटन है। विज्ञान और तकनीकी दृष्टि से देश जितना समृद्ध हुआ है उतना मनुष्य का चरित्र गिरा है। आज समाज के अधिकारी, व्यापारी, उद्योगपति तथा समाज के हर वर्ग का आचरण व्यावसायिक तथा आत्मकेन्द्रित हो गया है। समकालीन हिंदी कविता की परंपरा बहुत समृद्ध रही है। इस समृद्ध परम्परा में रखकर देखें तो समकालीन हिंदी कविता की स्थिति उत्साहजनक है। वह जीवन के बहुमुखी संघर्ष के सामने खड़ी है। निरीवाक की भूमिका छोड़ वह बहुमुखी संघर्ष का हिस्सा बन जाती है। इस प्रकार समकालीन कविता संघर्ष की दिशा को चिन्हित करने की शब्द शक्ति बन जाती है। समकालीन कविता के सामने एक संकट यह भी है जिसे डॉ. उमेश अशोक शिंदे व्यक्त किया है- “सामान्य पढ़े-लिखे लोग या समाजशास्त्री अर्थशास्त्री, फिल्मकार, पत्रकार, डॉक्टर, इंजीनियर, नौकरशाह आदि की तो बात ही क्या साहित्य की अन्य विधाओं से जुड़े गंभीर लोगों के लिए अनिवार्य पाठ्य या उनके सहजबोध हिस्सा बन पाना समकालीन कविता का बड़ा संकट है। काव्य-साहित्य का बहुत बड़ा भू-भाग तो वह घेरती ही है। विरोधाभासी स्थिति यह है कि कविता तो सबसे कम पढ़ी जा रही है, लेकिन लिखी सबसे अधिक जा रही है।” (समकालीन हिंदी कविता और मंगलेश डबराल, पृष्ठ-98-99)

दर्द, शोषण की विडम्बना का सम्पूर्ण दृश्यालेख अथवा जिंदगी की ऐन्द्रिक पहचान कराने में काव्यशिल्प में समकालीन हिंदी कविता को एक नयापन प्रदान किया है। यह कविता सार्थक सृजन संसार की कविता है जो आदमी खासकर आम आदमी को उसके मूल जातीय संदर्भ और संघर्ष में पहचानती है। इसमें सकारात्मक सोच यह लगती है कि यह जनता की

कविता बन पड़ी है। जनता के नायक उनका सुख-दुख, उनका हर्ष-विशाद, उनके छोटे-छोटे संघर्ष ही कविता के विषय बन पड़े हैं। युगीन परिवेश को परखने उसे शिद्दत के साथ अभिव्यक्त करती है। समकालीन कवि ने किसानों, मजदूरों, स्त्री, दलितों, जनजातियों की रोजमर्रा की जिंदगी के उन बिंदुओं को पकड़ा है जो प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के संवेदना के धरातल पर कहीं न कहीं छू जाते हैं। इनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण लहजा अपनाते हुए इसे आत्मबोध तथा जागरूकता का सूत्र पकड़ाने का प्रयास किया है।

समकालीन कविता का कथ्य यथार्थ पर आधारित है। इसमें सामाजिक सरोकारों तथा मानव मूल्यों का प्रतिपादन सहज रूप में हुआ है। इस कविता के अधिकांश कवियों ने राजनीति को कविता में व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करना चाहा है। सामाजिक यथार्थ और राजनीतिक बदलाव के प्रति सचेत हैं। परस्पर विरोधी पक्षधरता-आस्था, विश्वास, आत्मबल संकल्प के साथ ही स्वर नकारात्मक है, आक्रोश, खिझ और व्यंग्य प्रहार सर्वाधिक है। परम्परा और आधुनिकता बोध के प्रति निजी दृष्टि, उत्तरआधुनिक सोच की पक्षधरता है। रूढ़ियों, स्रोत धारणाओं-अंधविश्वासों के स्थान पर सही-सार्थक सोच, जीवन से सीधा प्रत्यक्ष साक्षात्कार, स्त्री दलित, आदिवासी मानसिकता, चेतना में क्रमिक विकास, जीवन के संघर्ष प्रतिकार का स्वर तथा जनवादी सोच, प्रकृति के प्रति वस्तुगत-सर्वथा नयी पक्षधरता आदि समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। समकालीन कविता बहुआयामी कविता है, इसमें परस्पर विरोध भी दिखायी पड़ता है। इसमें भाषिक, मुहावरों में बदलाव उसके स्वच्छंद विधान में है। इसमें विद्रोहात्मक आक्रोश की अभिव्यक्ति व्यापक तथा सटीक रूप में हुई है। श्रीराम वर्मा की कविता में देखिए-

हमारा वोट सिर्फ/ बिनौला क्यों है/ बादल क्यों नहीं/ हम वोट देते हैं तो किस देश को देते हैं/ हमारा

वोट किस देश में अलक्ष्य जा गिरता है।” धूमिल अपने समय की सच्चाई का तीव्रता से करते हुए उसके प्रति उग्रविरोध भाव व्यक्त करते हैं। ‘मोचीराम’ कविता में धूमिल अपने आक्रोश को, गुस्से को स्वर दिया है। वे लिखते हैं- “यह कोई बनिया है/ या बिसाती है/ मगर रोश ऐसा कि हिटलर की नाती है। इसे बाँधो, इसे काटो, हिया ठोक्को, वहाँ पीटो। धिक्शा दो, अदृशा चमकाओ। जुते को ऐना बनाओ।” धूमिल के कविता संग्रह ‘संसद से सड़क तक’ के प्रकाश में आते हैं। कविता में एक विशेष प्रकार का भाषिक मुहावरा प्रचलित हुआ और शायद ही कोई कवि इस कविता से प्रभावित हुए बिना रहा हो।” समय बीतने के साथ-साथ धूमिल, जगूड़ी, देवताले, कुमारेन्द्र, वेणुगोपाल के साथ ही कुमार विकल, उदय प्रकाश जैसे कवियों ने नयी सोच, नयी दृष्टि, पक्षधरता तथा भाषिक मुहावरा प्रदान किया।” (हिंदी साहित्य का आधुनिक काल: पद्य लेखक- हुकुमचंद रजपाल, पृष्ठ-257) हिंदी कविता समकालीन कविता का मानस केवल हिंदी की कविताओं में प्रतिबिंबित नहीं होता। अन्य भारतीय भाषाओं में हुआ सृजन भी उसे प्रतिबिंबित करता है। विनय विश्वास का यह कहना उचित लगता है- “दिलचस्प है कि कवि और कवि-समूह एक-दूसरे से जितना दूर हुए कविताएं परस्पर उससे ज्यादा करीब आईं। आज की कविता में समकाल उनके मेल जोल से ज्यादा उपस्थित हुआ। आज कोई पाठक अगर कविता के माध्यम से जीवन के समकाल को पहचानने की कोशिश करे तो उसका काम कुछ विशिष्ट, विख्यात तथा प्रतिष्ठित कवियों के सृजन से ही नहीं चलने वाला। उसे वस्तुतः समकालीन कविताओं से जुड़ना होगा, भले वो अल्पज्ञाता कवियों की हो। वस्तुतः समकालीन कविता भी समसामयिक संदर्भों से जुड़ी और उन पर चिंतन मनन करती हुई कविता है।

राजनीति विषयक कविताओं के संदर्भ में समकालीन कविता के बारे में यह कहा जा सकता है कि

इसकी बहुसंख्यक कविताएं सशक्त तथा सधी हुई हैं। वह उतावलापन में व्यवस्था पर ताबड़तोड़ हमले नहीं करती बल्कि वैचारिक पुष्टता के साथ प्रतिपदा में रहती है। पिछले कुछ सालों से व्यवस्था का विचारपूर्ण विरोध समकालीन कविता की एक खासियत बनकर उभरी है।

आज की कविता में गाँव के प्रति विशेष प्रकार का लगाव और शहर के प्रति नाराजगी का भाव है। समकालीन कविता में कवियों में प्रकृति के प्रति विशेष झुकाव है। कवियों ने मानवीय सौन्दर्य तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को संयुक्त रूप से देखा है। प्रकृति को समसामयिक संदर्भ में रखकर पर्यावरणिक समस्या के रूप में देखना भी आज के कवि की विशेषता है। समकालीन कवि दैनिक जीवन के दृश्यों, ध्वनियों, वस्तुओं को भी कविता में लाया है। इस कविता में तकनीक पर बल दिया गया है। जिससे आम आदमी के जीवन स्तर में विशेष सुधार नहीं हुआ है। इन कविताओं में बदले हुए यथार्थ को नयी तरह से, नयी भाषा में समझने तथा गढ़ने की क्षमता है। समकालीन कवि विभिन्न स्तरों पर तीव्र बेचैनी और कसपसाहट महसूस कर रहा है। उसकी कविताएं अर्थ और टेक्नोलॉजी दबावों के तहत बदलते हुए परिदृश्य, बदले हुए समाज की पीड़ा, विसंगति तथा त्रासदी को सामान्य जन की सोच तथा संवेदना में हो रहे परिवर्तनों को, संबंधों की भीतरी टूटन और नये बनते-पिटते समीकरणों को, विकट स्थिति के सामने संघर्ष को खड़ा कर रही है और ऐसा करते हुए भविष्य की ओर संकेत कर रही है। आज कवि अपने दायित्व को महसूस करते हुए जनता के संघर्षधर्मी चेतना को गति दे रहे हैं। आज के अनेक युवा कवियों की सृजनशीलता इस रचनात्मक पहल से सम्बद्ध है। युग-समाज में अंधेरा बढ़ रहा है तो मुक्ति के प्रचार की जरूरत है। यद्यपि मुक्ति की निर्णायक लड़ाई एकदम संभव नहीं हो पा रही है, लेकिन मनुष्य हार गया हो, ऐसा नहीं है, मार्ग निकल ही आता है।

आज व्यापक निराशा, टूटन का भी माहौल है, लेकिन वर्तमान के गए ही भविष्य जन्म लेगा, जो स्थितियाँ हैं उसी के भीतर से मुक्ति का रास्ता निकलेगा, दृष्टि मिलेगी। आज जो जिंदगी मूल्यवान है उसे बचाने की चिंता करनी होगी। यह चिंता, बेचैनी, गहरी छटपटाहट है। समकालीन कविता का कवि संभावनाओं के प्रति सजग है। निश्चित ही आज की कविता अनेक वृहत्तर संभावनाओं को लेकर आगे बढ़ रही है। कविता यथार्थ की ठोस भूमि पर खड़ी है। आज के बेहद निमर्म समय, संकटग्रस्त स्थिति में कवि बदलाव के लिए विकल तथा उद्विग्न है। आज का यथार्थ ज्यादा जटिल, पेंचीदा और संश्लिष्ट रूप धारण कर लिया है। जीवन का संकटापन्न बनाने वाली स्थितियों का प्रतिरोध, उसके निवारण तथा कारण पर मंथन हो रहा है। आज का कवि मूल्यहीन, संस्कृतिविहीन परिवेश में हताशा-निराशा के शिकार न होकर वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अपने सृजन से कर रहे हैं। देश की राजनैतिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, शैक्षणिक प्रत्येक स्थितियों में आए परिवर्तन ने वर्तमान लेखन को प्रभावित किया। बीसवीं शताब्दी का सातवाँ, आठवाँ दशक विविध समस्याओं से भरा रहा। युगीन परिस्थितियों के परिवर्तन स्वरूप साहित्यकारों ने अपने युग के यथार्थ को समकालीन कविताओं में समेटा है। “साहित्य में यह भाव आम आदमी का चित्रण, मूल्यों का संक्रमण, मानवीय संबंधों का विविध रूपों में चित्रण, स्त्री-पुरुष के संबंधों का चित्रण, पारिवारिक विघटन, जटिल जीवन संघर्ष, भ्रष्ट राजनीति, दमन आतंक, उग्रवाद, साम्प्रदायिकता, निर्धरता, महंगाई, विकृत न्याय व्यवस्था, कलह, टूटते वैवाहिक बंधन, अतृप्त आकांक्षाएँ, आत्महत्या, भय, अवसाद, कुंठा, तनाव, पाश्चात्य-संस्कृति का बढ़ता प्रभाव तथा टूटते मूल्य, वैज्ञानिक प्रगति के दुष्परिणाम, भाषाई दलगत गंदी राजनीति, प्रदूषण, समलैंगिकता, सम्पत्ति अधिकार, कन्या भ्रूण हत्या, घरेलू हिंसा, स्त्री, दलित आदिवासी विमर्श आदि ऐसे अनेक

विषय और समस्याएं हैं जिन पर हिंदी का वर्तमान लेखन आधारित है।” (समकालीन लेखन और आधुनिक संवेदना, सं. कल्पना शर्मा, पृष्ठ-66)

समकालीन हिंदी कवि की दृष्टि सर्वहारा, निम्नवर्ग, निम्नमध्य वर्ग की विषमताओं, अभावों एवं संघर्षों पर समान रूप से पड़ी है। युगीन सत्य के परिप्रेक्ष्य में निम्न तथा निम्न मध्य वर्गीय आम आदमी की स्थिति, मनोदशा, त्रासद जीवन, मानव प्रकृति को इन कवियों ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। समकालीन हिंदी कविता ने इन समस्याओं में फंसे व्यक्ति की जिजीविषा, निस्सहायता, निराशा, खीझ, बेचैनी, आक्रमकता आदि का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। जिस परिस्थिति में हम जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे समकालीन कविता में पर्याप्त मात्र में हुआ है। समकालीन कविता का कथ्य एवं धरातल विस्तृत एवं व्यापक है। पूंजी, टेक्नोलॉजी, भूमंडलीकरण, नवउदारवाद, बाजारवाद हमारे समय में हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में बुरी तरह शामिल है। लेकिन कला तथा साहित्य की सामाजिक भूमिका को चुनौती के तौर पर स्वीकार करके समकालीन कवियों

ने अपनी कविता से जन चेतना को धारदार बनाने की ईमानदार कोशिश की है। पूंजीवाद के विशाल तंत्र की साजिशों, संरचनाओं एवं जटिलताओं के रहस्य को पहचान कर कवि इस तंत्र की गिरफ्त में फंसे आदमी को निकालने की कोशिशें करता है। पूंजीवाद, उपभोक्तावाद, बाजारवाद तथा धनतंत्र पर टिकी आज की राजनीति मनुष्यता को लगातार विभाजित कर दंगों, धार्मिक उन्माद से राष्ट्रीय एकता तथा आपसी भाई-चारा को कमजोर कर रही है। आज के कवि को इसकी पूर्ण जानकारी है। आज व्यक्ति व्यापक रूप से इसकी पहचान ही नहीं इसके साथ संवाद भी है। जब तक व्यक्ति के भीतर संवेदना का संसार है और वह हमेशा रहेगा, क्योंकि उसके बिना कोई भी व्यक्ति मनुष्य नहीं हो सकता। समकालीन कविता में विषयों की विविधता है, इस दौर के बहुत सारे मुद्दों पर कवियों ने कलम चलाई है। घर-परिवार से लेकर समाज, संस्कृति, व्यवस्था, राष्ट्रतंत्र आदि सब चीजों पर कवि की दृष्टि है। यही समकालीन कविता की दशा, दिशा तथा दृष्टि है।

संपादक : नया परिदृश्य

गेट बाजार (एन.जे.पी.), पो. भक्तिनगर, सिलीगुड़ी-734007 (प. बंगाल), दूरभाष: 9434494430



## कविता और समकालीनता

सुधीर रंजन सिंह

कविता में यह समकालीनता का सबसे लम्बा दौर है। '70 के बाद से अभी तक-यानी आधी शताब्दी तक- सब समकालीनता के दायरे में दिखाई पड़ता है। दिखाई पड़ता है का मतलब है कि विभाजक रेखा तय नहीं हुई है। बद्रीनारायण ने आज से आठ-दस साल पहले 'लॉग नाइन्टीज़' की अवधारणा रखी थी, जिसमें मोटे तौर पर समकाल सोवियत संघ के पतन के बाद से शुरू होता है और जो संभवतः अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। बद्री इतिहासकार हैं। ज़रूरी नहीं कि ऐतिहासिक परिवर्तन की गति से कविता में परिवर्तन आए। कविता का मामला अलग चलता है और कभी-कभी उलटा भी। संभव है कि किसी को आज की कविता में नई कविता की प्रवृत्तियाँ प्रबल दिखाई पड़े। मैं उस तर्क में नहीं पड़ना चाह रहा। उसकी ज़रूरत ही नहीं है, क्योंकि कविता अपनी प्रवृत्तियों से बहुत पीछे तक जा सकती है। शायद यह उसके कविता होने की शर्त में शामिल है। इसके ठीक उलटा भी हो सकता है। एक ही कवि की दो कविताएँ आपस में समकालीन नहीं हों।

मैं कवि हूँ। मैं चाहता हूँ-चाहता हूँ, कर पाता हूँ या नहीं, यह अलग सवाल है-जो कविता लिखूँ, उसके समय को वहीं समाप्त कर दूँ, और दूसरे समय में प्रवेश कर जाऊँ। दूसरे समय की कविता लिखूँ, जिसमें पिछले के हावी होने से अपने को बचा ले जाऊँ। दूसरी ओर चाहता हूँ-चाहता हूँ और यह करने के लिए हमारे समय के कवि बदनाम हैं-अपने समय के दूसरे कवियों की कविताओं की बहुत-सी बातें मेरे कविताओं में भी दिखाई पड़े। अगर हम यह नहीं कर पाते तो एकांत के तो कवि हो सकते हैं, लेकिन समाज के कवि होने में थोड़ी मुश्किल हो सकती है। मैं एकांत और समाज, दोनों का कवि होना चाहता हूँ। अपनी समकालीनता को भी मैं इसी रूप में पहचानने की कोशिश करता हूँ।

मोटे तौर पर, यानी विधेयवादी दृष्टि से, तीस-चालीस साल की हमारी कविताएँ समकालीन हो सकती हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं के चिह्न एक-दूसरे में खोजे जा सकते हैं। ऐसा होना ही चाहिए। जिस समय में हम साँस ले रहे हैं, उसका अस्तित्व शब्द में भी होना चाहिए। शब्द यानी भाषा। भाषा में अगर समकालीनता के संकेत दिखाई देते हैं तो यह महत्वपूर्ण बात है। भाषा यानी समग्र रूप से कला में-बिम्ब, प्रतीक सबमें। सबको मिलाकर जो काव्यभाषा बनती

है, उसमें। यह काव्यभाषा ही है, जो एक साथ समकालीन बनाती है और सर्वकालिक भी।

काव्यभाषा में बहुत शक्ति है। इसमें अस्तित्व का स्फोट होता है, काल घटित होता है। दूसरे शब्दों में इतिहास फलीभूत होता है। इतिहास के द्वन्द्वात्मक संघर्ष की संरचना की सफल खोज काव्यभाषा में संभव है। काव्यभाषा का बदलाव बड़े बदलाव का संकेत है और पहचान भी। काव्यभाषा में बदलाव स्वयं में एक बड़ी घटना है। काल बनता कैसे है? किसी घटना से न! निराला की प्रसिद्ध कविता है 'तोड़ती पत्थर'। मैंने अपनी एक कविता ('सड़क सुन्दर' कविता) में इस कविता की इस प्रकार नोटिस ली है-

*इलाहाबाद के पथ पर*

*नहीं छायादार पेड़ देखा निराला ने जिस दिन  
वह कविता के एक आन्दोलन के ख़त्म होने का  
दिन था।*

'तोड़ती पत्थर' कविता के इतिहास में एक घटना थी। सुमित्रानंदन पंत का पहला संग्रह 'पल्लव' एक घटना था। इनसे नया काल शुरू हुआ। नई घटना से नया काल शुरू होता है। हर नया काल पिछले और आने वाले काल के बीच संक्राति का युग होता है। बीच की कड़ी। इसे उतार-चढ़ाव के रूप में नहीं देखा जा सकता है। उतार-चढ़ाव के साथ-साथ चलने वाली क्रियाएँ हैं। अगर केवल चढ़ाव ही चढ़ाव हो तो हम एक निष्क्रियता के बिन्दु पर पहुँच जाएँगे; और उतार ही उतार हुआ क्रियाहीनता को प्राप्त कर लेंगे। इसलिए संघर्ष हमेशा बना रहना चाहिए। असली बात है संघर्ष-संघर्ष का बने रहना।

कवि का अकेलापन भी एक संघर्ष है। उस अकेलेपन की कविता विशेष घटना का संकेत करती है। मायकोव्स्की का लेख है 'हाऊ आर वर्सेज टू बी मेड'। उसमें एक काव्य पंक्ति आती है-'मैं अकेला चलता हूँ/ कुहासे से भरी सड़क पर'। कुहासे से भरी सड़क पर कवि का अकेला चलना एक घटना है।

मायकोव्स्की कहते हैं कवि को अकेला नहीं चलना चाहिए। उसके साथ लड़कियाँ भी होनी चाहिए। प्रगतिवाद का कवि कहता है- कवि के साथ जुलूस होना चाहिए। मैं कहूँगा कि कम से कम दोस्त-यार तो होने ही चाहिए। हम आन्दोलनों के अभाव के युग में जी रहे हैं। दोस्ती-यारी की दुनिया घट रही है, उस युग में जी रहे हैं। अगर हमारी कविता से यह ध्वनि निकलती है तो निश्चित ही हम समकालीन हैं। आज हम खाली कनस्तर बजाकर समकालीन नहीं हो सकते। इसी से जुड़ी बात है कि प्रयोगवाद और नई कविता के युग में दबाव कविता पर था, नया करने का; आज की कविता का दायित्व है कि वह समय और समाज पर दबाव बनाए। आज की कविता कितने भी हाशिए पर चली गई हो, इस दबाव से हम मुक्त नहीं हो सकते।

आज हम अकेला हुए हैं, निहत्था नहीं हुए हैं। अकेला होना अभिशाप है, जिसे कवि वरदान में बदल सकता है। 'अकेला' होने में एक ताक़त है। एकांतिकता सृजन का बल है। मैं एक रूपक गढ़ने की इज़ाजत चाहूँगा। समय एक फल है। उसके बीच में सृजन-कर्म का बीज है-अपने प्रयासों में लगा हुआ। बीज उसी फल को नष्ट करने की इच्छा करता है जो उसकी रक्षा कर रहा है। फल जब नष्ट हो जाता है और बीज बाहर आता है तभी वह नई सृष्टि करने में सक्षम होता, नया समय गढ़ने में सफल होता है। बीज का जो प्रयास है, उसी प्रकार का प्रयास हमें नया काल गढ़ने में समर्थ बनाता है। यह सिलसिला है जिसके भीतर हमारा संघर्ष, हमारी सृजना-शक्ति हमें समकालीन बनाती है।

हमारा संघर्ष दोहरा है। पीछे मैंने कहा कि मैं एकांत और समाज, दोनों का कवि होना चाहता हूँ। उसी को दूसरी भाषा में कहूँ-आत्मसंघर्ष और जीवन-संघर्ष, दोनों का कवि होना चाहता हूँ। एकांतिक संघर्ष और सामाजिक संघर्ष, दोनों का। हिन्दी में निराला दोनों का सबसे बड़े कवि हैं। 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज स्मृति', दोनों प्रकार के संघर्षों का मिलन

बिन्दु हैं। मुक्तिबोध में आत्मसंघर्ष प्रबल है, लेकिन उनका बाहरी संघर्ष कोई कम नहीं है। जो कवि कहता है, 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे/ तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब', उसके बारे में क्या कहेंगे! अज्ञेय और शमशेर में भी आत्मचेतना और समाज-चेतना के उच्च मिलन-बिन्दु दिखाई पड़ते हैं। और क्यों नहीं, दोनों कवि काल से टकराने का माद्दा रखते हैं। शमशेर का संग्रह है 'काल तुझसे होड़ है मेरी' : *जीवन वैभव से समन्वित/ व्यक्ति मैं/ मैं, जो वह हरेक हूँ/ जो, मुझसे, ओ काल, परे है।*

'जीवन वैभव से समन्वित' से लगता है कि इसमें सब सुख ही सुख है, लेकिन ऐसा नहीं है। 'वैभव' के भीतर दुख और दैन्यता भी है। किसी एक की नहीं, हरेक की। बहरहाल, कविता बड़ी व्याख्या की माँग करती है। अज्ञेय में आत्ममुग्धता ज़्यादा है, लेकिन समय से सामना की शक्ति है, और यही कवि की साधना है। कविता है 'काल की गदा' :- *काल की गदा / एक दिन/ मुझ पर गिरेगी / गदा/ मुझे नहीं नायेगी : / पर उसके गिरने की नीरव/ छोटी-सी ध्वनि / क्या काल को सुहाएगी?*

निराला, मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर काव्याभिव्यक्ति के सर्वोच्च बिन्दु की रचना करते हैं। समकालीनता और शाश्वतता का प्रश्न वहाँ समाप्त हो जाता है। काव्याभिव्यक्ति के उस बिन्दु को प्राप्त करने की ज़रूरत है, जो समकालीन बनाती है और सर्वकालिक भी।

इतने सारे 20वीं शताब्दी के कवियों का नाम लिया तो नागार्जुन को क्यों छोड़ दें? नागार्जुन की समकालीनता लोकतांत्रिक दबाव बनाने में है। जब तक लोकतंत्र रहेगा नागार्जुन की कविता की समकालीनता बनी रहेगी। मैंने लिखा है नागार्जुन लड़ते लोकतंत्र के लिए थे, लेकिन कबीर के समान वाणी के डिक्टेटर थे। लोकतांत्रिक आन्दोलनों के दबाव बनाने की राजनीति के जितने करतब हो सकते हैं, नागार्जुन ने उससे ज़्यादा

करतब दिखाए। भाषा के महाखिलाड़ी थे।

हम राजनीति से घिरे हुए हैं, सामाजिक जीवन जी रहे हैं, आर्थिक सत्ता के बोझ के नीचे दबे हुए हैं। इन सबके बीच हमारी जो क्रिया-प्रतिक्रिया है और जिसके कारण हम समकालीन हैं, काव्याभिव्यक्ति के स्तर पर हमारी समकालीनता ठीक-ठीक वैसी नहीं है। भाषा बहुत गहराई में जाकर खेल खेलती है। दूसरी ओर, भाषा की अपनी अपूर्णता भी है, जिसकी क्षतिपूर्ति भी हम बार-बार भाषा से ही करने की कोशिश करते हैं। इसलिए कविता में समकालीनता का प्रश्न वही नहीं है, जो जीवन के अन्य क्षेत्रों में है। कवि की भाषा और उसके अनुभव के तनाव के बीच समकालीनता को देखना सही तरीका हो सकता है।

हमने पीछे कहा है कि काल बनता है घटना से। घटना समय को आकार देती है। घटित समय स्मृति को आकार देता है। स्मृतिबद्ध समय कविता का वज़नदार विषय है। स्मृति का अर्थ यह नहीं है कि आँखें मूँद कर हम कुछ न कुछ याद करते रहें। कविता में स्मृति को संघर्ष से अर्जित किया जाता है। उसे शब्दबद्ध करने की ज़रूरत होती है। स्मृति के इस रूपान्तरण का सफलतापूर्वक निर्वाह अच्छी कविता की शर्तों में शामिल है। इसी बात से कविता के भीतर कवि-व्यक्तित्व उभर कर आता है। शब्दबद्ध स्मृति में दिखाई पड़ता है कि यहाँ कवि रहता है।

प्रश्न है हमारे समय की स्मृति-हमारे समकाल की स्मृति, हमारे समय के कवियों की स्मृति कितनी ताक़तवर है? यह एक ऐसा समय है, जिसमें हमारी स्मृति पर चोट किया जा रहा है, उसे विकृत करने की कोशिश की जा रही है। शताब्दी के अंत में जो स्वप्न भंग हुआ, उसके बाद स्मृतियों पर हमले ने जोर पकड़ा। कुमार अम्बुज की एक कविता है 'याददाश्त'। यहाँ याद करने योग्य है :- *आ रहे हैं जो आक्रमणकारी वे मुझ पर नहीं / हमला करना चाहते हैं मेरी याददाश्त पर/ जानते हैं वे जब तक मेरे पास है स्मृति/ मुझे याद रहेगा वह सब जो*

सुन्दर है / याद रहेगा यातनाओं का एक-एक क्षण/  
बार-बार मेरे सामने होगा मेरा इतिहास/ जब तक  
धोखा न देगी याददाश्त / मुझे याद रहेगी मेरी ताकत  
मेरी पराजय/ याद रहेंगे मुझे मेरे लड़ने के औज़ार  
(क्रूरता)

यह कविता 1995 से पहले की है। कवि को अपनी स्मृति बचाने की चिन्ता है। चिन्ता वाजिब है। आक्रमण इतना गहरा है कि आगे के वर्षों में मुझे चिन्ता होने लगी- कल, उसके अगले दिन/ या कुछ और समय के बाद/ दिन लगता है ऐसा आए/ मेरी देहरी से आगे/ नहीं पहचाने मुझे कोई। (शायद)

कवि को चिन्ता करनी चाहिए। उसे हारना नहीं चाहिए। फैसिलेशन किसी भी परिस्थिति में बना रहना चाहिए। 'समकाल' से काम न चले तो अपने बचपन में चले जाइए। हमारा बचपन हमें मोहित करता है, क्योंकि बचपन काल है मोहित करने का। मिथक मानवता का बचपन हैं, उसमें जाइए। वे हमारी कविता की सामग्री के अक्षय स्रोत हैं। उनमें हमारे दुख और आह्लाद हैं। उन्हें नया बनाकर-समकालीन बनाकर-हम निरन्तर लिखते रख सकते हैं। इससे भाषा भी आश्चर्यजनक रूप से सर्जनात्मक होगी। हम अतीत और भविष्य के मिलन-बिन्दु पर खड़े होंगे। और हम पर किसी चीज़ का दबाव है तो वह है अंतःप्रेरणा का। हम मानकर चलते हैं कि 'हम कुछ नहीं जानते' (जैसा कि शिंबोस्का ने अपने भाषण में कहा है), लेकिन हमारी कविता की प्रकृति है, आगे हो या पीछे, अनंत की यात्रा की। असल में हमारे मस्तिष्क की ही यह प्रकृति है।

कविता लिखते हुए, व्यावहारिक बात यह है कि मेरा ध्यान काल पर नहीं जाता; लेकिन लिखने के बाद, खासकर उसके प्रकाशित रूप में, उसे पढ़ते हुए अपने समय के चिह्न उसमें ढूँढ़ने की कोशिश करता हूँ। अगर

मेरी कविता गढ़ाऊ-जड़ाऊ नहीं है, स्टिरियोटाइप नहीं है, नाप-तौल कर नहीं लिखी गई है तो उसमें सर्जना के विभिन्न स्तरों पर समकाल प्रकट होगा।

कविता समकालीन होती है या नहीं, इस प्रश्न को ज्यों का त्यों छोड़कर मैं कहना चाहता हूँ, कविता का अर्थ समकालीन होता है। अर्थ सामाजिक वस्तु है। निजी सम्पत्ति नहीं है। कोई भी समाज अपने हिसाब से अर्थ करता है। जो समाज जैसा होता है, जैसी उसकी प्रकृति है, अर्थ की प्रकृति भी उसी के अनुरूप होगी। किसी कविता की अपने समय में जैसी महत्ता रही होगी, हमारे समय में भी वह वैसी महत्ता प्राप्त कर सकती है (और प्राप्त नहीं भी कर सकती है), लेकिन उसका वही अर्थ नहीं होगा, अपने समय में जो उसका अर्थ रहा होगा। इसी बात में कविता के अध्ययन-मनन की सार्थकता है।

हम अपने युग की बात करें। यह क्रांति का युग नहीं है। यह आशावाद का युग नहीं है। लेकिन निराशावाद का युग भी नहीं है। यह, हमारी समझ से, संघर्ष की ऊर्जा को बचाए रखने का युग है। सौ बुराइयाँ होंगी इस युग में, लेकिन कुछ तो सुन्दर है। जैसे हम लिखते हैं, यही बात सुन्दर है। मैं लिख रहा हूँ। मेरे पीछे के लोग लिख रहे हैं। मेरे आगे के लोग लिख रहे हैं। उनके आगे के लोगों ने लिखना शुरू कर दिया है। हमारी तीस-चालीस साल की समकालीनता तो है ही। चालीस साल तक की भी समकालीनता हो तो उसमें कोई हर्ज नहीं। इतने के हम अधिकारी हो ही सकते हैं। हमें इस विश्वास से लिखना चाहिए कि इससे पहले यह नहीं लिखी गई थी और इसके बाद नहीं लिखी जाएगी। बाकी प्रश्न बाद का है।

बेंगलुरु पोइट्री फेस्टिवल 2019 में कविता-कार्यशाला के अन्तर्गत दिए गए व्याख्यान का संशोधित रूप।

65, शुभालय विला, पिपलानी, भोपाल-462022, मो.:-09406542866

Email : singhranjansudhir@gmail.com



## समकालीन कवियों की समसामयिक दृष्टि

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल

समकालीन कविता की शुरुआत कब से मानी जाए इसे लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। अधिकांश विद्वान 1960 के बाद की काव्यधारा को समकालीन काव्य धारा मानते हैं। क्योंकि इस काव्यधारा में नवीन जीवन-दर्शन के चित्र सामने आते हैं। डा. रामदरश मिश्र कहते हैं-“मेरी स्पष्ट धारणा है कि सन 1960 के बाद कविता में जो स्वर उभरे हैं, वह नई कविता के बीज रूप में विद्यमान रहे हैं। नई कविता से सर्वथाविच्छिन्न विरोधी स्वर में उनकी व्याख्या नहीं हो सकती जैसा कि अकविता वाले करते हैं। 1960 के बाद कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ तौर पर उभरा है। नई कविता में भी यह स्वर विद्यमान है।...किंतु साठ के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है।”

इस कविता में मुख्य रूप से साधारणजन की वेदना, उसकी मनोस्थिति, समसामयिक परिस्थितियों के प्रति विद्रोह आदि भावों को काव्य का विषय बनाया जाने लगा। कविता में नए-नए स्तर पर परिवर्तन देखने को मिलने लगे। इस कविता में बगावती सुर अधिक थे। यही कारण है कि अनेक विद्वान इसे ‘विद्रोही कविता’ भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसे साठोत्तरी कविता का भी नाम देते हैं। डा. गोविंद रजनीश के शब्दों में-“साठोत्तरी कविता जिसका वास्तविक प्रारंभ सन 1962 की चीनी आक्रमण के पश्चात हुआ, एक ऐसी धारा है जहां से हिंदी कविता ने नया मोड़ लिया। वह मोड़ तथ्य के नवीनतम रुझान तथा समय की भाषा और मुहावरों के रुझान से संपृक्त था।”<sup>2</sup>

आजादी के बाद देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों ने देश को पूरी तरह से आश्चर्यचकित कर दिया। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के प्रगतिशील चिंतन का भी मोह भंग हुआ, जब भारत को चीन से करारी हार का सामना करना पड़ा। जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु, लाल बहादुर शास्त्री का सत्ता में आना, देश की बिगड़ती आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का सामना करना, उनकी मृत्यु के बाद इंदिरा गांधी का सत्ता में प्रवेश होना, प्रथम बार भारतीय रुपए का अवमूल्यन होना आदि ऐसी विभिन्न घटनाएं समकालीन कविता को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करती हैं और इस परिवेश के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करती है।

अपने युग के परिवेश को वाणी देना प्रत्येक युग के कवि का मुख्य कर्म होता है। प्रत्येक युग का कवि अपने पूर्व के कवियों से अपने युग के प्रति अधिक सजग और सतर्क दिखाई देता है। वह अपनी समसामयिक परिस्थितियों से पूरी तरह से प्रभावित होता है और तत्कालीन घटनाक्रम को वह अपनी रचनाओं से वाणी प्रदान करता है। डा. ब्रजनाथ गर्ग इस संबंध में कहते हैं-“आज की कविता की बात करते हुए हमें स्वनामधन्य, जाने- माने कवियों के साथ-साथ नये और उभरते हुए कवियों की कविताओं को भी दृष्टि में रखना होगा, क्योंकि ये लोग आज की समस्या बहुल जीवन के विभिन्न पक्षों, आयामों और संवेदनाओं को अपनी कविता का विषय बनाकर एक ओर अपनी रचना प्रक्रिया का परिचय दे रहे थे, तो दूसरी ओर आज की कविता को बंधे हुए घेरों से निकालकर जीवन और समाज के बहुरूपीय संघर्ष की अभिव्यक्ति द्वारा उसे तीव्र गति से जीवन की समतल भूमि की ओर अग्रसर कर रहे हैं।”<sup>3</sup>

समकालीन कविता में अनेक कवि अपने पुराने वादों एवं धाराओं से कटते नजर आते हैं। वे काल्पनिक सरोकारों की छटपटाहट से त्रस्त होकर वर्तमान परिस्थितियों के साथ सुर मिलाते हुए दिखते हैं।

समकालीन कविता के कवियों को चार दशकों में बांट कर देखा जा सकता है जो अपनी युगीन परिस्थितियों के बीच काव्य सृजन करते रहे।

सातवें दशक के कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, कैलाश वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिंह, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, दूधनाथ सिंह, राजीव सक्सेना, रघुवीर सहाय, रामदरश मिश्र आदि आते हैं जो उस समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित रहे हैं-जैसे 1962 का चीन के साथ भारत का युद्ध, 1964 ईस्वी में नेहरू जी की मृत्यु, 1967 के आम चुनाव, कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन आदि अनेक घटनाएं कवियों की

मानसिकता को प्रभावित करती हैं और साहित्य के लिए प्रेरित करती हैं। इस दशक में कविता की दो धाराएं चलीं। एक ‘अकविता’ दूसरी ‘प्रगतिशील-काव्यधारा’। ‘अकविता’ धारा अत्यंत प्रचलित हुई। किस धारा के प्रवर्तक गिंसबर्ग थे। उन्होंने मानव के अनुभवों को यथावत प्रस्तुत करने की सलाह दी है और उसमें बनावटीपन को सिरे से नकार दिया है। इस युग में युगीन समस्याओं पर विशेष बल दिया गया है।

आठवें दशक की कविताओं के कवियों में धूमिल, नरेंद्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, नागार्जुन, केदारनाथ सिंह, जगदीश चतुर्वेदी, सोहन शर्मा आदि आते हैं। इस युग में व्यंग्य के माध्यम से कवियों ने जनता के मनोभावों को दर्शाने का प्रयास किया है और समाज को जागरूक करने में अपनी पूर्ण भूमिका निभाई है।

नवम दशक के कवियों में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दूधनाथ सिंह, अरुण कमल, राजेश जोशी, सुरेंद्र तिवारी, उदय प्रकाश, विष्णु प्रभा, रामकुमार गुप्त, भागवत शरण अग्रवाल, नीरज ठाकुर, ऋतुराज, मलय आदि आते हैं। इस युग में घटित घटनाओं जैसे इंदिरा गांधी की हत्या, आतंकवाद, सत्ता परिवर्तन, मंडल आयोग जैसी अनेक ज्वलंत घटनाओं ने जनमानस को अत्यंत प्रभावित किया। जगह-जगह सांप्रदायिकता और हिंसा की स्थिति सामने आई। राजनीति को नए सिरे से समझने की आवश्यकता महसूस हुई। कवि भी अपने को इससे अछूता न रख सका।

दसवें दशक के कवियों में भारत यायावर, सोहन शर्मा, मंगलेश डबराल, केदारनाथ सिंह, रमणिका गुप्ता, निशा निशांत, सुनील जैन आदि अनेक कवि आते हैं। इन कवियों की कविताओं में समसामयिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

संक्षेप में हम कुछ समकालीन कवियों की समसामयिक दृष्टि को इस प्रकार देख सकते हैं-

चंद्रकांत देवताले व्यवस्था में परिवर्तन के लिए सामूहिक विरोध का आह्वान करते हैं। वे कहते हैं-

“उठो और अपनी हड्डियों को बजाना शुरू कर दो/ भूखंड तप कर भट्टी बन रहा है/ तन कर सीधे खड़े हो जाओ/ और कहो नहीं/ बहुत हो चुका ‘अब और नहीं’ एकदम नहीं/ इस नहीं की आंधी में उड़ने लगेंगे/ तमाम कागजों के पुलिन्दे, वर्दियों/ सुभाषित वाक्य और कुर्सियां।”<sup>4</sup>

रघुवीर सहाय की ‘एक था समय’ शीर्षक कविता में तत्कालीन समाज की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है “एक भयानक चुप्पी छाई है समाज पर शोर बहुत है पर सच्चाई से कतरा कर गुजर रहा है एक भयानक एका बांधे है समाज को कुछ ना बदलने के समझौते का है एका।”<sup>5</sup>

लीलाधर जगूड़ी समाज को बदलने की चाह रखते हैं। वे तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति क्षुब्ध हैं और इसका चित्रण उन्होंने ‘नाटक जारी है’ में किया है।

“मेरे दिमाग पर सवार यह वह आदमी नहीं है जिसने तुम्हें आजादी के बाद का चक्रमा दिया और नक्शा बदलने का महकमा दिया।”<sup>6</sup>

जगूड़ी जी अपने परिवेश से कभी भी कट नहीं पाते हैं। वह निरंतर उससे प्रभावित होकर रचनाएं लिखते हैं। वे वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था से भी जुड़ते हैं—

“और लेकिन वे जब फायर करेंगे तो यह तय है कि इस बार कौवे नहीं मरेंगे।”<sup>7</sup>

जगूड़ी की कविता के बारे में नरेंद्र सिंह कहते हैं—“जगूड़ी की कविताएं नए विपक्ष की कविताएं हैं, जो इस व्यवस्था में आज के भारतीय मनुष्यों की करुणा का पुनराविष्कार या उसकी तलाश में विचार के स्तर पर निर्भयता की हद से गुजरती हुई शिल्प के उद्रेक को सजीव नाटकीयता में अर्थान्तरित कर देती है। अपने समय की गहरी हिस्सेदारी यानी संबंधों की भिड़ंत में जूझती जीवन और अनुभव को तीखी और विचलित कर देने वाली भाषा से जोड़कर पेट और

प्रजातंत्र के बोध दरार की तरह पड़े आदमी को भी ये कविताएं प्रस्तुत करती हैं। ये कविताएं समाज की कामना करती लगती हैं।”<sup>8</sup>

धूमिल ‘साठोत्तरी पीढ़ी के मोहभंग कवि’ कहे जाते हैं। इनकी कविताओं में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि व्यवस्थाओं के प्रति तीव्र आक्रोश देखने को मिलता है। इनकी कविताएं समसामयिक समाज की एक ज्वलंत तस्वीर हमारे सामने उपस्थित करती हैं—

“एक आदमी रोटी बेलता है

एक आदमी रोटी खाता है

एक तीसरा आदमी भी है जो न रोटी बेलता है, ना रोटी खाता है

वह सिर्फ रोटी से खेलता है/ मैं पूछता हूं-‘वह तीसरा आदमी कौन है? मेरे देश की संसद मौन है।’<sup>9</sup>

कवि की लड़ाई निरंतर शोषकों के विरोध और शोषितों के समर्थन में है। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें शोषितों का भी समान अधिकार हो।

“कल सुनना मुझे

जब दूध के पौधे पर झड़ रहे हो सफेद फूल

निःशब्द पीते हुए बच्चे की जुबान पर

और रोटी खाई जा रही हो चौके में

गोشت के साथ जब

खटकर(कमाकर) खाने की खुशी परिवार और भाईचारे में

बदल रही हो- कल सुनना मुझे।

आज मैं लड़ रहा हूं।”<sup>10</sup>

धूमिल सदियों से उपेक्षित सर्वहारा वर्ग, गरीब, मजदूर आदि को जागृत करने का प्रयास करते हैं। उनका ऐसा मानना है कि जब तक ये वर्ग संगठित होकर भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ खड़े नहीं होंगे, तब तक उनको उनके अधिकारों की प्राप्ति नहीं होगी। अगर उन्हें इस समाज में अपने अधिकारों की प्राप्ति

करनी है तो सबसे पहले उन्हें एकजुट होकर इस दिशा में कदम बढ़ाना होगा।

“इसलिए उठो और अपने भीतर  
सोए हुए जंगल को आवाज दो  
उसे जगाओ और देखो  
कि तुम अकेले नहीं हो  
और न किसी के मोहताज हो  
लाखों हैं जो तुम्हारे इंतजार में खड़े हैं  
वहां चलो उनका साथ दो  
और इस तिलिस्म का जादू उतारने में  
उनकी मदद करो और साबित करो  
कि वह सारी चीजें अंधी हो गई हैं  
जिनमें तुम शरीक नहीं हो।”<sup>11</sup>

मंगलेश डबराल भी समकालीन कविता के एक सशक्त कवि माने जाते हैं। वे एक जन कवि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, जो सामान्य जन की वेदना दुख और कष्टों को अपनी रचनाओं के माध्यम से सजीवता प्रदान करते हैं। ‘पहाड़ पर लालटेन’ नामक कविता में वे एक दुखी पिता की मनोस्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

“दिन गएलकड़ी ढोकर मां आग जलाती है  
पिता डाकखाने में चिट्ठी का इंतजार करके  
लौटते हैं हाथ-पांव में  
दर्द की शिकायत के साथ  
रात में जब घर कांपता है  
पिता सोचते हैं जब मैं नहीं हूँगा  
क्या होगा इस घर का।”<sup>12</sup>

विरोध और विद्रोह मुक्तिबोध की कविता का मुख्य स्वर है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में फेंटेसी के माध्यम से मानव जीवन की पीड़ा को उपस्थित किया है। साथ-ही-साथ उन्होंने शोषक वर्गों के प्रति करारा व्यंग्य भी किया है। मुक्तिबोध का दृष्टिकोण यथार्थवादी था, जिसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का

चित्रण किया है।

मुक्तिबोध जी सामाजिक, आर्थिक समता के पक्षधर हैं। उनका यह मानना है कि जब तक शोषक और शोषित का भेद समाप्त नहीं होगा, तब तक समाज में खुशहाली का आना असंभव है। वे कहते हैं—

“पिसा गया वह भीतरी  
और बाहरी दो कठिन पाटों के बीच  
कैसी ट्रेजेडी है नीच।”<sup>13</sup>

मुक्तिबोध ने समकालीन कविता के लिए भी नए आयाम बनाने की कोशिश की है। उन्होंने यथार्थ को जीवन से जोड़कर मानव को नया संदेश दिया है। उनके संबंध में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा है—“दरअसल मुक्तिबोध की कविता ने कविता की मान्यता बदल दी। उनकी कविता प्रचलित काव्य परिपाटी का ध्वंस करती है और कहना न होगा कि उनके बाद की कविता ने उनके मुहावरे और तेवर का अधिकतम अनुकरण किया है। आज जो आलोचक मुक्तिबोध के काव्य को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या रहस्यवादी कटघरे में रखकर जांचना-परखना चाहते हैं उन्हें समझना चाहिए कि वे इनमें फिट नहीं बैठते। वे पूंजीवादी व्यवस्था का जितना विरोध करते हैं उतना ही मनुष्य को दबाने वाली तानाशाही सत्ता का भी। वे मनुष्य के भीतरी सत्य को विवेक, संकल्प और अनुभव-सत्य को भी बराबर रेखांकित करते हैं।”<sup>14</sup>

राजेश जोशी ने छोटे-छोटे विषयों को लेकर अत्यंत गंभीरता के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है। वे समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते हैं। उनका मानना है कि समाज में बदलाव के लिए क्रांति आवश्यक है। इसे वे ‘एक दिन बोलेंगे पेड़’ नामक कविता के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

“देख चिड़िया उस हाथ को देख/ जो दिखते  
दिखते अचानक/ सलाखों में बदल जाती है/ इन सबसे  
निपटने को/ काफी नहीं है/ पंख होना या सीख लेना  
उड़ना/ बारूद के रंग वाली चिड़िया/ बारूद का सुभाव

भी सीख/ उड़ना गाना/ तो, ठीक / ताव खाना भी सीख।”<sup>15</sup>

‘एक दिन बोलेंगे पेड़’ समकालीन कविता के कवियों एवं कवयित्रियों ने नारी की स्थिति पर भी विचार किया है क्योंकि वह भी समाज का एक अभिन्न अंग है वह एक पुत्री पत्नी होने के साथ-साथ एक मां भी है जिसे कभी-कभी अपने बच्चों के लिए अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। अपने जीवन भर के जमा किए हुए रुपयों को उसे अपनी संतानों पर लुटाना पड़ता है। उसकी स्थिति दयनीय तब हो जाती है, जब इतना करने के बाद भी उसके पुत्र उसे शक की दृष्टि से देखते हैं। इन सब स्थितियों का चित्रण समकालीन कविता की एक सशक्त कवयित्री सुनीता जैन ने ‘चौखट पर व उठो माधवी’ नामक अपनी कविता में किया है—“मां नहीं डरती/ अपनी भूख या उम्र से/ वह डरती है अपने ही बेटे के/ सखा पड़ गए मुख से/ अगली दफे जब/ वह मांगेगा कुछ रुपए/ दो या पांच हजार/ कैसे कहेगी तब/ कि कुछ भी नहीं है उसके पास / मां डरती है अपने ही/ बेटे के बढ़ते शक से।”<sup>16</sup>

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि समकालीन कविता जीवन यथार्थ को दर्शाने वाली कविता है। समकालीन कविता का कवि न केवल तत्कालीन समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, बल्कि उन समस्याओं के समाधान हेतु अपना विचार भी प्रकट करता है। यही कारण है कि समकालीन कविता का हिंदी साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। इस संबंध में केदारनाथ सिंह जी का मत है—“स्वाधीनता के ठीक बाद का समय एक नई उठान के साथ शुरू हुआ था, जिसमें थोड़ी-सी आशावादिता

भी थी और शायद एक हल्की-सी भविष्य की रोशनी भी। यह रोशनी क्रमशः धुंधली पड़ती गई है और फलतः आशावादिता भी न सिर्फ निरंतर क्षीण होती गई है, बल्कि उस पर लगातार मोहभंग के झटके भी लगते रहे हैं। मेरा मानना है कि इन पचास वर्षों के हिंदी साहित्य को देखा जाए, तो आरंभिक आशावादिता से निरंतर बढ़ते हुए मोहभंग के अनुभवों का वहां एक लंबा दस्तावेज मिल सकता है और इस मोह-भंग की अनेक रूपा अभिव्यक्तियां भी, जो कभी निराशा, कभी आक्रोश, कभी विद्रोह और कभी उदासी-अनेक रंगों में देखी जा सकती है।”<sup>17</sup>

### संदर्भ-ग्रंथ

1. अद्यतन हिंदी कविता, पृ. 9 भूमिका
2. अद्यतन हिंदी कविता पृ. 9
3. वर्तमान साहित्य-कविता विशेषांक, पृ. 356
4. चंद्रकांत देवताले, भूखंड तप रहा है, पृ. 82
5. सुरेश शर्मा संपादित, खुबीर सहाय-‘एक था समय’ राजकमल प्रकाशन, पृ. 26
6. लीलाधर जगूड़ी, ‘नाटक जारी है’, साक्षात्कार, पृ. 26
7. लीलाधर जगूड़ी, ‘बची हुई पृथ्वी’ पृ. 114
8. नरेंद्र सिंह, साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 205
9. धूमिल, ‘कल सुनना मुझे’, ‘रोटी और संसद’, पृ. 33
10. धूमिल, ‘कल सुनना मुझे’, ‘आज मैं लड़ रहा हूँ’, पृ. 69
11. धूमिल, ‘संसद से सड़क तक’, ‘पटकथा’, पृ. 127
12. मंगलेश डबराल, ‘पहाड़ पर लालटेन’, पृ. 17-18
13. मुक्तिबोध, ‘चांद का मुंह टेढ़ा है’, ‘ब्रह्मराक्षस’, पृ. 17
14. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, ‘दस्तावेज-9’, पृ. 30
15. राजेश जोशी, ‘एक दिन बोलेंगे पेड़’, पृ. 25
16. सुनीता जैन, ‘चौखट पर व उठो माधवी’, पृ. 12
17. केदारनाथ सिंह, ‘मेरे साक्षात्कार’, पृ. 19

प्राध्यापक, खड़गपुर कॉलेज, हिंदी विभाग, खड़गपुर, पश्चिम बंगाल

रवि स्वीट्, खरीदा फाटक बाजार, खड़गपुर, जिला-पश्चिम मेदिनीपुर, पश्चिम बंगाल, पिन-721301

मोबाइल नंबर-9932937094, ईमेल-agarwalparkash196@gmail.com



## ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की काव्य-संवेदना और दृष्टि

रामनिहाल गुंजन

कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण मेरे अच्छे मित्र हैं। वह ऐसे कवि मित्र हैं, जिससे मेरे सरोकार लगभग पचास साल से हैं। मैं उनकी कविताओं से जब भी गुजरता हूँ, मुझे हर बार नयापन उनमें महसूस होता है। वे मूलतः कवि हैं। उनका रचनारंभ 1960 के आस-पास हुआ था। वे अपनी कविताओं के प्रति इस हद तक निर्मम हैं कि वे लिखते समय उन पर काफी श्रम और समय लगाते हैं और उन्हें जल्दी रिलीज करना नहीं चाहते। यह विशेषता मुक्तिबोध में भी थी, जो अपनी कविताओं पर कभी-कभी छः माह या साल भर का समय व्यतीत करना जरूरी समझते थे। यह बात पाषाण जी के साथ वैसे पूरी-पूरी लागू नहीं होती, पर कविताओं के रचाव के दौरान जिस प्रक्रिया से होकर वे गुजरते हैं वह उन्हें मुक्तिबोध के निकट ला खड़ा करती है। यों पाषाण खुद भी एक जगह लिखते हैं या कहते हैं कि 'मुक्तिबोध के बाद मैं ही हूँ या नहीं, मगर मुक्तिबोध के पथ का अवश्य हूँ।' यही कारण है कि जब कोई लेखक या आलोचक मुक्तिबोध को नजरअंदाज या आलोचना करता है तो पाषाण उसके वर्गीय चरित्र के प्रति सशंकित नजर आते हैं। वे एक लेखक के दायित्व के प्रति भी उतने ही सतर्क दिखते हैं जब वे कहते हैं- "अपने दायित्व की पूर्ति का एहसास ही एक रचनाकार को आंतरिक सुख दे पाता है। जिस तरह तुलसीदास अशिव शक्तियों से लगातार जूझते हुए शिव शक्तियों को मजबूत करते हैं, उसी प्रकार अपनी छोटी सीमा में मैं भी जीवन की निम्नतम सुविधाओं से वंचित जनगण को बेहतर और न्यायमूलक जीवन हासिल करने में संवेदना के स्तर पर रचनाओं के द्वारा बल देना चाहता हूँ।" (धारदार शीशा, पृ. 161) वे अपनी आंतरिक इच्छा व्यक्त करते हुए एक जगह कहते हैं- 'पता नहीं क्या कर पाऊंगा, लेकिन तड़प रहा हूँ जरूर उन क्षणों के लिए जब एक बार फिर समाजवादी हिंदुस्तान का सपना साकार करने के लिए जूझ रहे लोगों के साथ कंधा लगा पाऊँ। कुछ ऐसा लिख भी पाऊँ, जो तथाकथित आलोचकों के लिए भले कुछ न ठहरे, लेकिन समझदार किसानों-मजदूरों को अपने हमसफर की आवाज लगे।' (उप. पृ. 167)

यह सही है कि पाषाण ने देश और समाज की बदली परिस्थितियों में अपने रचनाकार के दायित्व का निर्धारण करते हुए अपनी अंतिम दोनों कृतियों के जरिये मिथकों को आधार बनाने के बावजूद तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक

विसंगतियों को ध्यान में रखते हुए जो कुछ लिखा है उससे आज के यथार्थ का भी मेल देखा जा सकता है और उन प्रसंगों की सार्थकता एक हद तक प्रमाणित की जा सकती है। दूसरे, आज भी पाषाण के कवि-कर्म की यह मुख्य चिन्ता बनी हुई है कि “मुख्यधारा वह कैसे है जिसका जन जीवन से कोई रिश्ता ही नहीं है। जनधारा से छूटकर मुख्यधारा कैसे बन जायेगी कोई धारा? दुर्भाग्य यह है कि आज कम-से-कम हिंदी में मुख्यधारा जब कहा जाता है तो वही नाम आते हैं, जिनकी रचनाओं का कोई सरोकार धरती पर चल रहे आदमी से नहीं है।” (उप. पृ. 169) जाहिर है पाषाण के ये विचार उनकी वैचारिकता को भी पुष्ट करते हैं। इसी विचार-सरणी के तहत उनके इन विचार बिंदुओं को भी लक्षित किया जा सकता है-

1. ‘सयानापन सृजनशील साहित्य का शत्रु होता है और यह सयानापन रघुवीर सहाय में भरपूर है।’ (पृ. 170)

2. ‘रेणु और प्रेमचंद को भूलकर कथा के विकास की बात करना गलत है। कविता में तुलसी को छोड़कर बात करना गलत है।’ (पृ. 171)

3. ‘भक्तिकाल हिंदी साहित्य में एक नया प्रमाण है, क्योंकि वीरगाथा काल की तलवारों की झनझनाहट वहाँ नहीं है और न सत्ता से पुरस्कृत होने की तड़प, कुंभनदास, तुलसीदास और कबीरदास जैसे लोगों में है।’ (पृ. 170)

4. ‘गांधी और भगत सिंह के बारे में मैं बार-बार कहता हूँ कि मकसद भगत सिंह का हो, रास्ता गांधी का हो तो देश का निर्माण भी होगा। यह दुर्भाग्य होगा कि भगत सिंह के सपनों को गांधी के रास्ते से हम न प्राप्त कर पायें, क्योंकि तब भगत सिंह के स्वाभाविक पथ पर जाने की विवशता सामने होगी, जबकि आज समग्र दृष्टिकोण की जरूरत है।’ (पृ. 172)

5. ‘मेरे लिए आज भी डॉ. रामविलास शर्मा और कवि केदारनाथ अग्रवाल आदर्श हैं। आदर्श इसलिए

कि उनके यहाँ रचना और जीवन में कोई फांक नहीं है।’ (पृ. 174)

6. ‘गोरख पांडे, शलभ श्रीराम सिंह, अंशुतः आलोक धन्वा और गीतकार छविनाथ मिश्र की कविताएँ लोक प्रेरक भी बन सकती हैं।’ (पृ. 163)

7. ‘देश का दुर्भाग्य है- संपूर्ण संसदीय वाम का प्रमाद और वैचारिक स्तर पर देश की सही नब्ज न पकड़ पाना। आज भी मेरा विश्वास है कि वर्ग-संघर्ष की धार को धीमा करना और वर्ग-संघर्ष की विभीषिका को बढ़ावा देना एक साजिश है। बुनियादी परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी वाम शक्तियों का एका ही एकमात्र विकल्प है।’ (पृ. 163)

8. ‘जनता जो तमाम रचनाओं का स्रोत होती है, मेरे लिए आज भी उम्मीद और प्रेरणा का आधार बनी हुई है। मैं महाजनी सभ्यता के कहर से पीड़ित जनगण को बेहतरी का रास्ता सुझाने के लिए आज भी बेचैन हूँ।’ (पृ. 163)

कहने की आवश्यकता नहीं कि पाषाण अपने स्पष्ट और बेबाक विचारों के लिए जाने जाते हैं। उपर्युक्त बातों से यह साफ हो जाता है। दूसरे, उनके इन विचारों को उनके रचना-कर्म के निकष के रूप में भी देखा जाना चाहिए। उनके विचार इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपने जीवन को सिर्फ एक लेखक के रूप में ही नहीं जिया है, बल्कि उन्होंने जीवन में विचारधारा के महत्व को भी समझा है। वे इस अर्थ में कबीर के बाद मुक्तिबोध को अपना आदर्श मानते हैं। वे जन-चरित्र कविता की शुरुआत कबीर से मानते हैं और मुक्तिबोध में उसके गहरे अहसास का होना मानते हैं। यही कारण है कि उनका मानना है- ‘साहित्य में विचारधारा के महत्व की स्वीकृति मुक्तिबोध की बहुत बड़ी शक्ति थी।’ उनका यह भी मानना था कि “विचारधारा विहीन साहित्य की स्थिति उस विकलांग प्राणी की तरह होती है जो अस्तित्वमान होकर भी जिंदगी की अस्मिता के स्वाद का एहसास नहीं कर

पाता।' (खंडहर होते शहर के अंधेरे में, पृ. 7) इस दृष्टि से देखा जाय तो पाषाण वस्तुतः मुक्तिबोध के पथ के ही रचनाकार ठहरते हैं। मुक्तिबोध ने अपनी 'अंधेरे में' कविता में पूरे समाज और देश की धूमिल होती जा रही छवि को देख लिया था और पाषाण ने भी किसी-न-किसी रूप में अपने खंडहर होते शहर के अंधेरे का साक्षात्कार कर लिया है। दरअसल यह पाषाण ही हैं, जिन्हें फूल और सूरज में भी दुनिया को नफरत के अंधेरे से बाहर लाने की शक्ति का एहसास होता है, कारण कि वे कविता की ताकत को भी जानते हैं। उन्हें पता है कि कविता यानि- 'शब्द/समय लोग और लोग के बीच/सेतु होते हैं।' सच पूछें तो वे ही शब्द एक तरफ दुनिया से नफरत मिटाने में सहायक बनते हैं तो दूसरी तरफ उस दुनिया की तलाश करते हैं, जहाँ उसकी हिफाजत के लिए वे हाथ आगे आते हैं 'जो/गलाते हैं लोहा/तोड़ते हैं चट्टान/उगाते हैं अन्न/ धुनते हैं कपास/ बनाते हैं मकान।' इस प्रकार पाषाण का कवि, जो मानता है कि 'किसी भी शब्द का कोई भी पर्यायवाची नहीं होता' वह शब्दों की अहमियत को भी जानता है। उसे जब कभी कविता की चिंता होती है तब वह इस बात से आश्वस्त होता है कि उसका कविता हर हाल में धरती के दुख के लिए चिंतित होती है। और जब देश और समाज में देश की रक्षा, भूख और बेकारी तथा बलात्कार और भ्रष्टाचार की समस्याएँ विकट हो जाती हैं तब कविता ही उसका विरोध करने के लिए सामने आती है- देश की हिफाजत के लिए चिंतित प्रजा नफरत करती है / भूख और बेकारी, भ्रष्टाचार और बलात्कार का इलाज/ लाटरी और संविधान के फेर-बदल में ढूँढ़ने वाले राजा से/ मुनादी का मोर्चा संभालती है कविता।

(युद्ध-प्रसंग)

कहना न होगा कि पाषाण की कविताएँ अपने समय में अग्रगामी और परिवर्तनकारी चेतना के लिए चर्चा में रहीं। इनकी कविता-पुस्तकें- 'एक शीर्षकविहीन कविता और पाँच अन्य कविताएँ', 'बंदूक और नारे',

'मैं भी गुरिल्ला हूँ', 'कविता तोड़ती है', 'विसंगतियों के बीच', 'धूप के पंख', 'खंडहर होते शहर के अंधेरे में', 'बाल्मीकि की चिंता', 'चौराहे पर कृष्ण', 'ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की कुछ कविताएँ और 'पतझड़-पतझड़ वसंत' की समय-समय पर अपेक्षित चर्चाएँ भी होती रहीं। गौर करने की बात यह है कि उनके कविताओं पर लिखे लेखों का एक संग्रह 'धारदार शीशा' के नाम से वर्ष 2013 में प्रकाशित हुआ था, जिसके जरिये उनकी कविताओं पर नये सिरे से बातचीत शुरू हुई, ऐसा मानना असंगत न होगा। पिछले दिनों पाषाण जी की परवर्ती सत्रह कविताओं का एक संग्रह- 'सरगम के सुर साधे'(2018) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसकी भूमिका में पाषाण ने लिखा है- "कालचक्र में हमें नये सांस्कृतिक अभ्युदय की देहरी पर खड़ा कर दिया है। जो वैचारिक धुंधलका छाया हुआ है, उसकी गिरफ्त में प्रश्नों से विंधे-विंधे से फंसे हैं हम। व्यवस्था बदलने की शपथ लेकर चले थे जो सत्ता की अकड़न ने किंकर्तव्यता की स्थिति में पहुँचा दिया है उन्हें। ऐसे में एक नव्य सांस्कृतिक बोधोदय का आवाहन जिन रचनाकारों को करना है, उन्हें भ्रष्ट आचरण से श्रेष्ठ सृजन के मिथक को तोड़ना होगा। जाहिर है आज भी पाषाण श्रेष्ठ आचरण वाले रचनाकारों से ही श्रेष्ठ लेखन की अपेक्षा करते हैं और जैसे कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है, वे कई नामचीन राग दरबारी किस्म के लेखकों के प्रति अपना आलोचनात्मक रुख व्यक्त कर चुके हैं। उन्होंने अपने पूर्व प्रकाशित संग्रहों की अनेक कविताओं के जरिये जिस सभ्यता समीक्षा का परिचय दिया है, उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने इस संग्रह की कई कविताओं- 'सरगम के सुर साधे', 'एक हर्फनामा: मुक्तिबोध से जुड़ते हुए', 'मृत्युंजय', 'सुनामी', 'भूकंप', 'कवि वीरेन डंगवाल पर एक कविता', 'रैन भई चहुँ देस', आदि में जिनकी रचना 2010 से 2016 तक की अवधि में की गई है, अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-दृष्टि से प्रकृति और जीवन की सफलता की गहरी पड़ताल की

है।

‘सरगम के सुर साधे’ में संग्रहीत सबसे लंबी कविता है ‘पानीनामा’। इसमें जीवन के आरंभ से लेकर अंतिम क्षणों तक पानी के महत्व को लेकर विचार करते कवि का यह मानना है कि जल ही जीवन है और जल का संकट वास्तव में जीवन का संकट है, जबकि- जीवन/एक अनंत प्रवाह है पानी का।’ अतः उसका यह कथन कि- ‘पानी को बेपानी मत करो- इस रूप में व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेता है जब वह कहता है कि- ‘पानी ही प्रलय है/पानी ही सृजन/पानी ही उल्लास है/पानी ही क्रंदन।’ चूंकि पानी एक अनिवार्य और सर्वव्यापक तत्व है, जिसके महत्व को कविवर रहीम से लेकर ध्रुवदेव मिश्र पाषाण तक सबने स्वीकार किया है, इसलिए उक्त कविता में पाषाण मोती बी. ए., छविनाथ मिश्र, हरीश आदानी, केदारनाथ सिंह आदि कवियों को याद करते हुए उन्हें प्रश्नांकित भी करते हैं और लिखते हैं-काश! लिख पाते वे/ पानी के अभाव में सूखते कठों की पीड़ा/ पता नहीं/ सौरमंडल के किस सूरज का ताप/ सोख रहा है मानसरोवर को।

उल्लेखनीय है कि जिन दिनों ध्रुवदेव मिश्र पाषाण जीविका की तलाश में कलकत्ता आये थे, उन दिनों उनके संपर्क वहाँ के कई साहित्यकारों से हो चुके थे और वे कविताएँ भी लिख रहे थे। बाद में जब 1967 की कृषि-क्रांति का प्रारंभ हुआ तब उनकी कविता में सहसा परिवर्तन आया और वे क्रांतिधर्मी तथा परिवर्तनकारी भवावेग की कविताएँ लिखने लगे। यह सही है कि उस समय कलकत्ते के अन्य कई कवि उससे प्रभावित होकर क्रांतिधर्मी कविताएँ लिख रहे थे, जिनमें प्रमुख थे शलभ श्रीराम सिंह, शिवमंगल सिद्धांतकार, तड़ित कुमार, हरिहर द्विवेदी, उग्रसेन सिंह, कलिका प्रसाद सिंह, पन्नालाल, पंचदेव आदि। उसी समय कलकत्ता से डॉ. माहेश्वर के संपादन में ‘शुरुआत’ नामक एक काव्य-संग्रह का प्रकाशन हुआ था, जिसके भूमिका-लेखक हंसराज रहबर थे। बाद में उस संग्रह की

समीक्षा मैंने लिखी थी, जो संबोधन (राज.) के तत्कालीन अंक में प्रकाशित हुई। इस प्रकार देखा जाय तो उपर्युक्त कवियों ने अपने-अपने ढंग से क्रांतिधर्मी काव्यधारा को विकसित करने का ही काम किया। उस दौर में शलभ श्रीराम सिंह अपनी चर्चित कविताएँ- ‘किसान आ, मजदूर आ/ पतन के नौजवान आ’ तथा ‘नफस-नफस, कदम-कदम’ लिख रहे थे तो दूसरी शिवमंगल सिद्धांतकार की ये पंक्तियाँ- ‘हजारों-हजार साल के सीखचों को तोड़ते हुए/ वसंत के बादल जब बिजली उगलते हैं/ झुग्गी-झोपड़ियों की आँखें चमक पड़ती हैं’ उन्हीं कदनों लिखी गई थी। बाद में लिखी गई धूमिल की ‘नक्सलबाड़ी’ और ‘भाषा की रात’ जैसी कविताएँ भी उसी दौर की याद दिलाती हैं। उन्हीं दिनों ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की कविताएँ भी चर्चा में थी, जो बाद में कई संग्रहों में संकलित हुई। पाषाण की पहले की और इधर की कविताओं में प्रमुख हैं- ‘बंदूक और नारे’, ‘हवा बही गाँवों में’, ‘मनीषी मार्क्स’, ‘एक बच्चा-एक पोस्टर’, ‘हे मेरी तुम’, ‘खदेरन की माँ’, ‘हवेली’, ‘स्तनकटी औरत’, ‘हिंदुस्तानी होना’, ‘समय’, ‘नजीर मियाँ’, ‘कोलकाता’, ‘मुक्तिबोध से जुड़ते हुए’, ‘वीरेन डंगवाल’, ‘रेन भई चहुँ देस’ तथा ‘पानीनामा’। इन कविताओं से गुजरते हुए उनके ताप का गहराई से अहसास भी किया जा सकता है।

यों पाषाण की कविताओं के एक परवर्ती संग्रह ‘पतझड़-पतझड़ वसंत’ (2009) में उनकी 2000 से पहले की तथा 2009 के आस-पास की कविताएँ संकलित हैं। इन कविताओं से गुजरने पर जो एक बात सामने आती है वह है उनके काव्य संबंधी चिंतन के साथ-साथ जगत और जीवन संबंधी उनके विचारों में प्रौढ़ता और यही बात उनकी समग्र रचनाशीलता को एक प्रकार से सुनियोजित और प्रेरित करती है। पाषाण एक संवेदनशील कवि होने के नाते किसी विषय पर पूर्व चिंतन नहीं करते, वरन् सहसा जेहन में कौंध सी पैदा होने पर रचनारत होते हैं, जिसे स्वीकार करते हुए

एक साक्षात्कार के सिलसिले में उन्होंने कहा भी है- 'कौंध शब्द मेरी रचना-प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करता है।' यह सही है कि रचनाकार निजी जीवनानुभूतियों के बीच से ही अपने लिए विषय का चुनाव करता है और वह सहसा जेहन में कौंध जाता है जिस प्रकार न्यूटन को पेड़ से गिरते सेब को देखकर और आर्कमीडिज को नहाते हुए सहसा अनुभव हुआ। लिहाजा रचना भी एक प्रकार के वैचारिक अन्वेषण की ही उपज होती है, जिसके पीछे रचनाकार की चेतना और दृष्टि काम करती है। यही बात पाषाण की रचना-प्रक्रिया को देखते हुए कही जा सकती है। उनके सामाजिक-राजनीतिक सरोकार भी उनकी काव्य-संवेदना को जन्म देते हैं तथा उनको एक ऐसे मुकाम पर ला खड़ा करते हैं जिससे उनकी एक खास पहचान बनती है। वैसे पाषाण का विश्वास परंपरा में भी है और कई अन्य प्रतिबद्ध कवियों की तरह वे मानते हैं कि 'परंपरा के स्पंदन और प्रगति की टकराहट से ही सार्थक रचनाओं का जन्म होता है।' (धारदार शीशा, पृ. 160) जहाँ तक कविता के दायित्व का प्रश्न है, इस बिंदु पर भी वे स्पष्ट हैं। उनका मानना है कि 'कविता का दायित्व है अशिव का प्रतिवाद, बल्कि यूँ कहें कि अशिव का प्रतिवाद कविता का धर्म भी है।' इस प्रकार देख जाय तो पाषाण की वैचारिकता, जिससे वे अपनी कविताओं की रचना करते वक्त भी परिचालित होते रहते हैं, उनकी 'पतझड़-पतझड़ वसंत' की प्रायः अधिकांश कविताओं में प्रतिबिम्बित होती है। कुछ पंक्तियाँ देखें-

1. बहुत अच्छा होता है वह दिन  
जब घर भर को नसीब होते हैं  
रोटियों के साथ नमक, प्याज और मिर्च।

(बड़भागी दिन)

2. थाली के पानी में  
सूर्यग्रहण देखती मेरी माँ  
फिक्रमंद है

अपने चाँद की सलामती चाहती  
इराकी माँ के लिए।

(फिक्रमंद माँ)

3. पता नहीं क्यों  
घर-भर की, हीत-नात की  
कुशल क्षेम तो तुमने लिख भेजी  
पर  
जिनकी छाया में मन खिलता है  
जिनके संग जीवन पलता है  
जिनको देखे दुख भागता है  
उन सबकी खबरें गोल कर गए बिल्कुल ही?

अगली पाती में ध्यान रहे  
आदमी सिर्फ देह नहीं जीता बेटे  
मन भी जीता है  
औरों से जिसका मन जितना जुड़ता है  
वह उतना अच्छा जन होता है।

(पप्पू की पाती पढ़कर)

4. प्यार और मौत को समेटती हुई बाँहों में  
गरीबों का ब्याह परियों से कराती  
अमीरों को दर-दर भटकाया करती नींद।

(नींद)

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाषाण की कविताएँ अपने साथ विचारों की स्फुलिंग लिए चलती हैं, जो गैर-बराबरी के जंगल में आग लगाने का काम करती हैं। पहले उदाहरण से जाहिर होता है कि श्रमजीवियों को रोटी के साथ नमक, प्याज और मिर्च का नसीब होना सौभाग्य का सूचक है। दूसरी ओर, थाली में सूर्यग्रहण देखने वाली कवि की माँ की चिंता का सुदूर इराक में अपने बेटे की सलामती चाहने वाली एक माँ की चिंता के साथ जुड़ना कितना स्वाभाविक और मार्मिक है, इसे पाषाण ने बखूबी चित्रित किया है। इसी प्रकार अपने बेटे पप्पू का खत पढ़कर एक पिता को इस बात की चिंता होती है कि बेटे ने अपने



दादा-दादी को पत्र में याद न कर अप्रत्यक्षतः उनका ही अनादर किया है। और अंतिम पंक्तियों में कवि ने नींद की वर्गीय व्याख्या प्रस्तुत कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि नींद गरीबों के लिए वरदान साबित होती है, कारण कि श्रम करने के बाद एक निर्धन व्यक्ति गहरी नींद में सोता है, जो एक धनी व्यक्ति को नसीब नहीं होता। दूसरे, वह सपने में अपनी सारी अपूर्व इच्छाओं को पूरा होते देखता है। कहना न होगा कि नींद को स्वप्न का आधार मानकर कवियों ने श्रमजीवियों के लिए स्वप्न को स्वर्णकाल भी माना है जो वर्गीय दृष्टि से भी तथ्यात्मक प्रमाणित होता है। दरअसल पाषाण मार्क्सिय विचार-सरणी से परिचालित होने के कारण चीजों को वर्गीय दृष्टि से देखते हैं तथा कविताओं में उनका विनियोग भी करते हैं। यही कारण है कि उनकी काव्य-रचनाएँ भिन्न रचनाशीलता का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार देखा जाय तो पाषाण की दृष्टि व्यक्ति और समाज तक सीमित न होकर पूरे देश और विश्व के हित में लिखी जाने वाली कविता पर रहती है जो साम्राज्यवादी शक्तियों के विरोध को अपना लक्ष्य बनाती है तथा विश्व मानव-समाज के पक्षधर लुमुम्बा, नेरुदा, पाणिग्रही, बेंजामिन, पाश, भगत सिंह, होचीमिन्ह, नेल्सन मंडेला आदि को याद करते हुए विश्व मानव के अस्तित्व की रक्षा करने हेतु, कवि जन-जागरण का संदेश देता है।

अपने वक्त की जिंदगी और जिन्दगी के अंतहीन/  
सिलसिले के लिए फिक्रमंद लोगों/ खड़े होओ  
कतार-कतार एक आखिरी युद्ध के लिए/ सिर्फ उस  
एक के खिलाफ जो अभी रचा सकता है/ हिरोशिमा  
और नागासाकी का ध्वंस/ बना सकता है धरती के  
किसी हिस्से को/ भिंडरवाले का पंजाब, चौरासी की  
दिल्ली/ बानवे की अयोध्या/और दो हजार दो का

गुजरात।

(सिर्फ उस एक के खिलाफ)

कहने की आवश्यकता नहीं कि पाषाण की कविताएँ अपने लक्ष्य के मद्देनजर अपना काम बदस्तूर करती रही हैं। 'पतझड़ पतझड़ वसंत' की ये कविताएँ- 'सुबह का होना', 'इंतजार 1994', 'कलम का पक्ष', 'कविता में' आदि इसी अर्थ में सार्थक हैं, जो स्वतः स्फूर्त क्रांति के बरक्स सकर्मक क्रांति की वकालत करती हैं तथा जो विशेष चर्चा के योग्य भी ठहरती हैं, जिनके माध्यम से कवि बकौल मुक्तिबोध 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे/ तोड़ने ही होंगे गढ़ और मठ सब' की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए जोखम की कविताएँ रचने का संकल्प दुहराता है और कहता है- रात यों ही नहीं खत्म होती/ यों ही नहीं उगती सुबह/ यों ही नहीं चुकती/अंधेरे की औकात।

(सुबह का होना)

इस प्रकार कहने की आवश्यकता नहीं कि पाषाण अपनी कविताओं को उस हद तक विकसित कर चुके हैं कि उनकी आगे की काव्य-यात्रा की दशा और दिशा भी स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे में उनकी अग्रगामी रचनाशीलता की कल्पना आसानी से की जा सकती है। यों पतझड़ के बाद वसंत का आगमन जिस प्रकार सुखद प्रतीत होता है उसी प्रकार पाषाण की कविताएँ अपने होने का अहसास कराती हैं। अतः जब भी उनकी इन कविताओं का मूल्यांकन उनकी समग्र रचनाशीलता के साथ किया जाएगा तब उनकी इन पंक्तियों से आवश्यक तौर पर साक्षात्कार हो सकेगा-

पतझड़ पतझड़ लड़ते

ये पेड़

मेरे जमाने में

वसंत के पथ पर हैं।

(अय पेड़ कथा)

नया शीतला टोला, आरा-802301(बिहार)

## सृजनशीलता के धरातल पर संघर्ष

परशुराम

...‘और मैं हमेशा  
आसमान के साफ होने की प्रतीक्षा करता रहा,  
प्रतीक्षा करता रहा-  
शायद इस बार ढेर सारे फूल खिलें,  
हवाओं में गंध उड़े  
और मंजिल वाली राह की टोह  
मन पा जाय।’

किंतु न तो आसमान साफ हुआ और न ही फूल खिले

बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की जटिलताएँ और बढ़ती गयी। बावजूद इसके पंचदेव की आस्था कहीं खंडित नहीं हुई। वह अनवरत संघर्षशील मानवता के पक्ष में हाथ उठाकर बेहतर भविष्य की सृजनशील संभावनाओं के लिए संघर्ष करता रहे जिसकी अनुगूँज उनकी कविताओं में ध्वनित है। उनकी कविताओं में ‘अर्थहीन संबंधों’ में भी आत्मीयता के स्रोत की खोज में जीवन और इसे पुनर्चना के क्रम में ‘अपनापन’ और ‘लगाव’ की आँच को जीवित रखते हुए प्रभुत्वशाली संस्कृति के अमानवीय और संवेदनहीन मूल्यों से सृजनशीलता के धरातल पर संघर्ष समकाल के प्रति उनकी दायबद्धता का प्रतिफलन है। उनके दोनों संग्रहों- ‘पचीस कविताएँ और’ और ‘तुम्हारी ही बात’ की कई-कई कविताएँ उनकी इस मानसिकता की साक्ष्य हैं।

कहना न होगा कि पंचदेव की कविताएँ समकालीन सामाजिक जीवन की विद्रूपताओं को चुनौती देती प्रतिरोधात्मक चेतना की कविताएँ हैं। वह अपने आस-पास से पड़ते दबावों की तहों को तोड़ने की चेष्टा करती हैं। पंचदेव ने समानान्तर-संशयों की सृष्टि का रास्ता न पकड़कर धुंध को चीरकर निकलने का रास्ता पकड़ा है। क्योंकि पंचदेव का विश्वास ‘कविता मनुष्य के लिए’ वाली अवधारणा से निर्मित विश्वास है जिसे दोनों संग्रहों की अधिकांश कविताओं में लक्षित किया जा सकता है। बेहतर दुनिया के लिए संघर्षरत मानवता की आकांक्षा और सपना बिम्बों और प्रतीकों में, तो कहीं-कहीं सीधे तौर पर भी, व्यक्त हुआ है। इस प्रकार वह दूसरी परम्परा के कवि हैं। यह परम्परा प्रभुत्वशाली सांस्कृतिक मूल्यों से निरंतर संघर्ष करती समाज के सच का साक्षात्कार करती है, जीवंत मनुष्यता के

संदर्भों को सकर्मक अभिव्यक्ति देती है तथा शोषित-शासित जनता को प्रभुत्वशाली सत्ता के विरुद्ध संघर्ष को प्रेरित करती है। 'तुम्हारी ही बात' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:

तुम यह भूल ही गए

कि जहाँ तुम्हारी भृकुटियाँ तनीं-सिंहासन डगमगाए  
एक साथ तुम खड़े हुए-कई-कई भूचाल कसमसाए।  
ऐसे में

धू-धू कर जलते अपने मकान में घिरे

तुम्हारे गुस्से को

यह खरटे की नींद कहाँ से आ गयी?

इन पंक्तियों में कवि जनता की उसकी ताकत का अहसास कराते हुए उसे सचेत करता है ताकि वर्तमान की जड़ता से मुक्त होने के लिए वह कर्मप्रवृत्त हो। कोई भी रचना शून्य में जन्म नहीं लेती। उसका एक वस्तुगत आधार होता है। रचना में व्यक्त वस्तु तत्व की प्रस्तुति में रचनाकार की वैयक्तिक और सामाजिक चेतना का प्रभाव होता है। कवि की अपनी जीवन-दृष्टि होती है जिससे वह अपने समय और इतिहास को अपने विशेष दृष्टिकोण से देखता है, उनके अन्तरविरोधों की जटिलताओं से परिचित होता है और उन्हीं जटिलताओं के बीच खड़े मनुष्य से उसके संघर्षों का सहभोक्ता होकर संवाद स्थापित करता है। यदि वह स्मृति, परम्परा और यथार्थ के द्वंद से परिचित होता है, वह इससे भी प्रभावित होता है और मुठभेड़ भी करता है, प्रतिक्रिया भी करता है।

पंचदेव व्यक्तिगत जीवन में अन्तर्मुखी रहे हैं। किंतु ठीक इसके विपरीत वह कविताओं में अपने को खोलते प्रतीत होते हैं। यही नहीं, सरकारी फाइलों से अपनी कविता को बचाने का आत्मसंघर्ष करते रहे। वह सरकारी कर्मचारी थे। बहुत कम वक्त मिलता था। मैं स्वयं गवाह हूँ। किंतु अपने कवि को, अपनी कविता को मरने नहीं दिया। गवाह है उनका काव्य-संग्रह 'तुम्हारी ही बात'। (कुमार विकल की कविता 'पुल पर

आदमी') की कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं; 'कि कविता आदमी का निजी मामला नहीं/ एक दूसरे तक पहुँचने के लिए पुल है।' कवि की आंतरिक आवाज कविता के माध्यम से दूसरे तक पहुँचती है, उन्हें छूती है। वह कविता के माध्यम से 'गूंगी चेतना को' आवाज देते हैं ताकि लोग 'खरटे की नींद' से जग जाँय। बावजूद इसके उनकी कविताएँ व्यक्तिगत नहीं हैं। उनके 'व्यक्ति' की संवेदना और 'आम आदमी' की संवेदना में कहीं भी पार्थक्य दृष्टिगत नहीं होता है। उनकी कविताओं में अपने काल की संवेदना के स्वर को पहचाना जा सकता है। यह किसी भी कवि के लिए महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वह काव्य बिम्बों और प्रतीकों को अपने आस-पास की जिंदगी से लेते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं, सपनों और संघर्षों की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में हुई है।

राजनीतिक आजादी के बाद निरंतर गहराते आर्थिक संकट से आजादी को लेकर बुने सपने टूटकर बिखर गये। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के नाम पर भारतीय पूँजीवादी शासक वर्ग ने जो अर्थनीतियाँ अपनायीं तथा विकास का जो पूँजीवादी रास्ता अपनाया, उसने भारतीय समाज को विकृतियों के अंधेरे में ढकेल दिया। 'पचीस कविताएँ और' की 'आजादी के बाद' कविता में देश के रहनुमाओं के बारे में कवि का आक्रोश उद्घाटित है जो पूरे देश को सँवारने के नाम पर 'उसे रेगिस्तान बना देने' में लगे हैं। यही नहीं, स्वाधीनता-संग्राम में जिन नैतिक मूल्यों को अर्जित किया था, वे भी धीरे-धीरे नेपथ्य में चले गये। देशभक्ति, त्याग और आदर्श अवमूल्यित होते गये और बाद के दिनों का तो कहना ही क्या? चारों ओर सारे मूल्यों का विघटन, नये मूल्यों के सृजित होने की पीड़ा, व्यक्तिवाद और अराजकतावाद दिखाई देते हैं। कला-साहित्य में भी पतनशील प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं जो विभिन्न प्रकार के साहित्यिक आंदोलनों जैसे 'अकविता', 'श्मसानी पीढ़ी',

‘बीट पीढ़ी’ आदि के माध्यम से प्रश्रय पाती हैं। संशयवाद और सिनिसिज्म जैसी रुग्ण प्रवृत्तियाँ इन आंदोलनों के कारक तत्व रहे हैं जिसके मूल में व्यक्तिगत असुरक्षा, आर्थिक तंगी, बेरोजगारी, आजादी को लेकर बुने सपनों का टूटना आदि रहे हैं जिसकी चर्चा अपेक्षित नहीं है। चर्चा मात्र इसलिए करनी पड़ी कि पंचदेव की ‘पचीस कविताएँ और’ में अधिकांश कविताएँ लगभग उसी दौर की हैं किंतु जैसा कि मैंने पहले की उल्लेख किया है कि पंचदेव ने समानान्तर-संशयों का रास्ता न पकड़कर धुंध को चीरकर निकलने का रास्ता पकड़ा है। साहित्य को पुनः उसके मूल स्रोत और उसके सृजन-संघर्ष-से जोड़ने में नक्सलबाड़ी के गौरवशाली किसान-संघर्ष की महती भूमिका रही है। पंचदेव की कई कविताओं में प्रयुक्त शब्द-चित्रों में सीधे तौर पर तो नहीं है किंतु भाव-धारा के रूप में उस चेतना को पहचाना जा सकता है। समानान्तर-संशयों से अपने को मुक्त रखने में यही चेतना ताकत भी है। इसीलिए उनकी कविताएँ शोषण और दोहन से वृहत्तर जनता की मुक्ति के लिए किसी ऐसी परम्परा की ओर उन्मुख होती है जिसमें धड़कता हो कोई पूरा मुल्क और जिसमें देश के प्यार की वही खुशबू बसती हो। पंचदेव ने ‘पचीस कविताएँ और’ की भूमिका में लिखा है कि ‘देश के शोषित और पीड़ित वर्ग की इस (विद्रोही) मानसिकता से स्वयं संयुक्त पाता हुआ उनके जीवन और जीवेषणा की सही तस्वीर दे पाने की कोशिश में लिखी गयी हैं ये कविताएँ।’ उनकी कविताओं में ‘उदासी’ और ‘सपने’ जैसे शब्द कई बार प्रयुक्त हुए हैं जो वर्तमान सामाजिक स्थिति और ‘बेहतर दुनिया के लिए’ भविष्य-चिंता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। ‘पचीस कविताएँ और’ की कविता ‘आदमी का इतिहास’ की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिसमें ‘आदमी के रोशनी वाले हाथों में कवि की आस्था अभिव्यक्त है :—

क्या पढ़ा नहीं है उन्होंने इतिहास  
कि आदमी के रोशनीवाले हाथों ने

बहुत कुछ गढ़ा है।  
बदली आवाज में  
मौसम ने गाया है जब कोई गीत,  
धरती पुलक से भर गयी है  
और आकाश ने आदमी का ललाट पढ़  
मुग्ध हो की है पुष्प-वर्षा  
क्या पढ़ा नहीं है उन्होंने इतिहास  
आदमी का इतिहास!

या ‘जवाब’ की ये पंक्तियाँ:

‘आज हमें वसंत की आगवानी में  
लुटाने को तैयार रहना होगा अपना लहू,  
आवाज देनी होगी गूंगी चेतना को,  
ऊँघते देश को सुनाना होगा हमें क्रांति का गीत  
बँधे हाथों की मुक्ति के लिए।

इन पंक्तियों में भूमिका में उद्धृत कवि की मानसिकता या जीवन-समाज को समझने की जीवन-दृष्टि का संकेत है। पंचदेव की कविताएँ पाठक-वर्ग को व्यवस्था के शोषण-दमन के प्रति सचेत करती है और उनकी ‘गूंगी चेतना’ को आवाज देती हैं ताकि वे ‘अपने बँधे हाथों की मुक्ति के लिए’ उठ खड़े हों। प्रथम संग्रह ‘पचीस कविताएँ और’ को दूसरे संग्रह ‘तुम्हारी ही बात’ की आधारशिला के रूप में देखा जा सकता है जिसमें भाषा और शिल्प की सुगठित बुनावट और सजगता दिखती है।

कहना न होगा कि पंचदेव की कविताओं में मुख्यतः आम आदमी के जीवन की विसंगतियों, अनुभवों और संवेदनाओं की जीवंत अभिव्यक्ति हुई है। माओत्सेतुंग ने लिखा है- ‘विचारधारात्मक रूप में साहित्यिक रचनाएँ और कलाकृतियाँ मनुष्य के मस्तिष्क पर किसी किस्म के सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्बों की उपज होती हैं।’ जानना यह जरूरी होता है कि सामाजिक जीवन के किस पक्ष को रचनाकार अपनी रचना का उपजीव्य बनाता है। पंचदेव की कविताएँ वृहत्तर मानवता के पक्ष में खड़ी हैं। दिवंगत अलखनारायण ने एक लेख में

पंचदेव को ऐसे ही 'जनदरदी कवि' नहीं कहा है। किंतु पंचदेव की जनसांस्कृतिक सोच राजनीतिक मुहावरों में व्यक्त नहीं हुआ है। वह व्यक्त हुआ है समाज और इतिहास में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों के रेखांकन में। व्यवस्था के परस्पर विरोधी आचरण के अंतर्विरोधों के माध्यम से इतिहास और राजनीति पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी पंचदेव की पक्षधरता को स्पष्ट करती हैं। इनकी कविताएँ जहाँ एक ओर अपने समय की धड़कन को रेखांकित करती हैं वहीं दूसरी ओर 'नयी सुबह के लिए' विप्लव का आह्वान करती हुई भविष्य के किरण-द्वार की ओर भी संकेत करती हैं।

कविता शब्दों से ही लिखी जाती है, विचारों से नहीं। कविता विचारों का अनुवाद नहीं होती, हो भी नहीं सकती। किंतु प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है, संदर्भ होता है। महत्वपूर्ण यह है कि कवि शब्दों के माध्यम से किन संदर्भों और अर्थों को अभिव्यक्त करना चाहता है और यहीं पर कवि के कला के प्रति दृष्टिकोण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसके विचार-पक्ष की भी। 'तुम्हारी ही बात' की इन पंक्तियों में शब्द-चित्र, अर्थ लय के साथ कवि का विचार पक्ष भी उद्घाटित है :-

‘जिसने जितना माँगा-  
तुमने बेहिचक, बेहिसाब दिया।  
उदात्त इतना  
कि किसी से पूछा तक नहीं तुमने  
कि तुम्हारे दिए का  
किसने क्या-क्या किया!  
किसी पर उंगली न उठाकर  
भरोसे में धीरे-धीरे  
तुमने अपना बहुत कुछ गँवा दिया।  
तुम्हारा श्रम महल-अटारियों को खड़ा कर  
(उनमें फिर कभी न झाँकने की हिदायत के साथ)  
टकटकी बाँधे देखता रहा प्रसन्न, निर्विकार।  
गेदाम घरों में

तुम्हारे स्वेद सिंचित फसलों का लगता रहा अम्बार!  
इन पंक्तियों में कवि मजदूरों की श्रम-संस्कृति और अन्याय के साथ ही अंत में उनकी शक्ति का एहसास कराते हुए कहता है कि 'तुम यह भूल ही गए/  
कि जहाँ तुम्हारी भृकुटियाँ तनीं- सिंहासन डगगमाए/  
एक साथ तुम खड़े हुए-कई कई भूचाल कसमसाए।' इन पंक्तियों में कवि का विचार पक्ष भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि कहाँ और किसके साथ खड़ा है।

कहना न होगा कि यदि काव्य वस्तु जीवंत नहीं है, उसमें देश-काल की धड़कन नहीं है तो कुशल शब्द-शिल्पी भले उसे आकर्षक सम्मोहक रूप दे दें, उसमें प्राण नहीं डाल सकते। पंचदेव की कविताओं में जीवन और समाज की धड़कन भी है। इसीलिए मुख्य प्रश्न भाषा की जीवंतता का नहीं है, काव्य-वस्तु की सामाजिकता का है। किंतु इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि काव्यात्मक गठन में भाषा और शिल्प की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। काव्य, वस्तु भाषा और शिल्प के माध्यम से ही जनता से संवाद की स्थिति में पहुँचती है। इसलिए 'वस्तु' और 'रूप' के संतुलन की मांग बराबर की जाती रही है। यदि कवि अपनी कविता की भाषा और शिल्प के प्रति सचेत नहीं है, तो उसकी कविता जीवंत काव्य-वस्तु के बावजूद कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाती और कभी-कभी तो वह कविता भी नहीं लगती। कविता मनुष्य को भीतर से मजबूत बनाती है और बाहरी स्थितियों को अनुकूलित करने के लिए प्रेरित करती है। 'आगंतुक' कविता की ये पंक्तियाँ :-

‘मुझे अपनी ही खींची लकीर से  
काँपता-हटता-सहमा पाकर  
(साथ ही आत्मग्लानि में डूबा देख)  
समय पर चाबुक थामे  
चौकस रहने की हिदायत देते हुए  
वह मेरी पीठ पर रख देता है हाथ  
और धड़ल्ले से मेरा मन टोहते हुए  
समा जाता है मुझमें करता हुआ निर्भय।’



यह कविता ही है जो मनुष्य को निर्भय बनाती है। दुविधाग्रस्त मानसिकता-सृजनशीलता की संभावनाओं को पनपने नहीं देती। कवि का आत्म-संघर्ष ही इससे उसे मुक्त कर सकता है। इस आत्म-संघर्ष में उसकी निजी विचारधारा आगंतुक की भांति उसकी पीठ पर हाथ रख उसका संबल बन जाती है। 'युद्ध' कविता को यदि 'आगंतुक' कविता की उपर्युक्त पंक्तियों से जोड़कर पढ़ा जाय तो भाव और आशय स्पष्ट हो जायेगा।

*'ऊहापोह की स्थिति में*

*युद्ध सबसे अधिक*

*अपने भीतर सुलगता है,*

*अपना अंधकार*

*सबसे अधिक*

*अपने को डँसता है, यातना देता है।*

*इसलिए: कम से कम अपने लिए*

*अपने से लड़ो।*

*अपने से हारना-*

*आदमी की इससे बड़ी हार,*

*और क्या हो सकती है!*

स्पष्ट है कि वाह्य और आभ्यन्तरीकृत वास्तविकताओं के द्वंद में सृजनशीलता की संभावनाओं के लिए आत्मसंघर्ष एक आवश्यक तत्व है। जिस कवि में यह आत्मसंघर्ष जितना ही तीव्र होगा, उसकी कविता भी उतनी तल्लू और जीवंत होगी।

पंचदेव अपने कालखंड की जनपक्षीय कविताओं के एकआयामी होते जाने के कारण काव्य-संरचना और सम्प्रेषण की सीमा से परिचित थे, अपनी कविताओं की सीमा से भी। विशेषकर लंबी कविताओं से। शायद इसीलिए नये विषयवस्तु के साथ नये शिल्प की तलाश के अपने 'सौन्दर्याभिरुचि का विस्तार और पुनः पुनः संस्कार के प्रयास में 'मेले से होते हुए', 'चाहो तो' 'मुल्क में: मुल्क के लिए' जैसी कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है जो 'तुम्हारी ही बात' में संग्रहीत हैं।

कविता इतिहास की अनुकृति नहीं होती, बल्कि

अपने समय के इतिहास की धड़कनों को संपादित करती चलती है। पंचदेव की कविताओं में इसकी व्यापक उपस्थिति देखने को मिलती है। 'तुम्हारी ही बात' में एक लंबी कविता है 'उनका सपना'। उनकी अन्य लंबी कविताओं से भिन्न। भिन्नता 'वस्तु' और 'रूप' के विन्यास में है। इस कविता में जनता का संसद में अविश्वास और जनता की ताकत में कवि के विश्वास की अभिव्यक्ति में ऐतिहासिक परिवर्तनों के प्रति कवि सजग और संवेदनशील दृष्टि की इंगिति है। इसमें आपातकाल का जिक्र तक नहीं है किन्तु कविता के पाठ में आपातकाल के पूर्व, मध्य और पश्चात की स्थितियों के तनाव की अभिव्यक्ति स्वतः स्पष्ट हो जाती है। 'उनका सपना' एक लम्बी कविता है-तीन खण्डों में तीन स्थिति-चित्रों के साथ। 'उम्र भर राज करेंगे! किसी के चाहने-न चाहने के बावजूद/ सबके सरताज रहेंगे।' में अधिनायकवादी प्रवृत्ति में आपातकाल की ओर संकेत है जबकि 'उम्र के पार उम्र जीने की लालसा से/ इतिहासकारों से ग्रंथ लिखवाए।' में दिल्ली में धरती के गर्भ में 'अपने ढंग के इतिहास' को 'टाइम कैप्सूल' में सुरक्षित रखकर गड़वाना तत्कालीन यथार्थ का सत्य है। 'लाठी के बल पर/ सबको अपनी मुट्ठी में रखेंगे/ राजा होकर रहेंगे/ राजा रहकर जियेंगे।' में लोकतंत्र की हत्या और दमन-आतंक के सहारे बलपूर्वक शासन करने की इच्छा व्यक्त की है। किंतु जनता जब जाग्रत होती है तो उसकी प्रतिरोध की धारा इतनी वेगवती और बलवती होती है कि किसी को उसके सामने 'सर टिकाने की जगह' भी नहीं मिलती। यदि ऐसा न होता तो आपातकाल की अंधेरी रातों से निजात नहीं मिलता। इसलिए मैंने ऊपर उल्लेखित किया है कि बिना 'आपातकाल' का उल्लेख किए 'उनका सपना' शब्द चित्रों के माध्यम से उस पूरी अवधि को रेखांकित कर देती है। इसी कविता में :-

*'उनके सपनों की बागवानी और गिरानी में मुस्तैद रहना*

देशभक्ति है! ईमानदारी है!!

उनके इशारे पर डोलना/ उनके सुर में बोलना  
वक्त का तकाजा है/ वफादारी है!

कि इनाम सिर्फ उसे मिलता है

जो उनकी छड़ी सम्हालता है!

क्या देश की वर्तमान स्थिति इससे भिन्न है?

‘हालत’ और ‘चाहो तो’ में यथार्थ के आकलन  
और चित्रण में काल का अतिक्रमण दृष्टिगत होता है।  
‘हालत’ और ‘चाहो तो’ की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत  
है :—

‘हक का उठाने पर सवाल

जनतन्त्र पर खतरा बताकर

देश की सुरक्षा में

जहाँ खड़ा किया जाता हो कोई बवाल!

हाल कुछ ऐसा हो

कि मुँह खोलना तक बन जाय देश-द्रोह!

और देश-प्रेम

जहाँ फुर्सत में जम्हाई लेते हुए

लैमचूस फेंककर

लोगों को फुसलाने की कला साबित हो।’

(हालत)

‘जिन्स में तुम तब्दील न कर दिए जाओ,

इसलिए जरूरी है

(इसलिए कि वक्त भी कम है)

कि इन खतरनाक झपट्टों से बचने की

कारगर-तरकीब पर

पहले सोचना तो शुरू कर दो।’

(चाहो तो)

‘हालत’ कविता की पंक्तियों में आज का समय  
जैसे बोलता है जबकि ‘चाहो तो’ में पूंजीवादी समाज  
में मनुष्यों के ‘वस्तु’ में तब्दील हो जाने की दयनीय  
स्थिति से संघर्ष का आह्वान पंचदेव की जन-चैतन्यता  
का उद्घाटन है। ध्यातव्य है कि कविता का रचना-काल  
1979 है। जनवादी परंपरा के प्रतिमानों और प्रतिरोध

की चेतना से कवि की सम्पृक्ति यहाँ स्पष्टांकित है।  
ऐसा लगता है कि कवि आज की स्थितियों से साक्षात्कार  
कर रहा है और यही काल का अतिक्रमण है।

‘मेले से होते हुए’ में लोक-संस्कृति के प्रतिमानों के  
माध्यम से संसदीय राजनीति पर तीखा प्रहार है।  
कविता वाचिक परम्परा के नजदीक है और इसके  
‘पाठ’ से ही वस्तु का सम्प्रेषण हो जाता है। यही इस  
कविता की ताकत है। आज संसदीय राजनीति के  
संकट-काल में इस कविता की प्रासंगिकता और भी बढ़  
जाती है। विभिन्न वर्गों की राजनीतिक पार्टियाँ की  
भी, जो अब तक अपना स्वार्थ सिद्ध करती रही थीं,  
(वैसे आज तो और नंगी हो चुकी हैं) कलई चौथे आम  
चुनाव में खुल जाती है जिसे पंचदेव ने ‘मेले से होते  
हुए’ में लोकप्रिय लोक-शैली में व्यंजित किया है।  
राजनीतिक पार्टियों की स्थिति ‘सरकस के जोकर’ की  
तरह हो गई है जो ‘फांस रहे भोले लोगों को, पॉकेट में  
भर ढेर बताशे/ फेंक रहे कुछ इधर बताशे, उधर  
बताशे’ किंतु जनता को उसके अनुभवों ने इतना  
शिक्षित अवश्य ही कर दिया है कि इन प्रलोभनों का  
अर्थ समझने लगी है। वह इन राजनीतिक पार्टियों की  
नौटंकी को अब बेहतर समझने लगी है तथा वह किसी  
तीसरे विकल्प की व्यंग्रता से प्रतीक्षा कर रही है ताकि  
वह मुक्त हो सके। इस कविता में जो भाषा-शिल्प है,  
वह कविता की अंतर्वस्तु को और अधिक सम्प्रेष्य  
बनाती है।

वर्चस्ववादी सत्ता किसी भी कीमत पर यथास्थिति  
को बनाए रखना चाहती है ताकि उसके वर्चस्व पर कोई  
आँच न आये। यथास्थिति और सामाजिक जड़ता पर  
प्रहार किए बिना लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना या  
पुनर्स्थापना नहीं हो सकती। और न ही व्यापक जनता  
को मुक्ति का पथ प्रशस्त हो सकता है। इसलिए  
आवश्यक है कि यथार्थ की पहचान करते हुए यथास्थिति  
पर प्रहार और साथ ही जनता को जाग्रत करने के लिए  
उत्प्रेरित करना। पंचदेव की प्रायः कविताओं में इस

तरह संघर्ष और सृजन का चित्रण मिलता है। संघर्ष और सृजन का उद्देश्य है एक ऐसी दुनिया के निर्माण में सहयोगी बनना जहाँ कोई शोषित न हो और सृजनशीलता बाधित न हो। 'उनकी हँसी के खिलाफ' की कुछ अंतिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :—

*'उठो! इतिहास से हर जगह गायब  
औरों का इतिहास बनाने वालों! उठो!*

... ..

*उठो! दिशाएँ दखल करने की*

*इस दहला देने वाली, हँसी के खिलाफ उठो!*

*इस थमी हवा को गति देने वालो!*

*दिशा-दिशा से एक-दूसरे की बाहें बनकर उठो!*

*उनकी हँसी पर निशाना ठीक बैठे*

*अपने जरूरी सामनों की जाँच करते हुए उठो!'*

लोग भले ही कविता की इस भाव-प्रणाली को सपाटबयानी या फिर कोई और संज्ञा दे दें, किंतु सामाजिक चेतना-बोध को जगाने वाली रचनाओं की अपनी विशिष्टता होती है। यदि कविता में अपने समय की उपस्थिति न हो या जड़ता तोड़ने की कश्मकश न हो तो मेरे लेखे वह निर्जीव है।

आपातकाल के बाद 1977 में भारतीय संसदीय राजनीति में हुए ऐतिहासिक परिवर्तन को 'दूसरी आजादी' और लोकतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना जैसे विशेषण से भले नवाजा गया जबकि वह 'कुर्सी का बदलाव' था, व्यवस्था का नहीं। व्यवस्था वही थी, अत्याचार, दमन और शोषण उसी तरह बरकरार रहे। केवल रूप किंचित बदल गया। आठवें दशक के पश्चात स्थितियों बड़ी तेजी से बदली हैं। पूर्वापेक्षा कला-कर्म भी कठिन होता गया है। 'कविता की वापसी' का नारा भी इसी समय उछाला गया। 'कविता की वापसी' में कविता घर को लौटी या नहीं, इतना अवश्य हुआ कि वैसी कविताएँ जन-जीवन, संघर्ष और सृजन से दूर होकर एकाना शब्द-शिल्प की साधना करने लगी। सोच, जीवन-शैली और सामाजिक-चेतना में बदलाव आया। भूमंडलीकरण,

उदारीकरण और निजीकरण ने यथार्थ का चेहरा ही बदल डाला। यथार्थ आभासी यथार्थ स्थानान्तरित होता गया। जो सत्य है, वह महत्वपूर्ण नहीं रहा और न ही कारक बल्कि सत्याभास ही महत्वपूर्ण रहा और इसमें मीडिया की सक्रिय भूमिका रही है। लोग अपने में सिमटते गये। सत्तर के दशक का मध्यवर्ग यथास्थिति का तीखा विरोध करता है, आंदोलन करता है, व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन चाहता है किंतु वही मध्यवर्ग चुप है।

जब जनान्दोलन होते हैं तो जनता के पक्ष में लिखने-बोलने वाले लोग भी दिखाई देने लगते हैं किंतु जब आंदोलन की आँच धीमी हो, सन्नाटा पसरा हो और जब बहुत सारे कवि उत्सवधर्मी कविताएँ लिख रहे हों, वैसे समय में गतिरोध को तोड़ने की बात करना, संवेदनहीन समय में संवेदना को बचाए रखना ही 'अंधेरे समय' की भयावहता के सामने चुनौती बन जाने जैसी बात होती है। पंचदेव अपने कवि-कर्म के प्रति बराबर सचेत रहे हैं और उनकी 1992-93 में अंतिम प्रकाशित कविता 'चिंता' साक्ष्य है। उन्हें लगता है कि कहीं कोई हलचल नहीं है। लगता है, जैसे मध्यवर्ग की चेतना कहीं कुंठित हो गई है या उसके विरोध को भाषा देने वाली शक्तियों की रहस्यमय चुप्पी से वह चुप हो गया है। दमन है, किंतु सन्नाटा है। शोषण है, महँगाई है, किंतु लोग आंदोलित नहीं हो पा रहे हैं। 'चिंता' की कुछ पंक्तियाँ :— 'एक पूरी शताब्दी

*कुनकुनाते मौन में सुलग रही है।*

*संभव है, किसी मसीहा के इंतजार में*

*थकी-थकी सी अँध रही है।*

*आखिर शताब्दी के होठों से*

*बोल फूटने में*

*अभी कितना वक्त और बाकी है!'*

कवि को शताब्दी के अंतिम दशक में अपने समय का मौन सालता है। मौन की भी भाषा होती है। धरती के पर्त पर कान लगाकर परिवर्तनों की धड़कनों को वह

सुनना चाहता है। कभी-कभी आँधी आने के पहले, आश्चर्यजनक ढंग से हवा खामोश हो जाती है। उन्हें यह 'मौन' कुछ ऐसा ही लगता है। मौन में शताब्दी के सुलगने की अन्तरध्वनि की पहचान है उन्हें। कवि को लगता है कि, वह संभव है, किसी मसीहा के इंतजार में/ थकी-थकी सी ऊँघ रही है।' 'मुल्क में: मुल्क के लिए' में वह किसी ऐसे सही आदमी की ललाट पढ़ने लगता है जिसमें धड़कता हो कोई पूरा मुल्क। 'मसीहा' से तात्पर्य है 'नेतृत्व' से, जो देश की, समाज की, मनुष्य की तकदीर और तस्वीर बदल सकता है। इतावली भाषा के साहित्यकार और चिंतक अम्बर्तो इको की इस उक्ति का स्मरण संदर्भित है कि 'मसीहाओं से डरो... और उन लोगों से भी जो सच्चाई पर जान देने के लिए तैयार रहते हैं, क्योंकि कायदे के मुताबिक वे बहुतों को अपने साथ मरने के लिए तैयार कर लेते हैं, आमतौर पर उनसे पहले मरने के लिए, समय आने पर उनके बदले में मरने के लिए।'।

कहना न होगा कि पंचदेव अपने समकालीनों में एक अलग पहचान रखते हैं। पंचदेव की कविताएँ सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रदूषण का पर्दाफाश करती हैं और उससे मुक्ति के लिए जनसाधारण

को संघर्षशील बनाने की प्रेरणा देती है। सामाजिक बदलाव में कविता की यही महत्वपूर्ण सहयोगी भूमिका है। यही कारण है उसकी कविताओं में अपने समय का दस्तावेज जीवंतता के साथ उपस्थित है। पंचदेव की प्रायः कविताओं में व्यंग्य का पुट रहता है, किंतु एक ही स्थिति को भिन्न स्तर पर व्यक्त करने पर अभिव्यक्ति की क्षिप्रता के बावजूद उनकी कुछ कविताओं में शिल्प का शैपिल्य दृष्टिगत होता है, विशेषकर उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'पचीस कविताएँ और' की कविताओं में। 'तुम्हारी ही बात' की कविताओं में शिल्प के प्रति सजगता है। 'मेले से होते हुए' में वैसे लोक-शिल्प का प्रयोग उसे लोक-संवेदना की ठोस जमीन प्रदान करता है जबकि 'चाहो तो' में वे अपनी कविताओं की पूर्ववर्ती संरचना और शिल्प से थोड़ा अलग हटकर नए शिल्प की जमीन खोजते नजर आते हैं। प्रायः छोटी कविताओं में यह कोशिश दिखाई देती है। यह उनके विकास की नयी संभावनाओं की ओर संकेत है। उनकी अंतिम कविता 'चिंता' इसका प्रमाण है। बावजूद इसके समग्रता में उनकी कविताएँ अपने सामाजिक सरोकारों से कहीं भी असम्पृक्त नहीं हैं बल्कि कहीं-कहीं उनमें काल का अतिक्रमण भी है जो महत्वपूर्ण है।

140/1, रामकृष्णपुर लेन, शिवपुर, हावड़ा (पश्चिम बंगाल)

पिन: 711102, मो. 9433708453

## मुक्तिबोध का काव्य दर्शन

प्रो. दामोदर मिश्र

सौंदर्यानुभूति के बिना साहित्य-सृजन संभव नहीं है और दर्शन के बिना वह चरितार्थ नहीं होता। दर्शन सन्निविष्ट सौंदर्याभिव्यक्ति का प्राण-स्पंदन दीर्घ होता है। जिज्ञासा, संघर्ष एवं द्वंद्व की भूमि पर अंकुरित होकर समाधान की मांग के क्रम में चिंतन एवं चयन प्रक्रिया के रास्ते सृजन की दुनिया व्यापक होती है। मुक्तिबोध लिखते हैं- 'मेरे बाल-मन की पहली भूख सौंदर्य एवं दूसरी विश्व मानव का सुख-दुःख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आंतरिक द्वंद्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।' फिर भी यात्रा जारी रही मंजिल की तलाश के साथ।

कवि के रूप में मुक्तिबोध परिचित हुए अज्ञेय संपादित 'तार सप्तक' (1943) में छपने के बाद। जन्म 1917 (नवंबर) में ग्वालियर के एक कस्बे में हुआ। ये मूल मराठी थे। सौ साल पहले इनके पूर्वज यहाँ आ बसे थे। पिता पुलिस सब-इन्स्पेक्टर थे और बार-बार तबादले के कारण मुक्तिबोध को परिवार के साथ विभिन्न जगह जाना पड़ता था। इस कारण पढ़ाई का क्रम टूटता-जुड़ता रहा है। 1935 में माधव कॉलेज, उज्जैन में बी. ए. पढ़ते समय साहित्य-लेखन शुरू हुआ है और इस दौरान माखनलाल चतुर्वेदी के स्कूल से निकली शाखा स्व. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के स्कूल की कविताओं से वे प्रभावित रहे हैं। विषय-विरहजन्य करुणा और जीवन दर्शन और उलझनभरी अभिव्यंजना के कारण विषय सूच्य एवं अस्पष्ट। 1935 में जब मुक्तिबोध कविता लिखना प्रारंभ करते हैं तो वह समय छायावाद का उत्कर्ष काल होता है और स्वाभाविक तौर पर काव्य-रचना के इस अभ्यास काल में उनकी कविताओं पर छायावादी शैली, तथ्य और भाषा की छाया परिलक्षित होती है। दूधनाथ सिंह के अनुसार, 'छायावाद का उत्कर्ष मूलतः तीन शहरों में हुआ - इलाहाबाद, बनारस और थोड़ा बहुत लखनऊ। मुक्तिबोध ने अपनी काव्य-रचना इन तीनों क्षेत्रों से दूर उज्जैन में बैठकर शुरू किया।...प्रो. कांतिकुमार जैन छायावाद की इस शैली को 'पहाड़ी शैली' कहते हैं।'।

मुक्तिबोध की काव्य-साधना का यह पहला दौर 1935 से 1940 तक रहा है जिसकी चर्चा प्रायः नहीं होती। सचमुच कोई भी सर्जक परंपरा से कटकर यकायक आसमान से नहीं टपक पड़ता। अचानक नवीन या मौलिक नहीं बन जाता। ऐसे ही चारा गाछ महाद्रुम में बदल नहीं जाता या पूर्णिमा का चाँद यकायक दिखाई नहीं पड़ता। ऐसे ही कबीर क्रांतिद्रष्टा बन नहीं जाते या मोहनदास करमचंद गांधी जाति के पिता बन नहीं जाते। बहरहाल गजानन माधव को ख्यात मुक्तिबोध बनने की यह पहली सीढ़ी थी। अनुभव की आँच में तपते हुए परीक्षा-निरीक्षाओं के बीच आगे बढ़ना पड़ा है उनको। अब मंजिल अवश्य दूर थी। यौवन के उत्ताप एवं प्रेम के मधुर क्षणों के बीच जीवन-दर्शन को टटोलने का दौर था यह। यही समय था जब प्रेमिका से मिलने की प्रबल इच्छा होती थी और उसका न मिल पाना मानो रात बनकर आसमान पर छा जाता था और उस अधियाले में वह उठकर आती थी और पग गिन-गिन कर। वहीं अचानक

देखकर प्रेमी ने आलिंगन में बाँध लिया था और चुंबन का अधिकार समझकर अधर कपलों पर बरसा दिया था अपने रुद्ध स्नेह का सागर।”<sup>3</sup> (कविता-‘जब तुम मिल न सकी’) इस दौर की बहुत सी कविताएँ हैं जो प्रेम-दर्शन से भरी पड़ी हैं, साथ ही जीवन सत्य को स्वीकारने का अदम्य साहस भी। इसी क्रम में मिलन एवं विरह के साथ मृत्यु-दर्शन की अभिव्यक्ति ‘मरण का संसार’, ‘मरण रमणी’, ‘मुझको मरण मिला’ आदि कविताओं में हुई है। ‘मरण रमणी’ का उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें कवि मुक्तिबोध कहते हैं -‘मैंने मरण को एक विलासिनी सुंदरी माना है। और वह एक ऐसी सुंदरी है जो कठोर नहीं है किंतु हमारे अरमान पूर्ण करना ही मानो उसने ध्येय बना रखा है।’— ‘मरण बन सखि, मन कणों से प्यार का आश्लेष कर री! / मधु अधर के स्पर्श में उस पार का संदेश भर री, / री आज आलिंगन मधुर में मिलन की उल्लास ज्वाला! / तू मुझे सखि, खींचती चल, अप्सरा का वेश कर री।’<sup>4</sup>

वास्तव में यह मुक्तिबोध के व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्ति वाली कविताएँ हैं जिसमें आत्मपरकता प्रमुख है। प्रणय-जीवन के सर्वोत्तम कवि के रूप में सूर और मीरा को मानते हैं। (देखें, ‘मुक्तिबोध’ संपा. राजेंद्र मिश्र, पृष्ठ 265) और उनके प्रभाव को यों व्यक्त करते हैं -‘उनके उद्गार हमें भीतर से हिला देते हैं।’<sup>5</sup> वास्तव में इन कविताओं में सक्रिय संवेदनाओं का चित्रण है, सामान्यीकृत भावना है - प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप है और साथ ही ‘ह्यूमैनाइजिंग इफेक्ट’ है। इस चरण में वैचारिकता के नवोन्मेष का संघर्ष जारी था। रास्ता तैयार हो रहा था। सृजनशील कल्पना एवं जीवन के कटु अनुभव के सहारे काव्य-संसार विस्तार ले रहा था।

1943 तक आते-आते मुक्तिबोध के वैयक्तिक जीवन व अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में काफी कुछ परिवर्तन आ चुके थे। परिवार के इच्छा के विपरीत 1939 में अपनी जिद पर उन्होंने शांता से प्रेम-विवाह कर लिया।

1938 से नौकरी पकड़ने एवं छोड़ने का सिलसिला 1958 तक जारी रहा। जीवन में ‘स्थानांतरगामी प्रवृत्ति’ (माइग्रेशन इंस्टिक्ट) की प्रमुखता रही। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 1939 में दूसरे विश्वयुद्ध की घोषणा हो गई थी। राष्ट्रीय स्तर पर स्वाधीनता आंदोलन जोर पकड़ रहा था। मुक्तिबोध ने जब कविता लिखना शुरू किया तो 1936 में भारतवर्ष प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई किंतु उस समय वे छायावादी कविताएं लिखते रहे। आगे चलकर भाववादी दार्शनिक विचारक वर्गसाँ की स्वतंत्र क्रियाभाग जीवनशक्ति (evalvital) के प्रति मुक्तिबोध का आकर्षण बढ़ जाता है। उन दिनों मुक्तिबोध और जुंगडलर को पढ़ चुके थे। बाल्जाक, लावेयर, गोर्की आदि उनके प्रिय लेखक थे। 1942 में उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। जीवन और जगत के द्वंद्व, जीवन के आंतरिक द्वंद्व इन सबको सुलझाने की एक अनुभवसिद्ध तत्वप्रणाली अथवा जीवन-दर्शन को आत्मसात कर लेने की प्यास हमेशा उनमें बनी रही है। इसी बीच 1938 में फिर 1941 में वे शारदा शिक्षा सदन, शुजालपुर आए जहाँ और मित्रों के साथ नेमिचंद जैन से जो मित्रता हुई उससे आगे की राह अधिक प्रशस्त हुई। वे बेहिचक स्वीकारते हैं -‘यहाँ लगभग एक साल में मैंने जो पाँच साल का पुराना निकालने की सफल-असफल कोशिश की इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शांति मैंने एक ऐसी जगह से पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।’<sup>6</sup>

अब मुक्तिबोध के कवि का नया कलेवर सामने आया। 1943 का समय-प्रयोग का चरण। ‘तारसप्तक’ में संकलित सात युवा कवियों में प्रथम नाम है गजानन मुक्तिबोध - माधव नहीं। युगसंधि का समय था, जबकि कार्यकर्ताओं की जरूरत पड़ती है ऐसे समय में। पर मुक्तिबोध इस धारणा से ऊपर उठ चुके थे; इसलिए उनका विचार था कि इस समय कलाकारों की जरूरत है और ऐसा समय कलाकार भी उत्पन्न करता है। बर्तोल्त ब्रेष्ट ने कला की उपयोगिता की ओर



संकेत करते हुए लिखा है—‘क्या अँधेरे समय में भी / गाया जाएगा?/ हाँ, गाया जाएगा तब भी, / अँधेरे समय के बारे में।’<sup>7</sup>

‘तारसप्तक’ में मुक्तिबोध की मुक्तिबोधी चेतना का सही मायने में जागरण काल है। जगत एवं जीवन को देखने के अंदाज में काफी कुछ बदले हुए नजर वे आते हैं। 17 कविताओं के साथ वे ‘तारसप्तक’ द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। विषय की विविधता है पर सब में सामान्य रूप से जो चीज उभर कर आती है वह है अन्वेषण-वस्तु ओर शिल्प दोनों स्तरों पर। प्रथम कविता (‘आत्मा के मित्र मेरे’) में आत्मा के इस मित्र का जिक्र है जो ‘दुख-सुख के साँझ प्रातः’ में, हर जरूरत में, एकाकीपन में, याद आए तथा जिस मनस्वी की मनीषा आत्मवत हो जाए। दूसरी कविता ‘दूर तारा’ में हर मनुष्य पर विश्वास करने की बात करते हैं, पर आगे चलकर प्रश्न उठता है—‘हम लिखें कविता विरह पर, दुःख पर/ या मधुर आराधना पर, युद्ध परय या रघुं विज्ञान जीवन के बने/ प्रश्नमय जो अंग संतत क्रुद्ध पर?’ इसी क्रम में उनका शंकाकुल मन विद्रोही बनता है और अपने कवि से कहता है—‘सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरणगीत तुम सुंदर/ तुम कवि हो, ये फैल चले मृदु गीत निषल मानव के घर-घर।’<sup>8</sup>

यह निबल मानव के प्रति सहानुभूति आगे चलकर ‘पूँजीवादी समाज के प्रति’ कविता, में और मुखर हो जाती है और पूँजीपतियों के प्रति आक्रोश यों व्यक्त हो जाती है—‘तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ/ तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।’<sup>9</sup>

इसके पश्चात अगली कविता ‘नाश देवता’ में सृजन हेतु महाध्वंस का आह्वान करते हैं और फिर सृजन क्षण का स्मरण करते हुए लिखते हैं—‘शुभ्रांरुण किरणों से बिंबित/ रजत नील पर उत्कट उज्ज्वल/ जिसमें अनलोरमिल, अनिलारमिल/ कमल खिले हैं वे रक्तोत्पल।’<sup>10</sup>

इसी क्रम में कवि जब दुनिया को मार्ग-भ्रष्ट पाते

हैं तो अपने को ‘उग्रद्रष्टा’ के रूप में घोषित करते हैं—

‘उग्र द्रष्टा मैं स्वयं हूँ जब कि दुनिया मार्ग भ्रष्टा।’<sup>11</sup>

जीवन और परिवेश की विषमता की स्थिति अंतःकरण में भी दुःस्थिति पैदा करती है और कवि आत्मग्रस्तता के बावजूद समाज के व्यापकतर छोर को छूना चाहते हैं।

यहाँ स्पष्ट समझ लेना जरूरी है कि दर्शन कविता नहीं है। दर्शन भाव में बदलकर कविता की वस्तु बन जाता है। अर्थात् दर्शन कविता में अनुस्यूत रहता है। कला का केंद्र निर्विवाद रूप से व्यक्ति होता है पर मुक्तिबोध उसे दिशाव्यापी करने के पक्ष में हैं। उनका कवि जिज्ञासु है पर जिज्ञासु वृत्ति का वास्तव (ऑब्जेक्टिव) रूप अभी तक वे कला में नहीं पा सके हैं। अब इसकी साधना में वे जूट जाते हैं और स्पष्ट बताते हैं—‘क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।’<sup>12</sup> उन्होंने प्रयोग साधना के दौरान यह महसूस किया था—‘यथार्थों से चला हुआ/ स्वर्गों तक पहुँचता है, / गणितों का किरणीला सेतु, / पृथ्वी के हेतु/ लेकिन हाँ उसी के लिए दिन-रात/ नये-नये रन्धों और बसूलों से लगातार/ लगातार/ मेरी काट-छाँट/ उनकी छील-छाल अनिवार।’

जाहिर है कि यह विशेष दृष्टिकोण ‘तारसप्तक’ के और कवियों को भी प्राप्त था। इसलिए इन कवियों को दो स्कूलों में विभाजित कर देखने की परिपाटी अस्वाभाविक नहीं लगती, जैसे - मुक्तिबोध स्कूल, जिसके अंतर्गत नेमिचंद्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आते हैं और अज्ञेय स्कूल, जिसके अंतर्गत गिरिजाकुमार माथुर को रखा जाता है। प्रगतिवादी कवियों से मुक्तिबोध स्कूल के कवियों में मूल अंतर यह रहा कि जहाँ प्रगतिवादी कवियों में यह दर्शन स्थूल प्रचार का माध्यम बन गया था वहाँ ये कवि इसे अपनी आंतरिक ऊर्जा के रूप में आत्मसात कर लिया। विशेषकर मुक्तिबोध ने बड़ी कुशलतापूर्वक

इसका प्रयोग करके काव्य की अंतर्वस्तु और अभिव्यंजना दोनों क्षेत्रों में नवीनता ला दी।

प्रयोगवादियों के बारे में अज्ञेय की यह टिप्पणी बहुत प्रसिद्ध रही है - '...वे (कवि) किसी स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं - राही नहीं, राहों के अन्वेषी।' काव्य-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध को जैसी मंजिल मिल गई और वे कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर तक भी बन गये। मित्रों से इस पर खुली बहस भी करने लगे, जैसे मंजिल को नापने की बड़ी कवायद हो। मार्क्सवाद के प्रति यह आस्था दीर्घ अनुभूति और खोज की परिणति थी।

भारतीय समाज तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों में हमेशा अंतर्विरोधों की स्थिति बनी रही है। समाज वर्ग एवं जातियों का संघात रहा है तो राष्ट्रीय आंदोलन या राजनीति में क्रांतिकारी एवं अहिंसावादी मानसिकता या वैचारिकता का संघर्ष रहा है। मुक्तिबोध ने पराधीन भारत की पीड़ाओं से रू-ब-रू थे और आजादी के बाद के स्वप्न भंग की स्थितियों के भोक्ता भी। अतः पारिवारिक अभाव, नौकरी के लिए भाग-दौड़, सामाजिक विषमता, राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक दिवालियापन-उनकी मानसिक अशांति के कारण रहे हैं। ऐसी स्थितियों में उनकी काव्य-साधना 1948-49 तक (स्वातंत्र्योत्तर) नया मोड़ लेती है और इसी के साथ काव्य-विकास का तीसरा चरण शुरू होता है। 1958 में छत्तीसगढ़ के राजनांद गाँव के दिग्विजय सिंह कॉलेज में आ जाने के बाद उन्हें काफी संतोष एवं अस्थिरता से मुक्ति का एहसास होता है। वे उसे यों स्वीकार करते हैं - 'छत्तीसगढ़ में, जहाँ मुझे मेरे प्यारे छोटे-छोटे लोक मिले, जिन्होंने मुझे बाँहों में समेट लिया, और बड़े भी मिले जिन्होंने मुझे सम्मान और सत्कार प्रदान करके, संकटों से बचाया। मैं उन्हीं के कारण हूँ, आपके कारण मनुष्यता में विश्वास खो नहीं पाता। मैं सैद्धांतिक बात नहीं बता रहा हूँ। उस छत्तीसगढ़ का मैं ऋणी हूँ, जिसने मुझे और मेरे बाल बच्चों को शांतिपूर्वक जीने का क्षेत्र

दिया।' <sup>12</sup> राजनांद गाँव में छः साल के प्रवास में जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्य-साधना को अंजाम दिया। प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' की रचना यहीं पर हुई।

तीसरे चरण की और संपूर्ण जीवन की जिन कविताओं के लिए मुक्तिबोध हिंदी जगत में अमिट हस्ताक्षर बने हुए हैं उनका प्रमुख व एकमात्र संकलन है-चाँद का मुँह टेढ़ा है।' इसमें संकलित कविताएँ मार्क्सवादी ऊर्जा की परिणति हैं और इसमें 'राजपथ' नहीं जनपथ को प्रशस्त करने के लिए अपने कवि-विवेक को झोंक दिया है। लिखते हैं- 'यह जनपथ, / यहाँ से गुजरते हैं फूल चेहरों के/ लिये आलोक आँखों में।' <sup>13</sup> सर्वत्र उनकी पक्षधरता स्पष्ट है मानववादी चिंतन के धरातल पर। साम्राज्यवादी शोषण विरोधी स्वर सर्वत्र अनुगुंजित है-फंतासी में, बिंबों में, प्रतीकों में, इतिहासबोध में। यह सच है कि उन्होंने अपनी कविताओं में रूसी क्रांति या वर्ग संघर्ष आदि मार्क्सवादी वाह्योपकरण के नाम नहीं लिए हैं, क्योंकि उनका वह दर्शन मानववादी चिंतन के रूप में अभिव्यक्त है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' मुक्तिबोध की सर्वाधिक चर्चित कविता है जिसमें सन् 53 की हड़ताली वातावरणों का चित्रण है और चाँद क्षयिष्णु पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। 'टेढ़े मुँह चाँद की ऐयारो रोशनी' के माध्यम से पूंजीवादी षड्यंत्र को बेनकाब कर देना चाहते हैं तो दूसरी तरफ यह चिंता जताते हैं - 'सुबह होगी कब और/ मुश्किल होगी दूर कब।' ('चाँद का मुँह टेढ़ा है')

जाहिर है कि एक समय कम्युनिस्टों को संदेह की नजर से देखा जाता था। नागपुर आने के बाद मुक्तिबोध ने पार्टी सदस्यता छोड़ दी थी। पार्टी कार्यकर्ताओं की अवसरवादिता से खिन्न थे। सन 50 के बाद नई कविता (1954 में जगदीश गुप्त के संपादन में 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन) के क्षेत्र में मुक्तिबोध का अपनी मौलिकता के साथ डटे रहना और 1960 के बाद के विविध काव्यांदोलन के भीतर अपनी स्वतंत्र उपस्थिति

को बरकरार रखना मुक्तिबोध की काव्य-साधना के लिए कम बड़ी बात नहीं है। नई कविता के क्षेत्र में अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव को स्वीकृति दी जाती है और रामविलास शर्मा को लगता है कि इन पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव था। ऐसे आकलन के जवाब में अशोक चतुर्थ लिखते हैं - 'मुक्तिबोध की मार्क्सवादी समझ और आस्था की स्पष्ट पहचान है 'अंतःकरण का आयतन' शीर्षक कविता। यह कविता मुक्तिबोध के उन आलोचकों के लिए एक जरूरी कविता है, जो उनके काव्य में रहस्यवाद, उलझाव, अनेकार्थता, व्यक्ति के अंतर्मुखी तनाव, अस्तित्ववाद या अतिथार्थवाद ढूँढ़ते रहे हैं। यह कविता बताती है कि संवेदनात्मक उद्देश्यों और भावधारा, ज्ञान-धारा और संवेदना के द्वंद्वत्मक संबंधों से निकली हुई उनकी फैंटेसी भाववादी शिल्प होते हुए यथार्थवादी कथ्य की वाहिका रही है।'<sup>15</sup> दरअसल अपने अंतिम दौर की कविता जिसमें कवि यह प्रतिज्ञा दोहराता है- 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/ उठाने ही होंगे/ तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब/ पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार/ तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें/ जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता/ अरुण कमल एक।'<sup>16</sup>

(अंधेरे में)

वह कवि निश्चय सामाजिक सरोकार और प्रतिबद्धता का ही अवश्य ज्वलंत प्रतीक है। वह कभी अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ धोखा नहीं कर सकता जिसे परिश्रमपूर्वक अनुभूति के बल पर मार्क्सवादी दर्शन से अर्जित किया है। अपने स्वल्पकालीन जीवन में हिंदी काव्य के कई आंदोलनों, जैसे-छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, साठोत्तरी विविध आंदोलनों से साक्षात्कार किया और उनके दर्शनों से अवगत हुए पर मनुष्य को अधिक मानवोचित बनाने हेतु अपने यथार्थवादी कवि कर्म को 'कला जीवन के

लिए' विचार के प्रति समर्पित किया और इस हेतु उनका काव्य-सृजन मार्क्सवादी दर्शन से उर्जस्तिव रहा।

## संदर्भ सूची

1. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009
2. सिंह दूधनाथ, 'मुक्तिबोध साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ', प्रथम संस्करण : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या - 11
3. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-एक, पृष्ठ संख्या - 87, (कविता शीर्षक 'जब तुम मिल न सकी')
4. वही, पृष्ठ संख्या - 58
5. छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध, सं. राजेंद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 2014, पृष्ठ संख्या - 264
6. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-22
7. सफदर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1989, पृष्ठ संख्या - 67 (पंक्तियाँ प्रयाग शुक्ल द्वारा अनूदित)
8. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-32
9. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-35
10. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-39
11. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-41
12. तारसप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली, संस्करण : 2009, पृष्ठ-22
13. छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध, सं. राजेंद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण : 2014, पृष्ठ संख्या-10
14. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ संख्या - 205, (कविता 'अंतःकरण का आयतन')
15. चक्रधर अशोक, 'मुक्तिबोध की कविताई', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 1998, पृष्ठ संख्या-20
16. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', (कविता 'अंधेरे में') भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड, दिल्ली, ग्यारहवाँ संस्करण : 1998, पृष्ठ संख्या-287

## हिंदी कविता का पिकासो : विष्णु खरे

निशांत

2017 में राजकमल से विष्णु खरे की 'प्रतिनिधि कविताएँ' छपनी थी। एक दिन विष्णु खरे ने केदारनाथ सिंह को फोन करके कविताओं के चयन और एक भूमिका लिखने के लिए कहा। केदार जी सहर्ष तैयार हो गए। उन्हें थोड़ा आश्चर्य हुआ कि "उन्होंने मुझे क्यों चुना या मुझ पर भरोसा क्यों किया?" लेकिन वह पुस्तक उसी साल आई और केदारनाथ सिंह अपनी भूमिका जहाँ खत्म करते हैं, वे देखें- "यह कवि अपनी भाषा में एक महाभारत लिख रहा है-छोटा-सा गहन-गंभीर और बेशक मारक भी?" (प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 8) केदारनाथ सिंह ने उन्हें महाभारत का कवि कहा है। महाभारत यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक तो भारत (देश) नहीं महा भारत (विशाल देश) और दूसरा महाभारत ग्रंथ के शिल्प, शैली, विशालता, लोगों या चरित्रों का छल-छद्म चित्रण, मिथकीयता आदि के संदर्भ में। वैसे भी विष्णु खरे रामायण की तुलना में महाभारत को ज्यादा पसंद करते थे। 'महाभारत' में इतने 'शेड्स' हैं, जितने 'भारत' में। विष्णु खरे ने महाभारत के पात्रों, घटनाओं, युद्ध में गायब सैनिकों आदि पर कई कविताएँ लिखी हैं। विस्तार से लिखा है। 'महाभारत' कई अर्थों में 'भारत' को प्रस्तुत करता है। साथ ही साथ विष्णु खरे के लेखन के 'वैरियेशन' को इतने कम शब्दों में केदार जी ही पकड़ सकते थे कि 'यह कवि अपनी भाषा में महाभारत लिख रहा है।' महाभारत लिखना एक बड़ा काम करना है, अपने समय में। अपने समाज में। अपने आप में। इसमें कोई शक नहीं है कि विष्णु खरे अपनी कविताओं में 'वही काम' कर रहे थे। वे कुछ और बड़ा करते कि 19 सितम्बर 2018 की उनकी असमय मृत्यु ने उन्हें वह काम करने से रोक दिया।

विष्णु खरे अपने समय के महत्त्वपूर्ण वरिष्ठ कवियों, समकालीन कवियों और युवा कवियों तथा कविता के पाठकों के बीच काफी सम्मानित और आदरणीय बने रहें जबकि वे, उनका व्यक्तित्व और उनकी कविताएँ इसका काफी विरोध करती हैं। 'शोक सभा' में भी उनकी इच्छा के वशीभूत होकर जो काम खुलेआम नहीं करते या नहीं कर पाते, उसे वे वहीं ('विलोम' शीर्षक कविता में) लिखते हैं- "बहुत रख चुके/ अब हम इस इंसान की स्मृति में एक सेकेण्ड का भी मौन नहीं/ बल्कि चुप्पी के सारे विलोम रखें और वह भी महज दो मिनट के लिए और यही नहीं/ यानी आवाज बात बहस ध्वनि कोलाहल शोरगुल रव गुहार आह्वान तुमुलनाट बलवा/

बगावत चारसू” (पृ. 441) उनकी इस विलक्षणता के लिए ही उन्हें लोग प्यार करते थे।

“विष्णु खरे एक विलक्षण कवि हैं- लगभग लासानी” और “विष्णु खरे की कविताएँ हिंदी भाषा के सामर्थ्य को कई तरह के विषयों में ले जाकर विस्तृत और स्थित करती है।” पहला वाक्य कवि केदारनाथ सिंह का है और दूसरा कुँवर नारायण का। हमारे समय के दो श्रेष्ठ कवियों ने विष्णु खरे के कवि को विलक्षण और विस्तृत पाया है। उसकी प्रशंसा की है और वह भी पूरे मनोयोग से उन्हें पढ़ते हुए। आजादी के बाद मुक्तिबोध की परंपरा के वे सबसे बड़े कवि हैं और ढंग के अनूठे कवि।

अभी-अभी सेतु प्रकाशन से विष्णु खरे की समग्र कविताओं का संचयन ‘सेतु समग्र: कविता विष्णु खरे’ के नाम से आया है। इसकी भूमिका में हमारे समय के वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल ने लिखा है- “कविता के संसार में ऐसे रचनाकार हमेशा से कम रहे हैं, जिन्होंने कविता में प्रस्थापना-परिवर्तन किया और कविता के इतिहास में भी बदलाव किया।” ये इस भूमिका की पहली पंक्ति अर्थात् पहला वाक्य है। मंगलेश डबराल ने भी विष्णु खरे को कविता के इतिहास को बदल डालने वाला कवि माना है।

हिंदी कविता का इतिहास कोई छोटा-मोटा इतिहास नहीं है। वह हिंदी समाज और हिंदी जाति का भी इतिहास है। इसकी एक लंबी गौरवशाली परंपरा रही है। जैसे-जैसे समय और समाज ने करवट बदली, वैसे-वैसे हर समय समाज को कवियों ने अपनी कविता में दस्तावेजीकरण किया। चारण-भाट से लेकर उदारीकरण तक के समय को। 1972 के ‘आलोचना’ में प्रकाशित ‘टेबिल’ कविता से विष्णु खरे ने हिंदी कविता के मिजाज को बदलना शुरू किया और सातवें संग्रह ‘और अन्य कविताएँ’ तक आते-आते कविता के इतिहास में ‘बदलाव’ तक कर डाले। यह बदलाव चुपके से नहीं डंके की चोट पर उन्होंने किया। कविता के आम

आदमी के आक्रोश की भाषा में तब्दील कर दिया जो एक समय हिंदी कविता से गायब हो चुका था। आक्रोश की अभिव्यक्ति में ही उनकी कविताएँ गद्यमय होती गईं। जीवन-संग्राम की भाषा में जब लिखी जायेगी तो वह विष्णु खरे की कविताएँ बन जायेंगी।

कभी कविता के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था- “जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।” कहाँ हृदय है और कहाँ आत्मा, यह सवाल जाने भी दें तो उपर्युक्त कथन में रसदशा और ज्ञानदशा की बात कही गई है। विष्णु खरे की कविता में बुद्धि और हृदय दोनों का मणिकांचन संयोग नजर आता है, मुक्तिबोध के शब्दों में ‘ज्ञानात्मक संवेदना’ की तरह। ऐसी कई कविताएँ हैं जो एक तरफ सोचने को विवश करती हैं तो दूसरी तरफ रोने को। ठीक ‘मार खा रोई नहीं’ की तरह। एक का जिक्र करूँगा, शीर्षक है ‘बेटी’। यह उनकी अपनी बेटी पर लिखी गई कविता नहीं है। पहला वाक्य देखिए, समझ में आ जायेगा- “जाने से पहले उसने कहा/ अपनी बेटी समझकर ही मुझे रख लीजिए।” और अंतिम बंद है- “सुबह फिर निकल जाती हैं मेरी हजारों बेटियाँ/ एक परेशान डरी हुई अपमानित उम्मीद लिए/ अपनी असली पिताओं से अलग उस पिता की तलाश में/ जो उन्हें बेटी या काबिल माने न माने रख तो ले।” (पृष्ठ 362-63) ये कविता ‘बुलंद भारत’ की दयनीय तस्वीर दिखलाती है। प्रकारांतर से यह बतलाती है कि लड़कियों की यह स्थिति हैं तो बेरोजगारों की कितनी संख्या होगी, इस ‘बुलंद भारत’ में। सच में नंगा आख्यान रचती है विष्णु खरे की कविताएँ हमारे समय के भयावह सच को विष्णु खरे की एक और कविता ‘संकेत’ देखती-पकड़ती है, “ठूठों पर बैठे गिद्ध श्येन और चील शवों की घात में नीचे देखते हैं, कोकिलों, शुकों, मयूरों, चातकों के कंठ से लपटें और चीत्कार निकलते हैं वे ध्वजों पर बैठकर उन्हें नोच डालते हैं।

रात में एक पक्षी मडराता है जिसके एक आँख एक डैना एक पंजा है और जब वह कुछ होकर बोलता है तो ऐसे कि कोई रक्त वमन करता हो घरों में घूस आते हैं और जीवित मनुष्यों का मांस नोचते हैं आतंकित जो आर्तनाद तक नहीं कर पाते/ आकाश कभी भी टिड्डियों से आच्छादित हो जाता है तो प्रत्येक जीवित वनस्पति और प्राणी को कुतर डालती है। गर्दभों को जनती है गाँव हाथियों को खच्चरियाँ श्वानों को शूकरियाँ दो मस्तक चार नेत्र तीन सिंग अनेक दाढ़ों पाँच पैर दो मुत्रेद्रिय दो पूँछ वाले अकल्पनीय पशु जन्म लेते हैं और भयावह अश्रव्य वाणी में बोलते हैं। चूहे छछूंदर गोधिकाएँ चीटें तिलचट्टे सोते हुए स्त्री पुरुषों शिशुओं के नख उँगलियाँ केश कुतरकर खाते हैं और उन्हें भान तक नहीं होता” (पृष्ठ 465) यह कविता महाभारत के समय का आधुनिक वर्जन है। यह एक लंबी कविता का लंबा अंश है, जो हमें बतलाता है कि हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं, जहाँ गिद्ध घरों में घुस आते हैं और हम चिल्ला तक नहीं सकते। चींटे-तिलचट्टे तक हमारा मांस कुतरकर खायेंगे और हम सोते रहेंगे। क्या ‘गणतंत्र’ में एक बार फिर ‘अंग्रेजी तंत्र’ की भयावहता की वापसी नहीं हुई है? महाभारत जैसा षड्यंत्र फिर नहीं दिखलाई पड़ता? कुँवर नारायण ने ऐसी ही कविताओं को ध्यान में रखते हुए विष्णु खरे के लिए लिखा है- “महाभारत प्रसंग में रिपोर्ताज शैली का इस्तेमाल कविता, मिथक और मौजूदा यथार्थ को एक दुर्लभ त्रिकोणात्मक तनाव देता है।” विष्णु खरे की कविताएँ तनाव की रस्सी पर संतुलित और सधे हुए कदमों से चलती हैं। वे तनाव के कवि हैं, कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगा। ठीक कहानियों की तरह।

यह भी सही है कि विष्णु खरे की कई कविताएँ कहानियों का आभास देती हैं। कविता के अंदर एक कथा तत्व चलता रहता है। पहले जहाँ कविता के दीर्घायु होने के लिए लय छंद का सहारा लेना पड़ता था, अब वह कथा का सहारा लेती है। कहानी से कविता

की आयु बढ़ती है। वास्तव में कविता कहानी को उसकी पूरी संवेदनशीलता के साथ, कम से कम शब्दों में अधिक लोगों तक संप्रेषित करती है।

विष्णु खरे की ढेर सारी कविताएँ गद्य या कहानी के निकट हैं। उन पर गद्य में कविता लिखने का आरोप लगा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक कथन है, “गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है।” लुई वोर्हेस कहते हैं- “कविता गद्य से जन्मी है और वह गद्य में लौट जाना चाहती है।” विष्णु खरे की बहुत सारी कविताएँ गद्य की वापसी की कविताएँ हैं। ये लंबे समय तक अपने ठोस गद्य और कहानीपन के साथ पाठकों के पास बनी रहती हैं। पाठक खीझ सकता है पर उनकी उपस्थिति को नकार नहीं सकता।

विष्णु खरे के पास नकार की भाषा है, लेकिन यह नकार इसी समय की देन है। यह नकार कुछ न कर पाने की बेचैनी से उपजता है। इस नकार की वजह से उनकी भाषा और अधिक जटिल हो सकती थी, लेकिन उनके लालित्यमय गद्य ने इसे बचा लिया। कविता में इतना लालित्यमय गद्य का प्रयोग विष्णु खरे की खासियत है। इसके लिए विष्णु खरे की कविताएँ याद की जायेंगी। विष्णु खरे हिंदी कविता के सच्चे अर्थों में बोहेमियन कवि रहे हैं। वे लकीर के फकीर कभी नहीं रहे, उन्होंने अपनी फकीरी से नया लकीर बनाया। वे सच्चे अर्थों में रघुवीर सहाय के परंपरा के बारिश थे, जबकि कविता में बारिश जैसा कुछ नहीं होता। कवि, कवि होता है या फिर नहीं होता। विष्णु खरे कवि थे, कवि हैं और कवि रहेंगे।

विष्णु खरे की कविता रोज के जीवनानुभव को गद्य की शक्ल में पर कविता के भाव में सामने रखती है। कभी कहा गया था कि ‘गद्य जीवन संग्राम की भाषा है।’ विष्णु खरे उसी ‘जीवन-संग्राम’ को कविता के भाव में गद्य के शिल्प में लिख रहे थे। वास्तव में कविता में यह गद्य आता कहाँ से है? कोई कवि गद्य में क्यों कविता लिखने लगता है? आधुनिक कविता



गद्य की भाषा में होते हुए भी 'रबर छंद' में लिखी जाती है, विष्णु खरे ने निखालिश गद्य में लिखा और कहा कि यह कविता है। लोगों ने माना भी। क्यों? कई सारे प्रश्न हमारे सामने विष्णु खरे की कविता उठाती है। कभी मुक्तिबोध ने कविता के तीन क्षणों की बात की थी। जीवन से कविता तक की यात्रा को समझने में उनकी वह बात मदद तो करती है लेकिन विष्णु खरे कविता को और जीवनमय बनाते हैं। जीवन समुद्र की तरह हरहराकर उनकी कविता में आता है और तब वह गद्य की शरण में उस जीवन को लिपिबद्ध करने लगते हैं।

जीवनानुभव बड़ा और विशाल होता है तो वह साहित्य के बने-बनाए हुए 'फार्म' में नहीं अट पाता। कविता से बड़ा है विष्णु खरे के पास का अनुभव और विष्णु खरे जब भी इसे पकड़ने की कोशिश करते हैं कविता गद्य की तरह होने लगती है।

ऐसा नहीं है कि विष्णु खरे न जानते हो कि कविता क्या बन रही है। शिल्प के स्तर पर वह कुछ और हो रही है। पर वे कुछ नहीं कर पाते होंगे? क्योंकि कविता अपना 'फार्म' खुद लेकर चली आती होगी। रचनाकार, रचना के सामने असहाय हो जाता है। वह रचना के सामने नहीं, जीवन की विशालता के सामने आत्मसमर्पण कर देता है। जीवन को उसकी विशालता में पकड़ने के चक्कर में कविता गद्यमय होती चलती है। इसलिए ढेर सारे कवि कविता के बदले कहानी उपन्यास की तरफ बढ़ने लगते हैं और काफी अच्छी कहानियाँ-उपन्यास लिख डालते हैं। निराला से लेकर विनोद कुमार शुक्ल तक इसके उदाहरण हैं। बीच में मुक्तिबोध है। विष्णु खरे मुक्तिबोध को ही अपना सृजन पिता भी मानते थे। लेकिन मुक्तिबोध की तरह उन्होंने कहानियाँ नहीं लिखी। यह दीगर बात है कि उनकी कविताएँ ही उनकी कहानियाँ हैं। उनका एक संग्रह 'काल और अवधि के दरमियान' अपनी गद्य कविताओं के लिए खूब चर्चित भी हुआ था। गुजरात दंगों के बाद 'शिविर

में शिशु' जैसी चर्चित कविता उस में संग्रहित है। यह एक लंबी कविता है।

विष्णु खरे ने अधिकतर लंबी कविताएँ लिखी हैं। उनके पास कहने को इतना अधिक रहता है कि वे छोटी कविताएँ लिख ही नहीं पाते और लिखते भी हैं तो वे अधूरी-अधूरी लगती हैं। विष्णु खरे के 'प्रतिनिधि कविताएँ' की भूमिका में कवि केदारनाथ सिंह ने सही लिखा है- "कुछ बातें, जिनके चलते मैं उन्हें कवि मानता हूँ- बल्कि पूरा हिंदी-पाठक वर्ग उन्हें कवि मानता है, उन्हीं का जिक्र करूँगा। वे लंबी कविताओं के कवि हैं, जैसे मुक्तिबोध लंबी कविताओं के कवि हैं। पर दोनों में अंतर है। मुक्तिबोध की लंबाई लय के आधार को छोड़ती नहीं-धीरे-धीरे वह कम जरूर होता गया है। विष्णु खरे गद्य की पूरी ताकत को लिए-दिए चलते हैं- उसे तोड़ते-बिखरते हुए, बीच-बीच में संवाद का सहारा लेते और जहाँ-तहाँ उसे डालते हुए चलते हैं और लय को न आने देते हुए। यह उनकी शैली है- हालांकि वे कोई शैली बनाते नहीं, वह कवि के बावजूद बनती चली जाती है।" विष्णु खरे को अपने शुरुआती दिनों में ऐसी कविताओं के लिए आलोचना भी सहनी पड़ती थी। फिर धीरे-धीरे वे समादृत हुए।

कविता के बने-बनाए हुए ढाँचे को तोड़कर जब भी कोई कवि कुछ नया करना चाहता है तो शुरू में उसकी भर्त्सना होती है। कड़ी आलोचना होती है। उसे कुजात कवि घोषित कर दिया जाता है। लेकिन सच्चा कवि उन बर्जनाओं को तोड़कर अपनी कविता को लेकर सामने आता है। विष्णु खरे लगभग वैसे ही कवि हैं। वे अपने समकालीनों से थोड़ा हटकर हैं। भाषा वहीं है, शिल्प थोड़ा हटकर है। जीवन वहीं है, उसकी भावाभक्ति हटकर है। 78 साल के जीवन में सिर्फ सात कविता संग्रह। यह बतलाता है कि कवि अपने कविकर्म को लेकर खासा चौकन्ना था। नहीं तो इतने लंबे जीवन खंड में तो कवि क्या-क्या और कितना-कितना लिख जाते हैं।

विष्णु खरे ने कम लिखा है लेकिन उनके लिखे में व्यापकता और गहराई काफी है। वे जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखने के कायल हैं। इसलिए कम शब्दों के बदले अधिक शब्दों से वे कविता का कैनवास रंगते हैं। कविता के लिए यह सामान्य वाक्य बार-बार सुनने को मिलता है कि 'गागर में सागर भरना' लेकिन विष्णु खरे के यहाँ मितव्ययिता के बदले शब्दों की बहुतायत अधिक मात्रा में है। अधिक से अधिक शब्दों का इस्तेमाल करके वह एक बड़ा कैनवास रंगते चले जाते हैं, कविता का। उनकी अधिकतर कविताएँ पिकासों की पेंटिंग 'गुएर्निका' की याद दिलाती हैं। शमशेर बहादुर सिंह खुद एक अच्छे चित्रकार थे और चित्र की तरह कविता भी लिखते थे। विष्णु खरे चित्रकार नहीं थे लेकिन वे कविता में चित्र उकेर देते थे। केदारनाथ सिंह ने शायद इसीलिए (वहीं) लिखा है- "किसी चीज को शब्दों में जिंदा कर देना एक कवि की सिफत है और विष्णु खरे के पास वह जादू है।" यह जादू यथार्थ के भार से आक्रांत है। यथार्थ की इतनी छवियाँ हैं यहाँ और इतनी लंबी-लंबी की लगता है फिल्म के कैमरे से लॉग शाट और क्लोज शाट दोनों एक साथ लिए गए हैं। विष्णु खरे कविता में चित्र और फिल्म एक साथ बनाते हैं। लगता है कैमरा लॉग शाट से क्लोज और क्लोज से आकर स्टील फोटोग्राफी में बदलकर चित्र में तब्दील हो जाता है।

कला माध्यम अपना रूप बदलती रहती है। एक अच्छी रचना कई कला माध्यमों में आवाजाही करती रहती है। एक अच्छा कलाकार भी कई कला माध्यमों की जानकारी रखता है। उनसे प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित करने का प्रयास भी करता है। हर कला माध्यम एक-दूसरे कला माध्यम को छूना चाहती है। कविता, गीत में या चित्र में बदल जाना चाहती है। वह लाखों लोगों के कंठ में बस जाना चाहती है। लाखों लोगों के हृदय का हॉट और आँखों में चित्र की तरह बस जाना चाहती है। विष्णु खरे की कविताएँ ऐसा

करने की लगातार कोशिश करती हैं और इसमें वे कुछ-कुछ सफल भी रहती हैं। कला या कविता एक से बहुआयामी होना चाहती है। इसलिए जब पिकासो पूछा गया था कि क्या ये चित्र आपने बनाया है तो उसने उत्तर दिया था- नहीं, आप लोगों ने मिलकर इसे बनाया है।

एक कलाकार का मानस कैसे व्यक्ति से सामूहिक बनता है। विज्ञान की भाषा में जानना काफी दिलचस्प होगा। अंतर्राष्ट्रीय स्तर के मनोचिकित्सक और कवि विनय कुमार की भाषा उधार ले तो कह सकते हैं कि- "वह चीज है मानस जो एक बहुआयामी बायोसाइको सोशल कॉन्स्ट्रक्ट है। सबसे पहले बायो यानि जैविक, उसके बाद मानसिक तब सामाजिक। तो मानस बुनियादी इकाई है। वह कोशिकाएँ जिन्हें न्यूरोन कहते हैं और जिनके मिलने से दिमाग बनता है, इनकी रचना और कार्यिकी मूलतः क्रोमोजोम्स और हार्मोन्स के प्रभाव से तय होती है। जब एक बार शरीर और उसके भीतर दिमाग बन गया तो वह क्रियात्मक होकर मन बनता है और मन जैविक और परिवेशगत प्रभाव के बीच लगातार परिवर्तित होता चलता है। इस प्रक्रिया में वह उस समाज से अनगिनत अदृश्य माइक्रोकेबल्स से जुड़ता जाता है जो मन की तरह ही एक डायनेमिक कान्स्ट्रक्ट है- सभ्यता के सारे अच्छे-बुरे अनुभवों का विशाल साइबर स्पेस जिसे जुंग सामूहिक अचेतन कहते हैं। वैयक्तिक और सामूहिक दोनों अचेतन प्रकाशित समय के कारण आपस में जुड़े होते हैं। व्यक्ति का अचेतन अपने नये विचारों और आविष्कारों से सामूहिक अचेतन का विस्तार करता है और सामूहिक अचेतन अपने अनंत संग्रहालय से अटने, पचने और कुछ अलग नया रचने लायक ज्ञान, अनुभव और छवियाँ साझा करता है। तमाम कलाएँ जिसमें कविता भी शामिल है अचेतन से पैदा होती है। कोई भी कला या कविता कितनी समसामयिक, कितनी शाश्वत, कितनी आत्मपरक और कितनी सामाजिक-राजनैतिक है, यह इस बात पर

निर्भर करता है कि व्यक्ति और सामूहिक अचेतन के बीच जुड़ाव और घनिष्ठता की बनावट, भू-गोल और केमेट्री क्या है? (पाखी, मई-2014, पृष्ठ 72) मुक्तिबोध याद आते हैं। कविता का पहला से लेकर दूसरा क्षण याद आता है। खैर...। तो विष्णु खरे का यह व्यक्ति अचेतन सामूहिक अचेतन को 'रिप्रजेंट' करना चाहता है इसलिए किसी दूसरी की बेटी, सारे भारत की बेटी बन जाती है। उनके अपने अचेतन मानस का निर्माण सामूहिक अचेतन के मानस से जुड़ने लगता है। उसके तरह कार्य करने लगता है। वहाँ अनगिनत अदृश्य माइक्रोकेबल्स हैं जो उन्हें वृहत्तर भारतीय मानस की छवियाँ दिखलाता है। इसलिए 'जिनकी अपनी कोई दुकान नहीं होती, जो टेपो में घर बदलते हैं, जो मार खा रोई नहीं, जर्मनी में एक भारतीय कम्प्यूटर विशेषज्ञ की हत्या पर वह वक्तव्य जो वर्तमान सरकार देना चाहती है..., आलेने, दिल्ली में अपना लैट बनवा लेने के बाद एक आदमी सोचता है, विनाशग्रस्त इलाके से एक सीधी टी.वी. रपट, कानून और व्यवस्था का उप-मुख्य सलाहकार सचिव चिंतित प्रमुखमंत्री को परामर्श दे रहा है, 'सिर पर मैला ढोने की अमानवीय प्रथा' जैसी अनेक कविताएँ हैं जो सामूहिक अचेतन की कविताएँ हैं। 'सिर पर मैला ढोने की अमानवीय प्रथा' से एक कवितांश देखें और तय करें, विष्णु खरे की सामूहिक अचेतन- "बहरहाल अब जबकि/ सिर पर मैला ढोने की इस अमानवीय प्रथा को/ संसद में संज्ञेय अपराध घोषित किया जा चुका है। तो यह बाद में देखा जायेगा/ कि मुजरिम ढोने वाला हैं या दुलवाने वाले/ लेकिन जिस तरह देश छुआछूत जात-पाँत/ दहेज सती बंधुआ मजदूर निरक्षरता नारी व्यापार/ धार्मिक भेदभाव सामाजिक अन्याय गरीबी/ मलेरिया चेचक आदि से मुक्त घोषित हो चुका है/ इसी तरह एक चरणबद्ध कार्यक्रम के अंतर्गत/ गू को न ढोने को लागू कर दिया जायेगा/ अगली दो पंचवर्षीय योजनाओं में/ मल को माथे पर से हटाने पर अमल होगा/ करोड़ों भारतीय

निपटेंगे इस समस्या से तृणमूल स्तर पर/ खोजेंगे मैले को अमानवीय ढंग से ढोने की दिशा मैदान मेलों में/ एक देशव्यापी अभियान के अंतर्गत अं की बिंदी हटकार/ सोंचने को राष्ट्रीय सोचने में बदलेंगे हम" (पृष्ठ 495-496)। सामूहिक अचेतन का व्यक्ति अचेतन पर यह व्यापक प्रभाव है। यह यथार्थ का काव्यांतरण है।

वास्तविकता का जब कवि मानस पर काफी दबाव होता है तो वह शब्दों के माध्यम से उस वास्तविकता (यथार्थ) का चित्र उकेरने की कोशिश करता है। इस स्थिति में कविता की गति और स्फिति दोनों बढ़ने लगती है। मुक्तिबोध के साथ भी ऐसा ही होता था। उन्होंने खुद लिखा है- "यथार्थ इतना गतिशील होता है कि जब तक उसे कविता में पकड़ू, वह आगे बढ़ जाता है। उसे पकड़ने के चक्कर में ही मेरी कविताएँ लंबी होती जाती है। विष्णु खरे के साथ भी ऐसा ही होता होगा। एक साधारण सी क्रिया है 'लालटेन जलाना' लेकिन विष्णु खरे इसे ऐसे लिखते हैं कि यह लंबी हो जाती है, कविता की भाषा और संवेदना में। यह एक क्रिया से यथार्थ, यथार्थ से फिल्म (बोलती हुई) और फिर चित्र में तब्दील हो जाती है। "वे लालटेन 'लिखते' नहीं उसे देखते हैं।" कलाएँ देखे और भोगे हुए का ही आख्यान रचती हैं। वे उन्हें संगीत या चित्र में तब्दील कर देना चाहती है। इसलिए कविता में लय का इतना महत्व होता है और रामचंद्र शुक्ल ने तो अच्छी कविता ही उसे माना है जहाँ कवि आँखों के सामने चित्र उकेर दे।

यथार्थ का गतिशील चित्र उनकी कविताओं की खाशियत है। शुरुआती संग्रह में यह चित्रमयता कम थी, खासकर पहले संग्रह- 'पिछला बाकी' में। लेकिन थी। वहाँ राहत, यह परदा, स्वीकार, वर्ष राग, एकांत, स्मरण, रुदन जैसी छोटी कविताएँ हैं तो 'हँसी' जैसी लंबी कविता भी। 'हँसी' में एक युवा कवि जो कविता के लिए तीन पुरस्कार पा चुका है वह अपने पाए हुए

पुरस्कार पर ही हँसकर उनका माखौल उड़ा रहा है। यह एक लंबी कविता है, जहाँ 'मार खा रोई नहीं' का भाव 'पुरस्कार पा रोई नहीं' की तरह दिखता रहता है। दिखना भी सही शब्द नहीं है। पूरे कविता पर फैला रहा है। एक आत्म करुणा जो आत्म दया से थोड़ा कम है वहीं विष्णु खरे की विशेषता है। यथार्थ का झंझावत रूप तो है लेकिन आत्म करुणा मूल में है। पिकासो की तरह।

पिकासो जो चित्रों में आंक रहे थे। वही काम विष्णु खरे हिंदी कविता में कर रहे थे। विष्णु खरे कविता में बहुत कुछ एक साथ कर रहे थे। उनकी किसी भी एक प्रतिनिधि कविता को आप पढ़कर इसे महसूस कर सकते हैं। मेरा एक सुझाव है, उनकी दो में से कोई एक कविता 'बेटी' (छोटी) और 'होनहार' (गद्य में लगभग ढाई पृष्ठ) आप पढ़ेंगे तो काफी कुछ क्लियर हो जायेगा कि वे कविता में बहुत कुछ एक साथ करते थे। वे अपनी कविता के साथ एक तानाशाह की तरह व्यवहार करते रहे हैं। वे जो कहते हैं, कविता वहीं करती हैं। वे जो लिखते हैं, कविता वही लिखती है। वे जो चाहते हैं, कविता वही चाहने लगती हैं। वही 'शो' करती है। तानाशाह की भाषा और शैली में वे कविता लिखते, पढ़ते छपाते और दिखाते हैं। संपादक हो या पाठक, श्रोता हो दर्शक, वही देखता, छापता, सुनता है जो विष्णु खरे कहते-लिखते हैं। यहाँ विष्णु खरे ही सब कुछ है। बाकी कोई कुछ नहीं। इसलिए आलोचकों ने उन्हें भले कवि न माना हो लेकिन उनकी कविताओं को 'विष्णु खरे की कविताएँ' कहा है।

विष्णु खरे का 'रेंज' काफी बड़ा था। उनका पहला मुक्कमल संग्रह जो 1978 में 'खुद अपनी आँख से' छपकर आया तो रघुवीर सहाय ने 26 नवंबर- 2 दिसंबर 1978 के 'दिनमान' में उसकी समीक्षा करते हुए लिखा था कि- "कहानी में कविता कहना विष्णु खरे की सबसे बड़ी शक्ति है। इस संग्रह में उनके रचना-संसार की विविधता का पता हमें उनकी विविध शक्तियों के

रूप में नहीं बल्कि इसी एक शक्ति के द्वारा उनकी अनुभूति के विविध प्रयत्नों के रूप में मिलता है। 'टेबिल' एक साथ कई जिंदगियों को एक साथ पकाकर एक गहरी करुणा की कविता बनाती है। इसमें तथा अन्य कई कविताओं में कवि अपने शिल्प-शैली को दोहराता हुआ सा लगता है। लेकिन यह भी एक फरेब है। हम इन कविताओं के दृश्यों को एक संपादित फिल्म की तरह से देखते हैं। और अगर हमें आज के शिल्प जगत से परिचय है तो हम उस निःशब्द फिल्म के पीछे एक संगीत भी कल्पना में सुन सकते हैं। वास्तव में यह संगीत कविता की भाषा की झंकार से पैदा नहीं होता। विष्णु खरे की भाषा तो हमें किसी रोमाण्टिक, रहस्यमय, गद्गद संसार में जाने से ठोकर मारकर बार-बार रोकती है। ऐसे ठोकर मारनेवाली निहायत किताबी और साधारणतया व्यंग्यजनक शब्द विष्णु खरे के यहाँ एक मोर्चे का हिस्सा हैं जो कि कविता के पास अनमने भाव से जाने वाले पाठक के खिलाफ लंबे ब्यौरेवार वर्णनों, साधारण नीरस घटनाओं, टिप्पणियों की मदद से जान-बूझकर बाँधा गया है।" विष्णु खरे पर रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध का प्रभाव मंगलेश डबराल बताते हैं- "विष्णु खरे का रचना-संसार बड़ी हद तक उन बेचैनियों और दुस्स्वप्नों से निर्मित हुआ था जो मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की रचनाओं के केन्द्र में थी।" लेकिन विष्णु खरे पर उन फिल्मों का भी काफी प्रभाव दिखता है जो यथार्थ को जीवन की तरह पकड़ती रही होगी। साथ ही उनकी दृश्यमयता भी। स्टिल फोटोग्राफी या पोस्टर तकनीक। विष्णु खरे फिल्मों से काफी प्रभावित जान पड़ते हैं। उनकी कविताएँ फिल्मों की तरह ही सुगठित है।

विष्णु खरे के पास डिटेल्स बहुत ज्यादा है। मन तो कर रहा है, उनकी एक लंबी कविता पूरा का पूरा उद्धृत करूँ। लेकिन नहीं, विष्णु खरे के पाठक/श्रोता जानते हैं ऊब की हद तक जाकर भी वे उनकी डिटेल्स को पसंद करते थे। क्योंकि विष्णु खरे 'लिखते' नहीं,

‘दिखाते’ थे। इन डिटेल्स के साथ वास्तविकता का चरम दबाव और उसे कविता में अंकित करने का कवि मन ज्यादा जरूरी कारण था। यह कारण मन के कोने में समय, समाज के विद्रुप से उपजा रहा होगा। एक कवि जीवन में बहुत कुछ नहीं कर पाता तो कविता में लिख देता है। लिखकर अपने भाव, इच्छा, चाहना को व्यक्त करता है। यह एक कठिन कार्य है। वह लगातार व्यवस्था से मुठभेड़ कविता के मैदान में करता है। वह अपने पीच पर लाकर व्यवस्था को चार-छः मारता है। विष्णु खरे ने क्रिकेट पर भी कुछ अच्छी कविताएँ लिखी है। लेकिन एक कवि यह भी जानता है कि कविता से व्यवस्था की सेहत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए वह लगातार एक ही ढंग की कविताएँ लिखता रहता है, इस आशा में कि कुछ तो बदले। कुछ तो टूटे। आगे चलकर वहीं उसका शिल्प, उसकी पहचान बन जाती है। विष्णु खरे की पहचान भी वही ‘डिटेलेंगी’ है। साथ में करुणा की बहने वाली अंदरूनी धारा। समय को पकड़ने की इतनी छटपटाहट एक कवि में क्यों होती है? वह क्यों अपने समय को कविता में आंककर अमर कर देना चाहता है? क्यों समय से टकराता है? क्यों उसका दस्तावेजीकरण करना चाहता है? क्यों? ऐसे ही एक प्रश्न के जवाब में विष्णु खरे ने ‘वागर्थ’ के एक अंक में जवाब दिया था- “कविताएँ ही नहीं, बल्कि सारा साहित्य और शेष कलाएँ, जैसी भी हैं या होंगी, समय का यानी मानव अस्तित्व का, अनंत प्रलेख या दस्तावेज हैं। मानव का मानव सरीखे कुछ के अस्तित्व के बिना ‘समय’ संभव ही नहीं है। ‘काल’ या ‘समय’ को सोचने-महसूस करने और अपनी क्षमता के अनुसार समझने के लिए कोई ‘दूसरा’, कोई ‘अन्य’ अनिवार्य है। पहले यह एक वैज्ञानिक तथ्य है बाद में आप इस पर कितना भी दर्शन खड़ा कर लीजिए, किंतु जिस क्षण ‘समय’ का लोप होगा, यानी उसे सोचने वाला मस्तिष्क नहीं रहेगा, डाक्यूमेंटेशन सहित ‘सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बंजारा।’ इसीलिए

मानव को मानव से बचाना है।” तो एक शाश्वत कार्य कविता करती है, मानव को बचाने का और अपने समय के दस्तावेजीकरण का। विष्णु खरे यह दोनों कार्य लगातार करते चलते हैं। इसीलिए उनकी कविताएँ साधारण से बढ़कर लंबी होती चलती हैं। शब्दों के माध्यम से वो उसे पकड़ने की लगातार असाधारण कोशिश करते चलते हैं। इसे पकड़ने की कोशिश में सबसे कारगर हथियार है ‘स्मृति’।

स्मृति, समय का ही दूसरा नाम है। विष्णु खरे बीते हुए क्षणों को स्मृति के सहारे फिर से जीते हैं। उसे जीवंत करते हैं। उसे कविता बनाकर बृहत्तर समाज को लौटाते हैं। चाहे वो ‘टेबिल’, ‘दोस्त’, ‘स्वर्ण जयंती वर्ष में एक स्मृति’, ‘लालटेन जलाना’, ‘दिल्ली में अपना फ्लैट बनवा लेने के बाद एक आदमी सोचता है’ ‘सोनी’, ‘स्कोर बुक’ आदि तमाम कविताएँ हैं जो स्मृतियों के सहारे कविता का एक एकदम नया संसार रचती है। यह एक आम आदमी की तस्वीर है। किसी संभ्रांत युवा या अफसर-प्रोफेसर का नहीं। विष्णु खरे ने अपनी कविता में अपने ‘डि-क्लास’ किया है। सिर्फ एक कविता में नहीं। कई-कई कविताओं में और कई-कई बार किया है। वे अपने को कविता में ‘प्रेजेंट’ नहीं करते थे। वे उस आदमी को प्रेजेंट करते हैं जो दिल्ली में टेंपो में अपना घर बदलता है। जो दिल्ली में फ्लैट बनवा लेने के बाद सोचता है कि दीदी, बुआ, माँ, पिता को कौन सा कमरा देता, रहने के लिए। वह संवेदनाओं का विस्तार करता जाता है। कभी अज्ञेय ने कहा था- “अपनी बात कहना आसान है लेकिन दूसरों की बात अपनी बात की तरह कहे वह बड़ा कवि है। विष्णु खरे निसंदेह बड़े कवि हैं। बड़े मानस की ये बड़ी कविताएँ हैं।

विष्णु खरे एक साधारण व्यक्ति से लेकर महाभारत तक के पात्रों की मनःस्थिति का अंकन अपनी कविता में करते हैं। और तो और ‘दम्यत्’ जैसी कविता में भाई जी का चित्रण तो हिंदी कविता में ‘मार खा रोई नहीं’

जैसी बात है। एक गाली और सबसे भयानक गाली का इतना काव्यमय उपयोग एक जीनियस कवि ही कर सकता है। भाई जी का कोमा में जाने के बाद की मनःस्थिति और उसके बहाने 1946 से लेकर 2017 तक की भारतीय समाज-राजनीति पर एक गहरा विश्लेषण परक व्यंग्य, वह भी काव्यमय ढंग से गाली का उपयोग करते हुए करना। विष्णु खरे को भीड़ में एकदम अलग ढंग से स्थापित करती है।

मुक्तिबोध के बाद विष्णु खरे हिंदी कविता के वो आइने हैं जिसमें 'हिंदी जाति' अपना अक्स देख सकती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वे मुक्तिबोध के

विस्तार हैं। उनके 'एक्सटेंशन'।

विष्णु खरे की समग्र कविताओं को 'सेतु समग्र: कविता विष्णु खरे' के नाम से सेतु प्रकाशन ने सुरुचिपूर्ण ढंग से किफायती मूल्य में प्रकाशित किया है। यह हिंदी समाज को सेतु प्रकाशन की तरफ से दिया गया नायाब तोहफा है और हिंदी समाज अपने कवि को कितना प्यार करता है, उसका एक उदाहरण भी।

पुस्तक: सेतु समग्र: कविता विष्णु खरे, सेतु प्रकाशन, 305, प्रियदर्शिनी अपार्टमेंट, पटपड़गंज, दिल्ली-110092

मूल्य: 520 रुपये, प्रथम संस्करण- 2019, सारे उद्धरण इसी पुस्तक से

विद्याचर्या भवन, हिंदी विभाग, काजी नजरूल विश्वविद्यालय, पो.-कल्लवा सी. एच.,  
जिला-पश्चिम बर्द्धमान, पिन- 713340 (प. ब.), मो. 8250412914

## स्मृति-शेष

पिछले दिनों सांस्कृतिक जगत के सुप्रसिद्ध नाट्यकर्मी एवं फिल्म निर्देशक गिरीश कर्नाड, फिल्म अभिनेत्री विद्या सिन्हा एवं संगीत निर्देशक ख्याम के दुःखद अवसान पर मर्माहत एवं श्रद्धावनत है 'मुक्तांचल' परिवार!



## ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है

विमल वर्मा

अन्य कलाओं की तरह कविता का इतिहास भी विभिन्न विश्व-दृष्टियों के समर्थन और विरोध करने वाले विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष का इतिहास है।

जगत की सत्ता ही कविता की भी विषय-वस्तु होती है। परन्तु इस विषय की धारणा करने वाला मानस भाव सत्तात्मक होता है। इसीलिए वह वस्तुसत्तात्मक आधार पर क्रियाभूत होता है। संस्कृति के इतिहास में चिन्तन और कविता के रूप परिवर्तित होते रहते हैं।

औपनिवेशिक शक्तियों ने पराधीन भारतीय नागरिकों पर प्रभुत्व स्थापन के लिए, भारत के अतीत और वर्तमान पर स्थायी वर्चस्व के लिए ऐसी रणनीति, रणकौशल का कूटनीतिक समीकरण स्थापित किया कि वह अभिशप्त चेतना हमें अतीत के इतिहास का वास्तविक अनुसंधान, वर्तमान के यथार्थ का सही आकलन करने में बाधक बनी हुई है। परिणामतः भविष्य की कल्पना करना भी अत्यन्त जटिल हो गया है। इसके साथ-साथ राष्ट्र, राज्य जनतंत्र की गम्भीर समस्याएं नए-नए प्रश्न खड़ी कर रही हैं।

ध्यातव्य है कि औपनिवेश से मुक्ति-प्रक्रिया-काल में भारतवर्ष में बहुरंगी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों के दौर में विशेषकर विचारधारा और संस्कृति की आघात-व्याघातमयी अष्टावक्र प्रक्रिया का जटिल अन्तर्विरोधी इतिहास। यहां समग्रता में उसका पुनर्परीक्षण संभव भी नहीं है।

इसलिए स्वाधीनता के भारतीय समय की निरन्तरता और परिवर्तन के उभय स्रोतों की रोशनी में कविता सम्बन्धी क्रिया-अन्तर्क्रिया के स्वरूप और विशेष कर विचारधारात्मक पक्ष पर ही विचार करूंगा।

रचनात्मक ऐतिहासिक विकास क्रम में कविता और चिन्तन के ढरों और प्रक्रियाओं में परिवर्तन हुए। विचारधारात्मक टकरावों ने उद्वेलन को गति दी। इस ऊहापोह में ऐतिहासिक उद्वेग ने कविता के लक्ष्य संरचनात्मकता, अर्थवत्ता, परिभाषा के परिवर्तन की प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया।

परिणामस्वरूप नयी कविता की सृजनात्मक में भी परम्परा, आधुनिकता समसामयिकता का द्वन्द्व कला की दुनिया को सुरक्षित अभयारण्य बनाने की चेष्टा में सक्रिय हुआ। इस द्वन्द्व का दूसरा पक्ष मुक्तिबोध के अन्तर्द्वन्द्व रहित इस गहरे अहसास की दिशा “साहित्य में प्रकट भावदृष्टि उस ज्ञानधारा या विचारधारा को हम उस लेखक की विश्वदृष्टि कह सकते हैं।” (आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि) इसी लेख में मुक्तिबोध ने यह भी लिखा है कि नई कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई, न भौतिकवादी। ... (नए कवियों के पास ऐसी कोई केन्द्रीय दृष्टि नहीं, जो उन की भावदृष्टि का अनुशासन कर सके। ... आज बहुत से कवियों के अतःकरण में जो बेचैनी, ग्लानि, अवसाद और विरक्ति के भाव हैं, उनका एक कारण उनमें एक ऐसी विश्वदृष्टि का अभाव है, जो उन्हें आत्मिक शक्ति प्रदान कर उनकी अगतिकता को दूर कर सके। (सूत्र-नन्दकिशोर नवल)

परन्तु नयी कविता की सृजन-प्रक्रिया में एक ही समय में जहां अतीत का इतिहास विरुपित हुआ वहीं साथ ही साथ वर्तमान और भविष्य को भी असंगत बनाने की चेष्टाएं हुईं। साथ ही साथ परन्तु प्रगतिशील

परम्परा की यथार्थवादी धारा भी प्रवाहमान थी परन्तु यह वर्चस्वशाली नहीं थी।

सब मिलाकर इस काल की रचनाशीलता बहुआयामी, प्रयोगधर्मी, संश्लिष्ट, जटिल तहदार संरचनाओं की शक्ति में कई-कई मोर्चे पर, विविध रूपों में विकसित हुई।

यह भी सच है कि नयी कविता के पाठ से, नयी कविता के आन्तरिक तर्क में संग्रथित आन्तरिक संरचनात्मक सम्बन्ध में, रचनात्मक संघटन के विविध स्तर, सौन्दर्यात्मक मूल्यों, सांस्कृतिक परम्पराओं के अन्तर्लय की समृद्धि का ज्ञान होता है। इस रचनाशीलता में विचार और तकनीक, दृष्टि और निर्मिति, रूढ़ और नवीनता तथा मौलिकता के संवेगात्मक ज्ञान अन्तःक्रिया के ऐतिहासिक समुत्पाद्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

जाहिर है कि प्रत्येक पीढ़ी नयी-नयी संभावनाओं के साथ कोशिश से रचना के इतिहास की अनिवार्यता और आवश्यकता के तहत इतिहास में प्रवेश करती है। इस रचनात्मक संघर्ष में नए लेखन की अर्थवत्ता और सार्थकता उजागर होती है। इस प्रक्रिया-क्रम में इतिहास जनता को जिस स्थिति में प्रतिष्ठित करता है, पाठक को उसे अतिक्रमित करने की ऊर्जा और प्रेरणा मिलती है।

पाठ-प्रक्रिया में परिवर्तन की भंगिमा, तत्कालीन जनता और सत्ता का विरोध, जनता के अपने अन्तर्विरोध के विविध रूपों को वास्तविकता के भीतर रखकर देखना होगा, तभी पाठक तत्कालीन समय के नाटकीय द्वन्द्व से अभिज्ञ हो पायेगा।

ओलिवर लाज ने लिखा है—“चिन्तन हमारे स्नायु तंतुओं पर बाहरी दुनिया के संघात से उत्पन्न संवेगों की रसायनिक प्रतिक्रिया है।”

परम्परा जीवन-मूल्यों के बीच तीखे संघर्ष से समय में विस्तार पाती है। मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन में सातत्य उसकी जीवन्तता है। इस परिप्रेक्ष्य में नयी कविता की प्रगतिशील परम्परा के ऐतिहासिक प्रकरण

में सामाजिक राजनीतिक संघर्षशील सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुशक्तियों की अन्तर्क्रिया में, प्रकरणों से सामंजस्य स्थापन में परम्परा को समझना होगा।

स्वतंत्रता आन्दोलन की अन्तर्ध्वनियों को कविता में समझने के लिए हम केवल प्रतीक रूप में निराला और रामविलास शर्मा की एक-एक कविता उद्धृत करेंगे।

सुरेन्द्र चौधरी ने रामविलास शर्मा के बारे में लिखा है—“भारत में मार्क्सवादी विचारधारा और उसके साहित्यिक विनियोग में उनकी महती भूमिका है। हिन्दी साहित्य के जनवादी चरित्र को उजागर करना, सामन्तवादी और साम्राज्यवादी विचारधाराओं से उनका अन्तर्य प्रकट करना तथा अन्तर्विरोधों के बीच उसकी सम्भावनाओं को पहचानना ही उनका आन्तरिक कर्नेल है।”

कभी-कभी परम्परा द्वारा गृहीत सहजबोध, वर्तमान के साक्षात्कार में सहायक होता है। जाहिर है कि काल की स्थिति और विश्वगताभेद (गति का) को यदि नजरन्दाज कर दिया जाय तो मानवीय वास्तविकता ही नष्ट हो जायेगी।

रचनाकार और पाठक-आलोचक अपने अनुभव के साथ-साथ परम्परा के समृद्ध अनुभव से ज्ञानात्मक संवेदन अनुभूत करता है। प्रत्येक जिज्ञासु एवं जागरूक श्रष्टा-भोक्ता वृहत्तर अनुभव संसार को आत्मसात करना चाहता है।

उदाहरणस्वरूप निराला की एक कविता की पंक्तियाँ—“गहन है यह अन्ध कारा

स्वार्थ के अवगुंठनों से

हुआ है लुंठन हमारा।”

जहां मानवीय विचार तत्त्वों के सम्बन्धों को अभिव्यक्ति करती हैं। वहीं इनमें राजनीतिक, सांस्कृतिक वस्तुशक्तियों की अन्तर्क्रिया भी है। इसकी पृष्ठभूमि में 1942 के ‘भारत छोड़ो’ स्वतंत्रता आन्दोलन के रक्त-रंजित इतिहास, भीषण दमन, पैशाचिक हत्यारों और

भारतीय जनता का संघर्ष, उसकी पराजय की विडम्बना भी है।

रचना और आलोचना में पक्षधरता तथ्यों के चुनाव, उनके संश्रय तथा उनके परिणामों पर आधारित होता है। डॉ. नामवर सिंह ने इस कविता के बारे में लिखा है कि—“इस काल के भारतीय मानस की जितनी सही तस्वीर(निराला) पेश करते हैं, उतनी सही तस्वीर संभव है कि इस दौर की, जिसमें दर्द ही दर्द भरा है, किसी कविता में नहीं मिले।

निराला ने यहां वस्तु सत्य के उभयनिष्ठ अनुभवों को आन्तरिक प्रकरण में बांधा है। कवि ने अपने ढंग से यातना के स्वरूप और सौन्दर्य को रूपायित किया है।

कहना न होगा कि सौन्दर्य की प्रतीति ‘मन’ में ही पहले होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि—“मन” रूपगति का संघात ही है।”

“हमें अपने मन और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है। रूप और गति पदार्थ का गुण है। हमारा अन्तर्जगत रूप और गति का संघात है।” इन (निराला की उद्धृत पंक्तियों) में अनुभवों की प्रतीकात्मक ध्वनियों द्वारा व्यंजित किया गया है। ये प्रतीकात्मक ध्वनियाँ भाव-संवेदन को स्वरूप देती हैं।

उस समय “आजादी मिलना” निकटतम इतिहास की सबसे प्रमुख घटना थी।

डॉ. रामविलास शर्मा की निम्न कविता सितम्बर 1947 में प्रकाशित हुई—

“लपटों की छाया में रोकर बहती है रावी  
आजादी की कसम यहीं खायी कहती है रावी  
कहती है सतलज चिनाव से ‘क्या फिर डायर आया’  
भगत सिंह के शव को किसने फिर यहां जलाया।  
गरम खून से तर होकर रोता है जालियां वाला  
आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला।”

इस रचना की ऐतिहासिक प्रक्रिया हमारे अतीत से जुड़ी परिघटनाओं के माध्यम से अनिवार्य भावी इतिहास

को सन्दर्भ दे रही है। तात्कालिकता के अनुभव सापेक्ष रूपों को समग्र इतिहास का अंग बनाकर इसे रचा गया है।

जाहिर है कि ऐतिहासिक अनिवार्यता की धारणा के अनुसार प्रत्येक सम्भावना अपने को रूपों में व्यक्त करती है और सम्भावना रचनात्मक व्यवहार के बिना कोई अर्थ नहीं रखती।

आत्मपूर्ण संरचना का संबंध उस यथार्थ से है जिसे यहां व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत कविता के ढांचे पर ध्यान दिया जाय तो हमारा ध्यान कविता की द्वन्द्वात्मकता पर टिक जाता है जो कवि की आत्मपरकता और वस्तुगत यथार्थ से जुड़ी है। मुझे वाल्टर बेंजामिन का यह कथन यहां प्रासंगिक लगता है जो स्मृति के बारे में उन्होंने लिखा है—“नोस्टेल्लिया एक क्रान्तिकारी शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। दास बनाए गए पूर्वजों की स्मृतियां स्त्री पुरुषों के विद्रोह के लिए प्रेरित करती हैं। मृतकों का शोक मनाने और उन्हें याद करने के अनुष्ठानों के माध्यम से वह उनकी छायाओं को राजनीतिक वर्तमान की सेवा के लिए बुला लेते हैं। तब नोस्टेल्लिया एक क्रान्तिकारी शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। हम अपनी क्रान्तिकारी कल्पना में उन बिखरे हुए क्षणों को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

समय की मानसिकता के इस नाटकीय द्वन्द्व में पाठीयता की वैचारिक सक्रियता संवेदनात्मक ग्रहण में होती है। इस कविता में इसके पूरे बिम्ब में प्रत्यभिज्ञान की क्षमता है। जिसमें ‘जलियावाला बाग’ का प्रतिस्मरण विश्लेषित, संश्लेषित और सामान्यीकृत होता है। यह स्मरण एक आर्थी प्रक्रिया है। क्योंकि धारणातत्त्व एक विशेष समय के सामाजिक चेतना की छाप लिए हुए है। यहां समाज के भीतर आन्तरिक तनावों (साम्राज्य-विरोध) की मौजूदगी की हकीकत पर ज़ोर है। क्या इसे परिवर्तन सम्बन्धी आन्तरिक गति नहीं कह सकते। साथ ही साथ कविता में विचारधारा भावधारा को संगत करती है। यह कविता संवेदना के क्षेत्र में संस्कृति,

इतिहास के आपसी सम्बन्धों में घनिष्टता से जुड़ जाती है। इलिएट ने भी बिम्ब को विचार से संवेगीय रूपक कहा है। क्योंकि बिम्ब जीवन-जगत के सन्दर्भ में कल्पना के सहयोग से आकृति का रूप लेता है।

इस दृष्टि से यह कविता महज़ सम्प्रेषण की ही नहीं कालान्तरण की त्वरित यात्री बन गयी है।

मार्क्स ने उपनिवेशवाद की विरोधी अभिव्यक्तियों के बारे में लिखा था—“यह असन्तोष औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध सभी महान ऐशियाई जनगण का आत्मप्रदर्शन है।” कवि को इतिहास का तर्क इस समस्या की ओर ठेल रहा था। इसीलिए यह कविता पाठकों के लिए अतीत की निरन्तरता और वर्तमान अन्तर्विरोधों के सन्दर्भ में नाटकीय बन गयी है।

सम्प्रति धारणातत्त्व के सन्दर्भ में हमलोग ‘मिशेल-फूको’ से टकराये बिना उसके प्रतिपादनों की चर्चा बिना यहां आगे नहीं बढ़ सकते। अतएव फूको द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, सत्ता, सामाजिक सम्बन्धों, साहित्य की सत्ता, अस्तित्वमान संरचनाओं पर विचार करना पड़ेगा। उसके अनुसार—“समस्त ज्ञान सत्ता (पावर) की संरचनाओं के तहत निर्मित होते हैं।” इससे कौन असहमत होगा। परन्तु असहमति उससे यहां है कि—“सत्ता सम्बन्धों-सत्ता प्रत्येक सामाजिक सम्बन्ध में, मगर बिखरी निर्व्यक्तिक, अपवर्त्य और किसी के भी द्वारा अप्रबन्धित, बिना किसी पहचान योग्य स्रोत या परिभाषित उद्देश्य के सर्वत्र विद्यमान है।” अन्ततः वह यह भी घोषित करते हैं कि “चूंकि सत्ता सर्वत्र है, अतः कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां से प्रतिरोध को सत्ता से अलगाया जा सके।”

ठीक इसके विपरीत मार्क्सवादी इतिहास लेखक प्रो. इरफान हबीब का निरूपण है कि—“हम अपने अतीत जनता के रूप में भौतिक परिस्थितियों, वर्गों, विचारों और वर्ग संघर्ष के अन्तर्सम्बन्धों पर उचित जोर देकर बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। यह मार्क्स का महान योगदान था कि उन्होंने इस सिद्धान्त और

वास्तविक विश्लेषण तथा वर्णन के कार्यों- दोनों में स्थापित किया। सामान्यीकरण के विस्तार को विवरण की दृढ़ता से जोड़ना। यह एक प्रमुख आवश्यकता थी जिसे मार्क्स ने सदैव पूरा करने का प्रयास किया।”

मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने आज़ाद भारत की सत्ता संरचना की व्याख्या इतिहास ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की अवधारणा से नामिनाल बद्ध है। मैंने इस लेख में रामविलास शर्मा को उद्धृत किया है। इस प्रसंग में उसे पुनः उद्धृत करना आवश्यक है। “स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास 1942 का जन-आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस पार्टी के हाथ से निकलकर गैर कम्युनिस्ट वामपंथी दलों के हाथ में आ गया। देश का विभाजन हुआ। अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक जनसंहार संगठन कर के जवाबी हमला किया। कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजों से समझौता किया। गुन्नार मिर्डल ने ऐशियाई देशों की गरीबी पर अपनी पुस्तक में लिखा है, “इस क्षेत्र में अपनी राजनीतिक प्रभुता छोड़ने का जो फैसला ब्रिटेन ने किया उसका फल यह निकला कि भारत और पाकिस्तान में वह अपनी औद्योगिक, वित्तीय स्थिति तथा व्यापार ज्यों का त्यों बनाये रखा। (ऐशियन ड्रामा पे. 152)

ब्रिटेन और भारत के पूंजीपतियों का सामान्य हित इस बात में था कि ब्रिटेन की जो वित्तीय, औद्योगिक, व्यापारिक स्थिति यहां लगभग ज्यों की त्यों बनी रहे..इस तरह साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोध के बावजूद भारतीय पूंजीवाद ने उससे नाता नहीं तोड़ा, वह उनके प्रभाव क्षेत्र में बना रहा। 19 नवम्बर 1983 के ‘टाइम्स आफ इंडिया’ ने कामनवेल्थी सम्बन्धों के बारे में लिखा था—“इसके सिवा भारत और ब्रिटेन की मैत्री का ठोस, आर्थिक सांस्कृतिक और प्रौद्योगिक आधार है। यह आधार यदा-कदा के राजनीतिक मतभेदों और नाराजगी पर काबू पा लेता है।”...सुरक्षा सम्बन्धी मुद्दों के विकास में ब्रिटेन भारत से सहयोग करेगा।”

इस तरह पूंजीवादी नेताओं के हाथ में सत्ता का

हस्तान्तरण और जनता का अन्तर्विरोध स्पष्ट होने लगा। साहित्य में भी यह अन्तर्विरोधी दृश्य चित्रित हुए।

“आज देश में नई भोर है

नई भोर का समारोह है॥ (गिरिजा कुमार माथुर)

यह मैं हूँ/ कि जिसमें अविराम भीड़े रूप लेती हैं/  
उमड़ती आती हैं/ वह भीड़ है/ कि उसमें मैं बराबर  
मिटता हुआ/ डूबता जाता हूँ/ ये पहचाने हैं/ जिनसे मैं  
अपने को जोड़ नहीं पाता/ ये अजनवियतें हैं/ जिन्हें मैं  
छोड़ नहीं पाता।” (अज्ञेय-कितनी नावों में कितनी  
धार पृ. 9)

“लहरों से बँधा/ किन्तु टीसता इकाई में।  
(जगदीशगुप्त, शब्द दंश, पृ. 51)

सीमा शून्य की नहीं/ दृष्टि की परिधि है।  
(विजयदेवनारायण शाही-मछलीघर पृ. 33)

स्वाधीनता और भारतीय जनतंत्र के परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य, सत्ता के रचनात्मक व्यवहार पर विचार करने के पहले साहित्यिक विकास की एक द्रैजिक परिस्थिति की ओर ध्यान जाता है। वह यह कि सत्ता के वर्ग मूल्यांकन को लेकर गहरे मतभेद के कारण वामपंथी राजनीति और प्रगतिशील साहित्य अन्दर से विघटित हो गयी।

प्रगतिशील आन्दोलन ‘संकीर्णतावाद’ और ‘विसर्जनवाद’ में विभाजित हुआ। ‘कम्युनिस्ट पार्टी’ खंड-खंड में विभाजित हो गयी। अनेक मार्क्सवादी लेखक भूतपूर्व मार्क्सवादी हो गए। कम्युनिस्ट पार्टी के विरोधाभासों पर गौर कीजिये- उनके मूल्यांकन के कुछ आधार वाक्य जैसे ‘नेहरू क्रान्तिकारी जनवादी है। ‘यह आजादी झूठी है। भारतीय आय जनता का मुख्य अन्तर्विरोध साम्राज्यवाद से है। भारत में राष्ट्रीय पूंजीवाद साम्राज्यवाद दलाल है। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संसदीय प्रणाली पर ही मुख्य ज़ोर खोश्चेव द्वारा स्तालिन पर असंतुलित आरोप, भारत चीन सीमा संघर्ष, सोवियत और चीन में तनाव इत्यादि अनेक परिघटनाओं के प्रपंचों ने चेतनाववादियों को मार्क्सवादी विरोध की ओर

अग्रसर किया।

आजादी के बाद सत्ता, शासक शोषक वर्ग ने जनता पर आक्रमण शुरू किया। डा. रामविलास शर्मा के अनुसार “प्रयोगवाद पर पहले चोट प्रगतिशील लेखकों ने नहीं की। प्रगतिशील साहित्य पर पहले आक्रमण किया, प्रयोगवादियों ने। ये प्रयोगवादी लेखक वे थे जो सन सैंतालिस के पहले प्रगतिशील थे।” (नई कविता और अस्तित्ववाद-पृ. 31) पंत जैसे छायावादी कवियों के अलावा, अज्ञेय नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल जैसे कवि...अन्तश्चेतना की शरण में चले गए।

इतिहास के कारणत्व की उल्टी व्याख्या की जाने लगी। इतिहास को धारणाओं में बदला जाने लगा। साहित्य में जनता का संघर्ष स्थगित किया जाने लगा। जनसमूह के राजनीतिक सामूहीकरण और उसकी गतिविधि के साधन के रूप में कविता में उसकी भूमिका को नकारा जाने लगा।

साम्राज्यवादियों द्वारा ‘मिलान’ में कांफ्रेंस कल्चरल फ्रीडम का नाश, शीतयुद्ध द्वारा मार्क्सवाद विरोधी शीतयुद्ध अभियान के इतिहास से पाठक भली भाँति परिचित हैं। मैं तो कल्चरल फ्रीडम, ‘इनकाउन्टर’ को अस्तित्वादी संत्रास कहता हूँ। भारत में अज्ञेय ने यह दायित्व ग्रहण किया।

“प्रतीक” के पहले और दूसरे अंकों में रहस्यवादी दृष्टि से मार्क्सवाद पर हमले किये गए।

कहना न होगा कि प्रमुख प्रगतिशील लेखक जैसे नागार्जुन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल इत्यादि हाशिए पर ढकेल दिए गए त्रिलोचन शास्त्री जैसे लेखक एकान्त साधक बना दिये गए। मुक्तिबोध तो मृत्योपरान्त अधिक प्रचार-प्रसार में आयें। परन्तु इतिहास का अपना नियम है। जन-असन्तोष की मात्रा का पता इससे चलता है कि 1952 के आम चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी चुनी गयी।

मेरे द्वारा उद्धृत अज्ञेय की कविता में ‘भीड़’ (अज्ञेय

द्वारा) शब्द के प्रयोजन पर गौर करना चाहिए।

अस्तित्ववादी मार्टिन हाइडेगर ने डासमैन या 'भीड़' की तरह की शब्दावलियों का जर्मन में प्रयोग किया था। इन्हें अंग्रेजी में 'दिवन', 'पब्लिक', 'एनानिमम' अर्थ में ग्रहण किया गया। 'भीड़' के आदमी को 'अनाधिकारी' और अनुत्तरदायी कहा गया है।

'भीड़' का आदमी परम्परा से विच्छिन्न हो जाता है। वह असुरक्षित कहा जाता है। 'यातना उसकी नियति होती है।' 'ज्यां ग्रेनियर' ने लिखा है—'भीड़' का यह आदमी ऐसा महसूस करता है जैसे वह इस विश्व में नहीं है। विश्व उससे निरपेक्ष और भिन्न है। प्रत्येक सचेत आदमी भीड़ के व्यक्तित्व से अतिक्रान्त है।

यास्पर्स के अनुसार 'तकनीक' के परिणामस्वरूप निवैयक्तिकता क्रियात्मक स्मृति का क्षय भोग रहा है। प्रेम का भ्रम विकलांग हो गया है। 'झरब' के शिकार हो जाने के कारण आदमी 'अपनी स्वतंत्रता' प्रमाणित नहीं कर सकता।

इस प्रकार जीवन में विश्वास का आधार खो कर आदमी रिक्त हो जाता है। 'उसका सत् (बीडिंग) वस्तुतः शून्य (नथिंग नेस) में बदल जाता है।

'कामू' ने भी लिखा है—'दुख और यातना' के बीच से रूपान्तरित होते हुए हमें अपनी सतर्कता को प्रभावित करना है।'

इन रहस्यवादी रूपान्तरों के बारे में सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है—जिस अभिशप्त चेतना के भीतर से सत्ता का सार(स्वतंत्रता) सिद्ध करना चाह रहे थे। उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियां समकालीन जीवन की थी। मगर वह निर्णय तब तक ऐतिहासिक नहीं हो सकता था जब तक 'अकारण और उद्देश्यहीन सत्ता' के बोध को वे इतिहास की भूमिका से संगत न कर लें। छठवें दशक में—सार्त्र ने स्वीकार किया कि—'इतिहास के प्रश्न आधिभौतिक स्तर पर हल नहीं किये जा सकते।'

'ज्यांवाहल' और मार्जोरीग्रीन की पुस्तकें पढ़ने के बाद मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की उलझनें खत्म हो

जाती हैं। हम उन दोनों को यहां उद्धृत कर रहे हैं।

ग्रीन ने लिखा है—“अस्तित्ववाद का समाधान उस नैतिक मूल्य में नहीं होता जिसकी हम उससे आशा करते थे।...इसके विपरीत(उनमें) हमें पुराने नैराश्य की नयी अभिव्यक्ति मिली।'

फ्रांसीसी दार्शनिक 'ज्यांवाहल' ने अस्तित्ववाद की तुलना में मार्क्सवाद को व्यावहारिक सिद्ध करते हुए लिखा है—“सत्ता के प्रकृत संकट के सन्दर्भ में स्वतंत्रता एक अनिवार्यता बन जाती है।...हमारे दैनन्दिन जीवन के अपने सन्तुलन भी हैं, अपनी संगति है। और अपने सत्तात्मक व्यापार भी हैं।

इस दैनन्दिन जीवन को अप्रमाणिक कहना भारी भूल होगी। हम इस प्रकार साधारण आदमी के मूल्य और महत्त्व को नजरन्दाज करेंगे। यह मार्क्सवाद की विशेषता है कि उसमें दैनन्दिन जीवन अधिक अधिकार पूर्ण ढंग से परिभाषित हुआ है।'

ऊपर हमने अस्तित्ववाद की मुख्य विशेषता की विस्तार पूर्वक व्याख्या इसलिए की कि पाठकों के बोध में अज्ञेय भारती तथा नयी कविता के लोहियावादी व्याख्याकारों के द्वारा प्रस्तावित कल्चरल फ्रीडम का रहस्य उजागर हो जाय। उनकी ओढ़ी हुई आधिभौतिकता के रहस्य का पर्दाफाश हो जाय।

लघुमानववादी, इलिएट पंथी आजकल अन्तराल में चले गए। 1969 में ही आलोचक सुरेन्द्र चौधरी ने 'आलोचना' पत्रिका में लिखा था—“नयी कविता के पूरे आन्दोलन में एक ऐसा आत्मविरोध है जो उसके रचनात्मक आशय को ही कहीं खण्डित करता है। नयी कविता में 'परिवेश' को ही स्थितियों में बदल दिया गया और कवि अपने-अपने भावात्मक आसंगों सहित उस परिवेश के अमूर्त सन्दर्भों को लेकर रचना का वातावरण तैयार करता रहा। इस काव्य प्रक्रिया में स्थितियों के जोड़ तो दिख पड़ते हैं, मगर समय परिवेश कहीं रूपायित नहीं होता। चूंकि इस रचनात्मक प्रयत्न के साथ कोई मूर्त गोचर परिवेश संश्लिष्ट नहीं था, इसलिए



कवि सिर्फ प्रतीक-सन्दर्भों और संकेतात्मक वातावरण से 'परिवेश' का काम ले लिया करता था। मनःस्थितियाँ अपने भीतर हो कहीं नैरन्तर्य बना पाने में असमर्थ सिद्ध हुई। 'अन्धायुग' इसी असफल और खण्डित मनःप्रवाह की एक लहर है। ...इसी काल में लिखी गई मुक्तिबोध की रचनाएं अधिक कालावस्थित, प्रत्यक्ष और वास्तविक हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं में वस्तुतः द्वन्द्व की एक व्यापार परक दुनिया है। दुःस्वप्नों प्रतीकों और दूसरे परोक्ष माध्यमों के बावजूद उसकी द्वन्द्वात्मक वास्तविकता पर कोई आंच नहीं आती। यह इस पाताल लोक की तथ्य-सूचनाभर नहीं है।

समय के नए रचनात्मक प्रयोगों और चिन्तन पद्धति की पहचान करते हुए त्रिलोचन शास्त्री पर मुक्तिबोध ने टिप्पणी की—“कवि की प्रगतिशीलता अटूटहासपूर्ण आन्तरिक क्षतिपूर्ति के रूप में नहीं आई हैं वरन कवि के अपने जीवन संघर्ष में मंज-घिसकर तैयार हुई है। क्योंकि—“भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है/ ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।” लड़ता हुआ समाज, नयी आशा-अभिलाषा/ नए चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा।”

ध्वनि और क्रिया से भरी इतिहास की सरणि को समझने में नागार्जुन की आत्मचेतना की वस्तुसत्तात्मक स्थिति और समय के भौतिकस्वरूप उनकी भाषा के 'विट' में देखा जा सकता है। वह यह कि कैसे यहां संश्लेषण और विश्लेषण दोनों प्रक्रियाओं का समावेश है। 1964 में नेहरू की मृत्यु के बाद तत्कालीन जीवन खण्ड सत्ता सम्बन्धी हलचल इतिहासबोध बन संवेदना में क्रियाभूत होता है।—“आंखों में गुलाबगड़ते हैं/ नहले पर दहले चलते हैं/ अस्थि प्रवाहित हुई किन्तु/ अब केवल भस्म कलश लड़ते हैं।”

इस कविता के स्ट्रक्चर के नेटवर्क में बदलती हुई संवेदना में अनेक परस्पर विरोधी शक्तियाँ मुक्त प्रतीत

होती है। नागार्जुन की कविता-यात्रा में पाठक उनकी सम्पूर्ण मानसिकता को रचनात्मक और सृजनात्मक जीवनधारा से उनकी द्वन्द्वात्मक रचनाकला को परख लेता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि “युग के प्रश्नों के उत्तर विचारधाराएं देती हैं; रचनात्मक भाव धाराएं भी।” नागार्जुन का काव्य विवेक अन्तर्विरोधों को एक ओर जहां दैनन्दिन की दिनचर्या को, यथार्थ को ऐतिहासिक जिन्दगी के तनाव में देखता है। उनका काव्यात्मक नैतिक हस्तक्षेप समरूपात्मक और विरोध मूलक कथन के तनाव में नयी-नयी अर्थ ध्वनियाँ उत्पन्न करता है।

इस प्रकार अनेक पतों वाला सत्य अपनी अनुभूतियों में ऐसी भावात्मक संरचना निर्मित करता है, जिनमें संघर्षों का वातावरण गोचर होता है। पाठक कविता में भूमिगत पिघलते हुए लावों, संघर्षों के घुमावदार उतार-चढ़ाव, भावी क्रान्ति के लपटों के स्वरूप की अनुभूति करता है। कुछ लोग नागार्जुन द्वारा 'शाक' पहुंचाने वाली कविता-पाठ से कविताओं संबंधी कवि को निर्णय भिन्नता से खिन्न हो जाते हैं। उन्हें शाही के इस कथन पर गंभीरता से मनन करना चाहिए। शाही ने लिखा है—“मनुष्य की परिभाषा वैज्ञानिक न होकर सर्जनात्मक होती है। इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता- वह केवल उस केन्द्रित, कालबद्ध, जाल में फांसी सीमित झलक को पकड़ता है। जहां से वह सहज आभासित होता है। फिर धीरे-धीरे युग परिवर्तन की दूसरी मुद्रा आने तक, सत्य की यह प्रतीति विनष्ट होने लगती है। हमें लगता है कि हमारी पकड़ में तो सिर्फ दो-चार तत्त्व ही आए। मनुष्य की सजीवता और मनुष्य का मर्म तो फिर भी छूट गया। और दूसरा जाल फेंकने की तैयारियाँ होने लगती है।

आदमी को कटघरों में बांट कर कौन रख सका है। लेकिन सिवा आदमी के इस कोशिश में लगा कौन?

एच/13, एल. आई. जी. इस्टेट, 8/1, रुस्तम जी पारसी रोड काशीपुर,  
कोलकाता-700002, मो. 9038340568

## कवि की उपस्थिति

जयप्रकाश मानस

*बोधिसत्व की कविताएँ पढ़कर एक निबंध....*

कवि अकेला उपस्थित रहता है। लगभग निपट अकेला। इधर उसकी उपस्थिति दुनिया महसूसना नहीं चाहती। उधर वह समूची दुनिया को अपने में उपस्थित देखता है-फिर भी, दुनिया के डाकखाने में उसका कोई अता-पता नहीं होता। कविता उसका वास्तविक परिचय होती है किन्तु वह कवि के परिचय का आधार नहीं बन पाती। नोबेल पुरस्कार ग्रहण करते वक्त कवयित्री विस्लावा शिम्बोस्का ने कहा था—“क्या गर्व के साथ एक कवि अपना परिचय देने में सक्षम होता है कि वह कवि है?” वह खुद को कवि के रूप में प्रस्तुत करने से आखिर घबराता क्यों है? ऐसा क्यों होता है कि कवि बहुरि अकेला हो जाता है? आखिर क्योंकर वह दुनिया से नहीं कह पाता—“हाँ मैं एक कवि हूँ?”

कवि जिस दुनिया में रहता है, वह उसकी दुनिया नहीं होती। मिली हुई दुनिया सिर्फ उसकी ही नहीं, मनुष्य मात्र के लिए एक नरक जैसी भी हो सकती है। वह हरदम नरक जैसी दुनिया के बरक्स एक प्रतिदुनिया रचने की उधेड़बुन में उपस्थित रहता है। क्योंकि दुनिया में हर समय एक भयावह जंगल बढ़ता रहता है। क्योंकि दुनिया हर समय अधूरी होती है। कवि इस अधूरे को पूरा करता है। दुनिया में हर समय ‘अभाव’ रहता है। कवि इस इस अभाव को ‘भाव’ में तब्दील करता है। दुनिया में हर समय कुछ न कुछ, कोई न कोई अपरिचित रहने को विवश होता है। कवि अपरिचित के किला को तोड़ने वाले एक सिपाही के जिद्दी धुन का नाम है। क्योंकि दुनिया में हर समय मनुष्यता का सबसे सुंदर फुल खिलाये जाने की संभावनाएं बची होती हैं। कवि जब कहता है—

हर कोई छोड़ता है  
कुछ न कुछ अधूरा...  
जिसे पूरा करते हैं  
दूसरे लोग

तब वह उस दूसरे के दुख और अधूरेपन को जी रहा होता है, जो हो सकता है अभी-अभी नदी में नहाते-नहाते डूब गया है या फिर, एक जला दी गई स्त्री। जिसका सब कुछ छूट गया हो अधूरा।

कवि बेशक जानता है-अभी भर गया है हर पन्ना/  
कोने अंतरे तक खाली नहीं लिखावट से... फिर भी वह  
मानता है-

अभी बहुत कुछ  
लिखने की जगह है मुझमें...  
मैं तुम्हारी रफ नोटबुक हूँ...  
आओ लिखो...

कवि को अपनी सार्थकता को रेखांकित करने के  
लिए सुनहरी और कोरे कागज ना मिलें तो भी कोई  
बात नहीं। बस, उसे हाशिए वाले बचे हुए रद्दी कागज  
भर मिल जाये, जहाँ वह लिख सके—

कई ऐसे रास्तों के नक्शे  
जिन पर दोबारा नहीं गया कोई..  
कई न बन पाए घरों का खाका...  
कितने बदल गए फोन नम्बर...  
कितने अधूरे काम लिखे हैं मुझमें...।

कवि दुनिया की भौतिकी में विचरण करते हुए भी  
एक नैतिक, आत्मिक और मानवीय दुनिया के लिए  
ताउम्र समर्पित होता है। यही कविता का रसायन है।  
दरअसल कवि का अंतिम लक्ष्य दुनिया का चकाचौंध  
वैभव नहीं, दुनिया की समरस उज्ज्वलता होती है।  
जिसे किसी लिखित, पठित, अनुदित दर्शन या विज्ञान  
से सीमित नहीं किया जा सकता। इस समरस उज्ज्वलता  
को अपने-अपने चश्मे से देखकर कितनी ही कोशिशें न  
की जायें, वह एक अपरिभाषित तथ्य बना रहेगा। यह  
उज्ज्वलता ही कवि का अंतिम सत्य है। किन्तु उज्ज्वलता  
स्वयं में असीम है। क्योंकि दुनिया जितनी भौतिक है  
उतनी ही अभौतिक। क्योंकि दुनिया को जितना जाना  
जा सका है उतना ही अजाना है वह। क्योंकि दुनिया  
की सर्वोच्च और अंतिम उज्ज्वलता को सिद्ध करने के  
लिए अंतिम ज्ञान या शास्त्र अभी लिखा नहीं जा सका  
है। जो पैरामीटर या व्याकरण तय हुए हैं वे सारे के सारे  
सीमित हैं। स्वयं विज्ञान अभी अपूर्ण है। जिसे हम  
अभी तक का चरम अन्वेषण कहते हैं, हो सकता है

वही कभी सबसे तुच्छ साबित हो और विज्ञान उसके  
कहीं अधिक उपलब्धि अर्जित कर दिखाये।

तो कवि व्याकरण पढ़कर कविता नहीं लिखता।  
वह स्वयं नया व्याकरण सिखाता है। सिद्धांत के कारागार  
उसे बंदी नहीं बना सकते। किसी आलोचक की तानाशाही  
उसे निर्देशित नहीं कर सकती। वह किसी विचार का  
दास नहीं हो सकता, भले ही उसकी रंगत वहाँ दिखाई  
अवश्य दे। क्योंकि सिद्धांतों से जीवन, परिवेश और  
समय तय नहीं हुआ करते। क्योंकि हर विचार संशोधित  
हो जाया करता है। क्योंकि समय हर विचार को  
मृत्यु-शैया पर सुला देता है। काल सबसे बड़ा संशोधक  
जो ठहरा। अर्थात् संशोधन ही जीवन है। यह संशोधन  
आत्म भी है और अनात्म भी। संशोधन ही आधुनिकता  
है। संशोधन ही प्रगति है।

कभी कवि से पूछकर देखें तो—“जब दुनिया में  
सर्वत्र बराबरी आ जायेगी, जब मनुष्य का कोई स्वप्न  
बचा नहीं रहेगा, तब आप क्या चाहेंगे?”

जानते हैं - जो वह कहेगा उसमें सारे पूरातन मूल्य,  
विचार, दर्शन, चिंतन, ज्ञान-विज्ञान आदि अनुशासन  
संशोधित होते दिखाई देंगे। जाहिर है कवि अपने समय  
में अधिकतम सुंदर मनुष्य और दुनिया देखने का एकमात्र  
स्वप्नदृष्टा होता है। ऐसा स्वप्नदृष्टा भला कैसे अपने  
सम्मुख उपस्थित दुनिया का निवासी हो सकता है!

कवि, जिसे दुनिया अकारज और फुरसतिया कहती  
है सबसे अधिक सक्रिय होता है। अपने गतिशील मन  
और संवेदना के साथ। कवि से बड़ा ‘प्रगतिकामी’ कोई  
नहीं होता। कवि से अधिक ‘जनाकांक्षी’ और कौन  
होता है! एक कवि का मन और संवेदना पहले प्रगतिशील  
या जनप्रिय होती है, बाद में उसकी कविता। गतिशीलता  
और जनप्रियता ही कवि को उकसाती हैं। क्या कवि  
को अलग से ‘प्रगतिशील’ या ‘जनवादी’ कहलाने की  
जरूरत भी होती है? मूलतः प्रगतिकामी और जनाकांक्षी  
होने के बाद भी कवि है कि पिछड़ता चला जाता  
है—समाज में सभ्यता के केंद्र उसे खारिज कर देते हैं,

क्योंकि वह प्रश्नाकुलता से भरा होता है और केंद्र को प्रश्न पसंद नहीं होता।

कवि सभ्यता की फिक्र नहीं करता। वह मरता रहता है। संस्कृति के लिए। क्योंकि उसे कोई नहीं बूझ सकता कि सुसंस्कृत नहीं, सभ्य होना ही अधिक जरूरी है। और सभ्यता भी ऐसी कि कई बार प्रतिबंधों की कोष्ठकों में फँसी हुई। जहाँ किसी नागरिक की परम स्वतंत्रता और भेदस इच्छाएं दम तोड़ देती हैं। बाहर से बहुत कुछ सुंदर, चिकना-चुपड़ा और भीतर से लगभग बजबजाती हुई गंदगी। सभ्य दुनिया की गंदगी से निजात पाने के लिए वांछनीय मेहतरी से उसकी प्रतिबद्धता उसे भीतर से तो अधिक उज्ज्वल बना देती है किन्तु धीरे-धीरे उसके इर्द-गिर्द एकाकीपन का अंधियारा घिरने लगता है। इस अंधियारे को रचते हैं-उपस्थित दुनिया को अंतिम सत्य समझकर परामर्श, उलाहना, चेतावनी देने वाले उसके बंधु-बांधव, परिजन। ऐसा कमतर ही होता है कि कवि को समान दृष्टिवाला घर-बार मिले। गाँव-गली-चौपाल मिले। लोग उसकी भाषा में देख सकें। अपनी दुनिया के कलह-कालुष्य, सुख-सौंदर्य को पहचान सकें। यह ठीक है कि वह भी किसी का बेटा होता है, किसी का भाई, किसी का प्रेमी, किसी का मित्र, किसी का पति और किसी का पिता। ये सब उससे रोज मिलते हैं किन्तु एक कवि से कोई नहीं मिलता। लोग-बाग बासी भाषा का कंदील पकड़े उस तक पहुँचना चाहते हैं और वह है कि ताजगी और नयी भाषा के उजास से भरी-पूरी एक पृथ्वी सौपना देना चाहता है। उसके जैसे सोचने, सँवारने वाले लोगों की कमी धीरे-धीरे उसे भीतर से तोड़ने लगती है। शनैःशनैः कवि स्वयं घर-परिवार, पास-पड़ोस और समाज में अकेला पड़ता जाता है और अंततः एक सुनसान में खोये रहने को विवश। यह विवशता उसे और अधिक तेजस्वी भी बनाती है। यह विवशता उसके भीतर एक संगीत में तब्दील होकर बाहर गूँजने लगती है—

सब बड़े बाजों के  
बीच... ढपली बज रही है...  
न गूँजनेवाली  
कमजोर... पिटी सी आवाज में...  
अपनी ही तरह...  
महफिल से बाहर...।

दरअसल कवि महफिल के अँधरे में नहीं होता। अँधेरा तो कवि और समाज के मध्य पसरा होता है। इस अँधेरे को चीरकर समाज की आँखें उस तक नहीं पहुँच पातीं जबकि कवि इस अँधेरे में रहकर भी जिंदगी की उजली चीजों को ढूँढ लेने का हुनर जानता है—

मुझे थोड़ा अँधेरा चाहिए  
उतना जितने में,  
रात होती रहे, दीये जलें  
तारे टिमटिमाएँ, चाँद उगे, जुगनू उड़े...  
सूरज उगे तो... पता चले कि  
अँधेरा था अभी तक...।  
मुझे सचमुच  
अँधेरा चाहिए  
जहाँ मैं छुपकर मिल सकूँ  
चूम सकूँ...  
खेल सकूँ...  
मनचाहा खेल...।

वस्तुतः कविता एक साफ-सुथरी दुनिया की तलाश ही होती है। कवि उस दुनिया की तलाश में रहता है, जो हर क्षण क्षीण और बदरंग हुई जाती है। जहाँ शब्द बगैर पड़े रह जाते हैं। जहाँ लिखा हुआ भटकन के भँवर में विलीन होता रहता है। फिर भी कोई थिरकन तो कविता के शब्दों के बचा रहता है—

फिर शुरू होती हैं बातें अविराम  
कलह और प्रेम की दुनिया ही है ऐसी  
खत्म नहीं होता इसका धागा।  
कोई फिर चिट्ठी लिखता है  
ढूँढता है किसी खो गए का पता।

लापता चीजों की फिराक में रहने वाला कवि मुख्यधारा में नहीं बह सकता। मुख्यधारा में कूड़े-कर्कट, सड़ी-गली चीजें, अनुपयुक्त अवशिष्ट, बहाव के आक्रमण में टूट चुके किनारों के जर्जर पेड़, कमजोर घास-फूस सब कुछ होती हैं। इसलिए कवि इस मुख्यधारा से विलग होकर नयी धार बनाना चाहता है। यह नयी धार भले ही उसे कबीले का निवासी बना देती है किन्तु वह वहाँ से भी दुनिया को संबोधित करता नहीं भूलता। उसे कतई चिन्ता नहीं कि उसके कबीलाई जीवन में उसकी रोजी-रोटी के साधन बहुत अत्यल्प हैं। उसे कोई फिक्र नहीं कि वह सुनसान भोगने के लिए श्रापित है। उसे कोई इल्म भी नहीं कि यह सुनसान किसी वरदान से कम नहीं। कवि अपने सुनसान में कविता की चिड़ियों को बुलाता है और उनकी चहचहाहट से भरता है। इन चिड़ियों को वह सिर्फ अपने सुनसान के लिए नहीं बुलाता। उन्हें इसलिए बुलाता है कि नींद में निमग्न दुनिया चहचहाहट सुनकर जाग उठे। चारों तरफ सवेरा फैल-फैल जाये। वही दुनिया जो उसके लिए सुनसान बुनती है। जानते हुए भी कि यह दुनिया एक कवि या उसकी कविता की कोई परवाह नहीं किया करती। और उन मूल्यों की भी नहीं, जिससे एक पूरी और साफ-सुथरी कायनात टिकी होती है, और जिससे प्रतिबद्ध कवि हर जनम सुनसान भोगने को तत्पर होता है।

कवि जानता है कि दुनिया को सुंदर देखने के आंकाक्षी और उसके जैसे मानवीय मूल्यों के पक्षधर लोग कबीलों में ही रह सकते हैं। इसलिए कई बार घर-परिवार और अक्सर समाज व अपनी दुनिया की भीड़ से निकलकर बिल्कुल अपने जैसों की स्मृति के खंडहरों में पुरातत्ववेत्ता की मानिंद भटकने लगता है—

जाने को जा सकता था घर  
पर मन में बैठ गया था डर  
लोटे से मारेगा बेटा  
बहू कहेगी दुर...दुर...दुर...।

सुनने सहने की शक्ति नहीं

आँखें झरती थी झर-झर

बूढ़े पीपल के तरु तर

चुपचाप सो गया वह थक कर।

कवि की यायावरी उसका आवारापन नहीं, चीन्हे-अनचीन्हे चीजों के भीतर पैठने वाली तीर्थयात्रा है। कवि की उदासी का कारण बाहर का मौसम नहीं, भीतर का वह दर्द है जिससे लड़े बिना मोक्ष बेमानी होता है। इस मोक्षाकांक्षा से ही कविता उपजती है। दरअसल कविता उन जगहों की तलाश है जो विलीन होकर भी अपनी ओर बुलाती रहती हैं और जहाँ भविष्य की ठोस जमीनें बची होती हैं। दरअसल कविता वह आकांक्षित परिसर है, जहाँ एक आवारा लड़की के लिए भी घर बनाया जा सकता हो। जहाँ छिन्न-भिन्न होकर भी दूसरों को बसाने वाली और शांता जैसी बहने हों। जहाँ से व्रतधारी लकड़ियों के प्रातःस्नान की आवाज सुनाई दे, शीत लहर या अलसाती हवा की दीवारों को लाँघती हुई। जहाँ घरों से निकाले जाने वाले बूढ़ों के लिए एक प्रेमचंद बसता हो। जहाँ मुहल्ले की लड़कियों का हाल-चाल जानना व्यभिचार न हो। जहाँ नमकदार मिट्टी हो। जहाँ बीज बोने से पहले धरती को माथ नवाने वाले किसान हों। जहाँ बूँदों की झमझम से बज उठने वाली आल्हादित धरती हो। जहाँ रात-रात-भर, जाग-जागकर खेत सींचने की कला सौपने वाली परंपरा हो। जहाँ गोदाम या चूल्हे-चक्की तक ही नहीं, चिड़ियों के लिए भी दाने बचाने की उदारता हों। जहाँ बार-बार की उजाड़ के बावजूद खुद को बसाने वाले जिद्दीवान लोग हों। जहाँ ब्लैक एंड व्हाइट चेहरे भी अपनी मौलिक सौंदर्य से रंगीन दुनिया के आग्रही को अपने पास बुलाते हों। जहाँ एक दूजे से फँसकर मुस्कुराने वाली रोशनी हो। जहाँ प्राचीन स्मारक की तरह दिखने वाले आदमी हों। जहाँ वैश्विकता के बड़े-बड़े समुद्री बेड़ों की मौजूदगी के साथ/बाद भी देसी डोंगिया भी हों। दरअसल कवि ताउम्र इन्हीं छोटी-मोटी बातों वाली

दुनिया को ढूँढता फिरता है। उसे कोई आपत्ति नहीं कि दुनिया बड़ी-बड़ी चीजों से क्यों न सज धज जाये, किन्तु वहाँ निहायत छोटी चीजें भी सही सलामत बचायी जाती रहें, क्योंकि उन छोटी चीजों के बिना कहना मुनासिब नहीं होता कि—

छोटा हूँ, पर रहने दो

छोटी छोटी बातें

कहता हूँ-कहने दो।

छोटी से छोटी बातों को भी तवज्जो देने वाला कवि उतना छोटा नहीं होता जितना छोटा उसे माना जाता है। कवि बड़े आदमी होने का प्रमाण है। इतना बड़ा कि अपने विरोधियों को भी बर्बाद करने से बचता रहे। इतना बड़ा कि उसे कोई दूसरा छोटा नजर नहीं आये। बड़ा ऐसा कि जिसकी हर हार जीत में शुमार हो। कवि समय का ईमानदार चित्रगुप्त होता है। सबका हिसाब रखने वाला। सबकी बहीखाता लिखने वाला। कवि आखिर किसे माफ करता है? उस कवि को भी नहीं जो बस्ती की कविता को बाजार की वस्तु बनाने की साँठगाठ करता है। एक वही तो है जिसका अटूट विश्वास है-बस्ती और बाजार के सरोकार कभी एक नहीं हुआ करते। वह अपने कबीले के उस सदस्य को भी नहीं बख्शाता, जो अपनी कविता की चमक घटने के भ्रम में दूसरी कवि को उपेक्षित बीहड़ में छोड़ आता है। एक कवि को इससे अधिक क्या तकलीफ होगी जो अपने जैसों से रुठ कर बिरादरी से खुद को

निर्वासित कर लेता है। क्षुब्ध मन से निंदा प्रस्ताव रखते हुए कि—भूल जाओ कि वह जनपद का कवि है

गूँज रहा है उसके स्वर से दिग-दिगन्त है

मरने दो उसको दूर देश में पतझड़ में

तुम सब चहको भड्डो तुम्हारा तो

हर दिन बसन्त है।

चारों तरफ सुनसान से घिरे उस कवि के बारे में और कितना कहा जाये जिसे यह पूरा भान हो कि—

झंडे जो मैंने उठाए

नारे जो मैंने लगाए

गीत जो मैंने गाए

सब थे दूसरों के बनाए

यह आत्मविश्वास ही कवि की उपस्थिति को अमरत्व प्रदान करता है जिससे चारों तरफ बिखरे पड़े सुनसान में रहते हुए अविराम बातें करता रहता है—

फिर शुरू होती हैं बातें अविराम

कलह और प्रेम की दुनिया ही है ऐसी

खत्म नहीं होता इसका धागा।

कोई फिर चिड़ी लिखता है

ढूँढता है किसी खो गए का पता।

अपने सुनसान और निर्वासन में कवि अपनी कविता में पानी से भरे झागल को संभाले रखता है, शायद इसलिए कि वे थके-हारे लोग लौटे तो प्यास मिटा सकें, सूखे की मार से जो कभी गाँव से उखड़ गये थे।

एफ-3, आवासीय परिसर, छत्तीसगढ़ माध्यमिक शिक्षा मंडल, पेंशनवाड़ा, रायपुर, छत्तीसगढ़-492001

मो.-9424182664, ईमेल-srijangatha@gmail.com



## समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी स्वर

डॉ. बिनय कुमार पटेल

समकालीन कविता मुख्य रूप से 1970 के बाद की हिंदी कविता के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला विशेषण है। हालांकि कुछ आलोचक साठोत्तरी कविता को भी समकालीनता के दायरे में ही देखने का आग्रह करते हैं परंतु अब यह स्थापित हो चुका है कि हिंदी कविता के इतिहास में साठोत्तरी कविता की प्रवृत्तियाँ अलग थी और समकालीन कविता की अलग। इसलिए 70 के दशक के बाद की कविताओं को समकालीन कविता के रूप में देखा गया। 'समकालीन' शब्द अंग्रेजी के Contemporary का हिंदी पर्याय है। इस शब्द को लेकर काफी विचार-विमर्श हुए, वाद-विवाद भी हुए। वाद-विवाद का विषय यह भी रहा कि आखिर इस समकालीनता की समय-सीमा क्या है? इसका अंत हम कब मानें? इसका अंत हुआ भी है या नहीं? वगैरह-वगैरह। समकालीन रचनाकार इन तमाम वाद-विवादों से न उलझते हुए लगातार वे सृजनरत हैं। कविता, कहानी, उपन्यास जैसी केन्द्रीय साहित्यिक विधाओं में लगातार नए प्रयोग, नए कथ्य, कहने की नई भंगिमा के साथ समकालीनता नित नए-नए रूपों में हमारे सामने उपस्थित है।

स्वाभाविक है कि ऐसे में हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि समकालीनता हम किसे कहेंगे? समकालीन कविता की जाँच पड़ताल करते हुए आलोचक डॉ. मोहन अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता की भूमिका' में कहते हैं-“चूँकि एक रचनाकार एक आम आदमी से ज्यादा संवेदनशील, बौद्धिक और जिम्मेदार होता है इसीलिए वह अपने समय और समाज की परिस्थितियों का मूक द्रष्टा न होकर एक आत्मीय आलोचक होता है। वह तमाम चीजों को एक खास क्रिटिकल एंगल के साथ देखता है और यही एंगल रचनाकार को बाध्य करता है कि वह अपने आस-पास की घटनाओं पर गहराई से सोचे और उसकी वास्तविकताओं को उद्घाटित करे। चूँकि, रचनाकार अपने समाज की सर्जनात्मक शक्तियों का मूलभूत रूप होता है, इसलिए उस पर समाज का भी ऋण से उद्धार होने का रास्ता यही होता है कि जिस समाज ने उसे बेहतर रूप से रचा है, वह उस समाज को और बेहतर बनाने में अपना गंभीर योगदान दे। समाज के प्रति प्रतिबद्धता, जिम्मेदारी और उसे बेहतर बनाने की आकांक्षा ही रचनाकार को समकालीन बनाती है।” (पृ.-7) यहाँ स्पष्ट है कि डॉ. मोहन अपने समाज के प्रति प्रतिबद्धता, जिम्मेदारी और उसे बेहतर बनाने की आकांक्षा को ही समकालीनता मानते हैं अर्थात् अपने समय और समाज की चुनौतियों, चिंताओं से टकराने का नाम समकालीनता है। यह टकराव विध्वंस के लिए नहीं है बल्कि सृजन के लिए है, एक बेहतर भविष्य के सृजन के लिए।

समकालीन कविता पर विहंगम दृष्टिपात करते हुए यह लक्ष्य किया जा सकता है कि समकालीन कविता का मुख्य स्वर विद्रोह है। स्वाधीनता के बाद उपजे मोहभंग, भ्रष्टाचार, भूखमरी, संत्रास, शोषण, दमन इन तमाम चीजों से उपजे विक्षोभ के परिणाम स्वरूप समकालीन कवि विद्रोह करते नजर आते हैं। यह विद्रोह ही समकालीन कविता की मूल्य चेतना है। विद्रोह को समकालीन कविता का मूल्य मानते हुए आलोचक नरेन्द्र मोहन अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता के बारे में' कहते हैं-“विद्रोह एक मूल्य

है-प्रतिबद्धता-मूल्यों के हिस्से के तौर पर। ऐसे मूल्यों को कवि जिन्दगी से उठाता है, कमाता है और उसे बेहतर बनाने के लिए जिन्दगी को ही सौंप देता है। मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा से पैदा होती है और सामान्य जन के प्रति लगाव या संसक्ति को प्रतिफलित करती है।” (पृ.- 14) समकालीन कविता में यह विद्रोह का तेवर 1990 के बाद उदारवाद के नाम पर अपनाई गई नई अर्थ-व्यवस्था के फलस्वरूप और ज्यादा मुखर हुआ है। भूमंडलीकरण के नाम पर जिस नई अर्थ-व्यवस्था को भारत में लाया गया उससे हालात और भी बिगड़े हैं।

भूमंडलीकरण के आगमन ने से जहाँ एक ओर शोषण की एक नई दास्तान शुरू हुई है वहीं यह भी स्वीकार करना चाहिए कि भूमंडलीकरण की वजह से अलग-अलग अस्मिताओं ने जन्म लिया है और हर कोई अपने-अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए मुखर हुआ है। भूमंडलीकरण की सबसे बड़ी मार किसी वर्ग पर पड़ी है तो वे आदिवासी ही हैं जिन्हें सबसे ज्यादा शोषित किया गया और प्रताड़ित भी। सदियों से जंगल में निवास करते हुए इन आदिवासियों को विकास के नाम पर छला गया है। विकास आदिवासी भी चाहते हैं मगर अपनी जड़-जंगल और जमीन से अलग होकर नहीं। वे चाहते हैं कि विकास का स्वरूप कुछ ऐसा हो जिसमें उन्हें अपनी जमीन से अलग न होना पड़े। जमीन से अलग होने का अर्थ ही है अपनी संस्कृति से कट जाना। सवाल उठता है कि आखिर आदिवासी जंगल से अलग होना क्यों नहीं चाहते। दरअसल ये जंगल बाहर की दुनिया के लिए केवल जंगल हैं लेकिन आदिवासियों के लिए ये केवल जंगल नहीं बल्कि इनके देवता हैं, इनके पुरखे हैं, ये जंगल ही उनकी मातृभूमि है। इसे कोई बाहरी व्यक्ति समझ नहीं सकता। युवा कवयित्री जसिन्ता केरकेड़ा अपनी कविता ‘पहाड़ और पहेरेदार’ में कहती हैं- “पहाड़ के पहेरेदार/ जन्म से पहाड़ को जानते हैं/ सूँघ कर जंगल की गंध

बताते हैं/ नाड़ी छूकर उसकी देह का ताप/ और उसके चेहरे के बदलते रंग बताते हैं/ पहाड़ों, पेड़ों, झरनों यहाँ तक कि/ मिट्टी के नीचे दबे कंद कूल के नाम जानते हैं/ वे पहाड़ के सीने में दिल की तरह बसते हैं/ जिनके धड़कने से पहाड़ बचे रहते हैं।”

पूँजीवादी शक्तियों की नजरें अब इन पहाड़ों पर हैं। इन पहाड़ों के नीचे जो अपार खनिज दबे पड़े हैं उन्हें हासिल करने की इन होड़ इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों में मच गई है। इस क्रम में आदिवासियों को इन जंगलों से बेदखल करने के लिए साम-दाम-दंड-भेद की नीति अपनाई जा रही है। अपनी जड़-जंगल-जमीन से कटने की कसक ग्रेस कुजुर की कविता ‘एक और जनी-शिकार’ में देखी जा सकती है- “मेरा जुड़ा बहुत सूना लगता है संगी.../ सहुल के फूलों बिना/ और लगता है/ कहीं अटक गया है/ किसी डाल पर ‘करमा’ का गीत/ नहीं सुनाई पड़ता है अब/ बारिश की बूंदों का वह/ पत्तियों से झरता हुआ संगीत/ नहीं है ‘टोंकी’ में अब/ ‘पियार’ और ‘पिटोर’ की मिठास।” विकास के नाम पर अपनी संस्कृति, अपनी अस्मिता से कटा हुआ समाज कैसा होगा? इसकी एक तस्वीर जसिन्ता केरकेड़ा अपनी कविता “कैसे सिल दिया जात है यह समाज?” में गढ़ती हैं- “मुख्यधारा का एक हिस्सा/ अब यह समाज चलता-फिरता/ खाता-पीता, माँदर बजाता, नाचता-गाता तो दिखेगा/ पर इसके पास न दिल होगा/ न होगी इसकी आत्मा।”

समकालीन आदिवासी कवियों की कविता में केवल अपनी जड़-जंगल-जमीन से जुड़ाव और उससे अलग होने की पीड़ा और कसक को ही नहीं दर्शाया गया है बल्कि इन कवियों की कविताओं में प्रकृति के दोहन और शोषण के चित्र भी बखूबी उकरे गए हैं। अधिकाधिक लाभ कमाने की पैशाचिक प्रवृत्ति में पूँजीवादी शक्तियाँ किस कदर हृदयहीन होते जा रहे हैं इसपर सवाल करते हुए ग्रेस कुजुर कहती हैं- “पर्वतों की फिजाओं से/ आती आवाजों को/ कभी सुना है

तुमने/ जिनकी गुफाओं में/ प्रकृति सोती है/ जहां कंदराओं में/ हवाएँ झूलती हैं/ खामोश है जहाँ/ ऋषि-मुनियों की/ मौन भाषाएँ”(हे समय के पहरेदारों) कवयित्री के सवाल यहाँ खत्म नहीं होते वे इसी कविता में आगे चलकर पूछती हैं- “क्या तुमने कभी देखा है/ पर्वत को रोते?/ क्या कभी सुनी है/ उसके हृदय की आवाज/ क्या कभी देखा है/ उसका टुकड़े-टुकड़े होकर/ बिखर जाना?” ये पूँजीवादी शक्तियाँ कैसे लाभ कमाने की होड़ में आदिवासियों के जीवन में जहर घोल रहा है इसकी तस्वीर पेश करते हुए कवयित्री कहती हैं- “अपने ही स्वार्थ के लिए/ पर्वतों के पत्थर/ तोड़ रहे हो/ बारूदी गंध से/ जीवन को मरोड़ रहे हो।” एक ओर प्रकृति को नष्ट किया जा रहा है तो विकास के नाम पर जंगल-पहाड़ को नष्ट कर कंक्रीट के जंगल खड़े किए जा रहे हैं। इसे चित्रित करते हुए चर्चित युवा कवि अनुज लुगून ‘अखबार’ कविता में कहते हैं - “लड़ रहे हैं आदिवासी/ अधोषित उलगुलान में/ कट रहे हैं वृक्ष/ माफियाओं की कुल्हाड़ी से और/ बढ़ रहे हैं कंक्रीटों के जंगल।”

भूमंडलीकरण के तहत विकास का जुमला कितना खतरनाक और बेमानी हैं, कितना बड़ा छलावा है, सरकारी प्रपंच को और उसके खेल को उजागर करते हुए, युवा कवि अनुज लुगून ‘अखबार’ कविता में लिखते हैं- “बोलते हैं बोलने वाले/ केवल सियासत की गलियों में/ आरक्षण के नाम पर/ बोलते हैं लोग केवल/ उनके धर्मांतरण पर/ चिंता है उन्हें/ उनके ‘हिन्दू’ या ‘ईसाई’ हो जाने की” सरकारें कैसे आदिवासियों की जमीन पर कब्जा जमाने के लिए कुचक्र रचती हैं, अपने हक के लिए, अपनी जड़-जंगल-जमीन को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे आदिवासियों के खिलाफ आदिवासियों को ही किस प्रकार खड़ा किया जा रहा है इस कुचक्र को उदघाटित करते हुए रणेंद्र ‘अभी तो’ कविता में कहते हैं- “अभी तो, जंगलों, पहाड़ों और खेतों को/ एक आभासी कुरुक्षेत्र बनाने की तैयारी

जोर पकड़ रही है/ अभी तो, राजपरिवारों और सुख्यात क्षत्रिय कुलों के नहीं/ वही भूमिहीन, लघु-सीमान्त किसानों के बेटों को/ अलग-अलग रंग की वर्दियाँ पहना कर/ एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा कर दिया गया है/ लहू जो बह रहा है/ उससे बस चन्द जोड़े होंठ टहटह हो रहे हैं।” विकास के इस छलावे और जुमले में फँस चुके व्यक्ति के हालात को बयां करती है डा. राम दयाल मुंडा की कविता ‘विकास का दर्द’- “बन गया हूँ गीदड़/ रहा दौड़/ शहर की ओर/ मरने के पहले/ या कि एक पेड़/ विशाल शाल का/ गिरा/ जा रहा चीरा/ बीच मशीन आरा/ देश के लिए/ कहते हैं/ विकास के लिए” अपनी संस्कृति, अपनी मिट्टी से कटा हुआ इंसान मृतप्राय ही होता है। शहर का विकास उसे आकर्षित करता तो है मगर शहर में आकर वह व्यक्ति अपनी पहचान तो खो ही देता है, अपने अंदर के इंसान को भी धीमे-धीमे खो देता है और कब वह शहर के प्रपंच में पड़कर मारा जाता है इसकी खबर उसे लगती ही नहीं। इसीलिए नए-नए छलावे और प्रपंचों को पहचानने की गुहार लगाते हुए कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता ‘बिटिया मुर्मू के लिए’ में कहती हैं- “वे दबे पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में/ वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं/ वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे पढ़ते हैं/ वे कौन हैं?/ सौदागर हैं वे. ..समझो.../ पहचानों उन्हें बिटिया मुर्मू...पहचानों!/ पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं/ उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का/ बचपन चीत्कारता है/ उन्हीं की गाड़ियों पर/ तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग देखने/ कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में उतरती हैं/ नगाड़े की आवाजें/ कितनी असमर्थ बना दी गयी हैं/ जाने उसे...!” ऐसे में सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा विकास के तमाम दावे-वादे और प्रयास नाटक से महसूस होते हैं जिसकी शिनाख्त करते हुए ‘बचा लेने का भव्य नाटक’ कविता में कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा कहती हैं- “नाटक चल रहा है, अभिनेता कह रहा है/

गांवो, जंगलों में मौसम बदल रहा है/ सब कुछ जल्दी-जल्दी बचा लेना है/ भीग कर कुछ चीजों के खराब होने की संभावना है/ भविष्य के लिए थोड़ा भी न बचाएंगे/ तो एथनिक कहकर विश्व बाजार को क्या दिखाएंगे।”

जब आनुषंगिक रूप से, विकास का छलावा देकर आदिवासियों को उजाड़ने का, उन्हें विस्थापित करने का कुचक्र किया जा रहा है तो ऐसे समय में चुप रह पाना कैसे संभव है। इसलिए महादेव टोप्पो अपनी कविता ‘जंगल का कवि’ में कहते हैं- “जब जंगल की/ सारी विद्रोही आवाजों को/ जंगल के पेड़ों के हरेपन को/ हरे-भरे होकर सीना तान/ पहाड़ों पर घाटियों में/ उगने लहराने की/ उनकी आकांक्षा को/ महुए की बोटल में/ डुबोने की हो साजिश/ इस जंगल का कवि/ रहेगा भला कैसे चुप?” वहीं कवयित्री ग्रेस कुजूर ‘कलम को तीर होने दो’ कविता में कहती हैं- “वे लूटने-लुटाने आए/ हम गए परदेश/ धरती उजड़ी जंगल उजड़े/ रह गया क्या शेष?/ झाड़ियां हो गई कमान सब बिरवे तीर/ देखना बाकी है कलम को तीर होने दो “इसलिए ये आदिवासी कवि बोलते हैं, बोलते ही नहीं बल्कि संघर्ष के लिए आह्वान भी करते हैं। जहाँ ग्रेस कुजूर ‘एक और जनी-शिकार’ कविता में आदिवासियों को झकझोरते हुए सवाल करती हैं- “अटक गया है/ टहनी में/ क्या तुम्हें अपनी धरती की/ सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही?/ क्या अब भी निहारते हो/ अपने को/ दामोदर और स्वर्ण रेखा के/ काले जल में?/ किसने की है चोरी/ भिनसरिया में ढेंकी के संगीत की” वहीं इसी कविता में वे आगे चलकर कहती हैं- “हे संगी!/ तानों अपना तरकस/ नहीं हुआ है भोथरा अब तक/ बिरसा बाबा का तीर/ कस कर थामो/ टहनी पर अटके हुए सूरज के लाल गोढ़ा को/ गला दो अपनी हथेलियों की/ गर्मी से/ और फैला दो झारखंड की फुनगियों पर।”

संघर्ष की इस आवाज को नया तेवर देते हुए और संघर्ष के कारणों को बताते हुए ‘अखबार’ कविता में

कवि अनुज लुगून कहते हैं- “लड़ रहे हैं ये/ नक्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ/ जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ/ गुफाओं की तरह टूटती/ अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ/ इनमें भी वही आक्रोशित हैं/ जो या तो अभावग्रस्त हैं/ या तनावग्रस्त हैं/ बाकी तटस्थ हैं/ या लूट में शामिल हैं/ मंत्री की तरह/ जो आदिवासियत का राग भूल गए/ रैमण्ड का सूट पहनने के बाद” हाशिए पर पड़े हुए समाज की विडंबना यह है कि साजिश उनमें चेतना-सम्पन्न न होने देने का कुचक्र रचा जाता है और जो लोग इन हाशिए पर पड़े हुए समाज का सहारा लेकर सत्ता के गलियारों में जा पहुँचते हैं, वे वहाँ पहुँचते ही अपने समाज, अपने लोगों को भूल जाते हैं। सत्ता, पद के मद में इस समाज का भला करने के बजाय वे अपना ही स्वार्थ साधने लगते हैं। उनकी आँखें चौंधिया जाती है राजपथ की भव्यता और चकाचौंध में- “अभी तो/ राजपथ की/ एक-एक इंच सौंदर्य सहेजने/ और बरतने की अद्भुत दमक से/ चौंधियाई हुई हैं हमारी आँखें”(अभी तो-रणेन्द्र) संघर्ष की वाणी को मजबूत करते हुए ग्रेस कुजूर ‘कलम को तीर होने दो’ कविता में कहती हैं- “क्या कर लेंगी उनका/ बंदूक और गोलियां/ लांघते ही देहरी/ हजारों कहानियां/ नस-नस हो गई कमान सब लहू तीर/ देखना बाकी है कलम को तीर होने दो” वे कहती हैं कि ये बंदूक और गोलियाँ जो खूनी पंजों के हाथ हैं उनसे डरने की आवश्यकता नहीं है। इन गोलियों से जो खून बहेगा वो संघर्ष की एक नई दास्तान लिखेगा। इसलिए आदिवासियों के लिए आवश्यक है अपनी जड़-जंगल-जमीन के लिए संघर्ष करना।

इस सरकारी कुचक्र में मीडिया भी एक महत्वपूर्ण भूमिका सरकारी तंत्र के साथ मिलकर अदा कर रहा है। लगातार आदिवासी बहुल इलाके में नक्सली आंदोलनों की भर्त्सना तो करता है मगर इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा, सरकार द्वारा इन इलाकों में मचायी जा रही तबाही पर मीडिया खामोश है, यदि कुछ बोलता भी है

तो दबी आवाज में। हिंदू-मुसलमान पर बहस तो हर रोज होती है मगर आदिवासियों के शोषण-विस्थापन पर कभी कोई बहस नहीं देखने को मिलती। ये मीडिया जगत की मजबूरी भी है क्योंकि इन मीडिया-कर्मियों के जीवन में जो ऐशो आराम है, ग्लैमर है, भव्यता है वो इन पूंजीपतियों की वजह से ही है। विज्ञापनों के लिए मोटी रकम देने वाले पूंजीपतियों से अपने आर्थिक हित साधने वाली मीडिया आखिर कैसे उनसे उनकी ही बर्बरता पर सवाल करेगा। 'गुरिल्ले का आत्मकथन' कविता में अनुज लुगून इसे बहुत मार्मिकता के साथ चित्रित करते हैं- "मैं अपनी बात मीडिया/ और पत्रकार बंधुओं से कहता हूँ/ वे हँसते हैं कि- 'यह मेरी मुखता है'/×××/ मैं अपने स्वजनों को खोजते हुए/ भटकता हूँ और अखबार वालों को/ विज्ञापन मिलने लगते हैं पहले से कई गुना ज्यादा। 24×7 देश और दुनिया की खबर रखने वाला और खबर लेने वाला मीडिया चकाचौंध, ग्लैमर, ऐश्वर्य और 'पावर' के नशे में चूर है। उन्हें आदिवासियों की चीख-पुकार सुनाई नहीं देती- "अभी तो, हत्यारे की हँसी से झरते हरसिंगार/ की मादकता से मताएँ मीडिया के/ आठों पहर शोर से गूँजता दिगंत/ हमें सूई की नोक भर अवकाश देना नहीं चाहता।" (अभी तो-रणेन्द्र)।

अपनी अस्मिता, अपने अस्तित्व के संकट को झेल रहा आदिवासी समाज, जिसे इतिहास में जगह नहीं मिली, अपना इतिहास स्वयं लिखने के लिए आग्रही है। जहाँ रणेन्द्र अपनी कविता 'अभी तो' में कहते हैं- "अभी तो/ हमारी मासूम कोशिश है/ कुचौले शब्दों की ढाल ले/ इतिहास के आभिजात्य पन्नों में/ बेधड़क दाखिल हो जाएँ/ द्रौपदी संताल, सीके जानू, सत्यभामा सौरा, इरोम शर्मिला, दयामनी बारला और... और... गोरे पन्ने थोड़े संवला जाएँ "वहीं महादेव टोप्पो 'रचने होंगे स्वयं ग्रंथ' कविता में कहते हैं- "इससे पहले कि/ वे पुनः तुम्हारा अपने ग्रंथों में/ बंदर-भालू या/ किसी अन्य जानवर/ के रूप में करें वर्णन/ तुम्हें अपने

आदमी होने की/ तलाशनी होगी परिभाषा/ उनके सिद्धान्तों/ स्थापनाओं के विरुद्ध/ उनके बर्बर वैचारिक/ हमलों के विरुद्ध/ रचने होंगे/ स्वयं ग्रंथ।" केवल सरकारी तंत्रों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ही आदिवासी समाज को नहीं छला, इतिहास के ग्रंथों ने भी इन्हें छला है। आदिवासी समाज को कभी मुख्यधारा का समाज न तो माना और न ही उनके प्रयासों और अवदानों को वो जगह दी जो उन्हें मिलनी चाहिए थी। इतिहास लिखनेवाले भी आभिजात्य वर्ग के ही थे और हैं जो 1875 के आंदोलन को 'भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम' प्रमाणित करते हैं मगर आदिवासियों के आंदोलनों को 'विद्रोह' के रूप में ही इतिहास में दर्ज करते हैं। जब आदिवासी अपनी अस्मिता, अपनी जगह के लिए आंदोलन करने लगे तब जाकर कहीं बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हो को जगह मिल पाई है।

जब आदिवासियों के खिलाफ इतने तरह के कुचक्र चल रहे हैं तब जनतंत्र, लोकतंत्र, समाजवाद, आजादी, न्याय, व्यवस्था, सरकार ये तमाम शब्द निरर्थक बनकर उभरते हैं। विकास के नाम पर, मुख्यधारा में लाने के नाम पर आदिवासियों को आदिवासियों के ही खिलाफ छल एवं बलपूर्वक खड़ा किया जा रहा है। 'ग्लोबलाइजेशन' ने ही अब अपना नाम बदलकर 'ग्लोकलाइजेशन' कर लिया है अर्थात् नयी खाल ओढ़ ली है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों, पूंजीपतियों के लिए पलक-पाँवड़े बिछा कर लेटी हुई सरकार सारे कुचक्रों को समझने के बावजूद आँखें बंद किए हुए है। सरकार के लिए जनता भेड़-बकरियाँ हैं, गुलाम है। जाहिर है ऐसे समय में 'लोकतंत्र' शब्द यदि किसी को खोखला नजर आता है तो इसमें गलत कुछ भी नहीं- "एक मैं था-/ किसान था, गुलाम हो गया/ मजदूर था, गुलाम हो गया/ बेरोजगार था, गुलाम हो गया/ क्लर्क था, गुलाम हो गया/ शिक्षक था, गुलाम हो गया/ मैं एक देश था/ अपने ही देश में गुलाम हो गया/ ×××/ कुछ देर में गुलाम/ मालिक के कहने पर/ सड़कों पर आएँगे वोट

डालेंगे/ और जश्न मनाएँगे- “लोकतंत्र...लोकतंत्र... लोकतंत्र...”।

(गुलामगिरी-अनुज लुगुन)

आदिवासी कवियों की कविता में केवल अपनी जड़-जंगल-जमीन से कटने का दर्द, विस्थापन की पीड़ा और संघर्ष ही व्यंजित नहीं है। आदिवासी कवियों की कविता का यह केवल एक पक्ष है। आदिवासी कवियों की कविता में दूसरे पक्ष भी व्यंजित हुए हैं। जहाँ आदिवासी कवयित्रियों की कविता में स्त्री मन की चिंता, उसका दुःख, घर-परिवार में अपनी जगह के लिए जद्दोजहद के स्वर सुनाई देते हैं वहीं आदिवासी कवियों की कविता में व्यापक समाज की चिंता लक्ष्य की जा सकती है- “तन के भूगोल से परे/ एक स्त्री के/ मन की गाँठें खोल कर/ कभी पढ़ा है तुमने/ उसके भीतर का खौलता इतिहास?” (क्या तुम जानते हो-निर्मला पुतुल)। वहीं ग्रेस कुजुर अपनी कविता ‘बौना संसार’ में कहती हैं- “लेकिन तुम्हें उसका बरगद होना/ अच्छा नहीं लगता/ तुम-/ कैद कर देते हो उसे-/ गमले में किसी बोनसाई की/ मानिंद/ इसके बावजूद वह फूलती है/ फलती है/ और तुम उसके इसी बौनेपन में कितने खुश हो।” स्त्री चाहे वह सवर्ण हो या दलित या आदिवासी, पुरुष हमेशा ही उसे दबाता आया है। पुरुष की दृष्टि में वह केवल एक देह भर है जिसका काम ही है पुरुष की दैहिक, भौतिक और पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा करना। चंचल-चपल लड़की प्रेमिका की भूमिका तो अदा कर सकती है मगर पत्नी की भूमिका ऐसी लड़की अदा नहीं कर सकती। सुघड़-संस्कारी बनने की ‘ट्रेनिंग’ उन्हें बचपन से ही दी जाने लगती है- “बहुत बोलती हैं जो बचपन से/ उन पर फूंक दिया जाता है एक मंत्र/ “शांत लड़कियां ही होती हैं सबसे अच्छी”/ और वे इस मंत्र के असर से होश संभालते ही/ सिलने लगती हैं अपना मुँह/ छांटने लगती

हैं कंकड़, भाषा की सूप से/ जलाने लगती हैं छंट गए शब्दों को धीरे-धीरे/ भीतर कहीं सुलगते चुल्हे में/ और घर से निकलने से पहले/ डाल लेती हैं “अच्छी लड़की वाला दुपट्टा” अपने सीने पर”।

(शोर मचाती लड़कियां-जसिंता केरकेड़ा)

तथाकथित महाशक्ति में तब्दील हो रहे भारत के चेहरे पर बाल मजदूरी एक बदनमा दाग की तरह है। ऐसे में कवि हजारी लाल मीणा ‘राही’ अपनी कविता ‘बाल मजदूरी’ में एक सवाल उठाते हैं- “बारह करोड़ बाल मजदूरों का समूह/ पूछ रहा है सवाल/ देव भूमि में पैदा होना/ क्या उनका दोष है?” यह सवाल देश के कर्णधारों से पूछा गया सवाल है। समाज में फैल रही हिंसा और अलग-अलग समुदायों, वर्गों में बँटे हुए समाज, राष्ट्र और मनुष्य के प्रति चिंता जाहिर करते हुए ‘ग्लोब’ कविता में अनुज लुगुन कहते हैं- “मेरे हाथ में कलम थी/ और सामने विश्व का मानचित्र/ मैं उसमें महान दार्शनिकों/ और लेखकों की पंक्तियां ढूँढ़ने लगा/ जिन्हें मैं गा सकूँ/ लेकिन मुखे दिखाई दी/ क्रूर शासकों द्वारा खींची गई लकीरें/ उस पार के इनसानी खून से/ इस पार की लकीर, और/ इस पार के इनसानी खून से/ उस पार की लकीर।”

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी कवियों-कवयित्रियों का आगमन अत्यंत सार्थक है। एक ओर इनकी कविताओं में जहाँ अपनी जड़-जंगल-जमीन से अलग होने की पीड़ा, विस्थापन, सरकारी प्रपंच, मीडिया की बेरुखी, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का छलावा इत्यादि व्यंजित हुआ है वहीं व्यापक समाज की चिंता भी अभिव्यक्त हुई है। इसे पहचानने और हिंदी कविता के इतिहास में, हिंदी कविता संदर्भित आलोचनाओं में विशेषकर 90 के दशक के बाद की कविताओं के संदर्भ में इन कविताओं के महत्व को रेखांकित करने की आवश्यकता है।

सहायक प्राध्यापक (contractual) हिंदी विभाग, उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी,

पोस्ट : एन. बी. यू., दार्जिलिंग-734013, मो. 9832861510



## राजेश जोशी : लोकतंत्र की तलाश में

डॉ. सारदा बैनर्जी

एक लोकतांत्रिक कवि होने के नाते राजेश जोशी की कविताओं में लोकतंत्र का स्वीकार और लोकतंत्र के प्रति असंतोष दोनों मौजूद हैं। इसी असंतोष के तदुपरांत प्रतिवाद का स्वर मुखर हुआ है। एक लोकतांत्रिक नागरिक के लिए यह जरूरी है कि उसमें लोकतंत्र को पाने की बेचैनी हो। सत्ता, विश्व-हिंसा, बाजारवाद, तानाशाही, साम्प्रदायिकता के प्रतिवाद में लिखी राजेश जोशी की कविताएं लोकतंत्र को पाने की इसी बेचैनी को दर्ज करती चलती है। राजेश जोशी ने स्वयं लिखा है, “इस समय के अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं को व्यक्त करने और प्रतिरोध के नए उपकरण तलाश करने की बेचैनी हमारी पूरी कविता की मुख्य चिन्ता है।”

व्यक्तिगत जीवन की क्षणिक अनुभूतियों को समेटती हुई उनकी कुछ कविताएं व्यापक जनजीवन का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है। वहीं निराशा और उदासी का अतिक्रमण कर उनकी कविताएं जीवन में रोशनी का आह्वान करती है। संकटमूलक मुद्दों को उधारने के लिए कई समय राजेश जोशी फैंटैसी का प्रयोग करते हैं तो कई बार पूरी बेबाकी के साथ सत्ता और उसकी राजनीति पर चोट करते हैं। उत्तर-आधुनिक दौर में जब बाजार हमारी भाषा, हमारी इच्छा-अनिच्छा को नियंत्रित कर रहा है, हमारी भाषा को बदलने की पुरजोर कोशिशें तेज हैं उस दौर में राजेश जोशी की कविताएं पुरानी भाषा को जीवित रखने, पुराने शब्दों को भूल जाने के खिलाफ आवाज उठाती है। ‘एक दिन बोलेंगे पेड़’, ‘मिट्टी का चेहरा’, ‘नेपथ्य में हँसी’, ‘धूप-घड़ी’, ‘दो पंक्तियों के बीच’, ‘चाँद की वर्तनी’, ‘जिद’ आदि उनके काव्य-संकलन है।

राजेश जोशी अपनी कई कविताओं में ‘फैंटैसी’ का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं यथार्थ और फैंटैसी का अंतर्ग्रथित रूप दिखाई देता है। ‘रेल लाइन का भूत’, ‘जादूगरनी’, ‘असली किस्सा तबीयत के हिरन हो जाने का’ ऐसी ही कुछ कविताएं हैं। फैंटैसी के माध्यम से कवि उन रपटनभरे मसलों पर बात करते हैं जिन पर हमने बात करना बंद कर दिया है या जिन्हें हमने बिना प्रतिवाद किए स्वीकार कर लिया है। इस संदर्भ में कवि ऋतुराज ने लिखा है, “वे फैंटैसी का इस्तेमाल भयावह पटकथा के रूप में नहीं करते। वे तो इसे अपने मन की सहज, सरल भावाकुलता में गूँथकर यथार्थ के बरअक्स तीखे विपर्यय के रूप में रखते हैं ताकि यथार्थ का चेहरा अधिक नुकीला और वास्तविक दिखाई दे।”

‘जादूगरनी’ कविता की पंक्तियाँ पढ़ें, “बुलाने से उसके इतने पास आ जाते थे बादल/ कि हाथ बढ़ाओ और छू लो/ उसके कहने से पानी बरसने लगता था कि हथेली बाहर निकालो/ तो भीग जाए/ उसके कहने से परिन्दे बिना हिचक कन्धों पर आकर बैठ जाते थे/ वह जादूगरनी थी। यूँ ही नहीं कहते थे कहने वाले/ कि मोहन का दिल उसकी मुट्ठी में बन्द है।”

इस कविता में जादू, जादूगरनी की मृत्यु के तिलिस्म को चित्रित करके आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण पैदा हुए असंतोष की समस्या को उठाया गया है। आभासी दुनिया के मोह ने इंसान को यथार्थ से लगभग काट दिया है। अब इंसान यथार्थ में जीते हुए भी आभासी से बंधा हुआ है। इंटरनेट की रंगीन दुनिया ने हर चीज को बहुत सहज-प्राप्य बना दिया है। इसी सहजता व सुलभता ने संतुष्टि की आड़ में भयानक असंतुष्टि भी पैदा की है। इसने लगावहीन मित्रता को संभव बनाया है। आप ज्योंही भावना और आभासी को एकमेक कर देते हैं आप के अंदर असंतोष प्रबल हो उठता है।

कविता की इस बदली हुई भाषा के संदर्भ में अरुण कमल ने सटीक लिखा है, “राजेश की कविता अब भाषा के नए उपकरणों एवं आयुधों का व्यवहार करती है तथा कविता को वहाँ ले जाती है जहाँ भाषा ‘अर्थ से अधिक अभिप्रायों में निवास करती है।’”

बाजारवाद ने हमारे समाज, हमारी संस्कृति व हमारी भाषा को बुरी तरह से क्षतिग्रस्त किया है। ‘यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है’, ‘हमारे समय के बच्चे’, ‘खिलौना’, ‘विकल्प’, ‘अतिरिक्त चीजों की माया’, ‘एक-से मकानों का नगर’ आदि कविताएं बाजारवाद के विरोध में लिखी गई हैं।

‘यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है’ कविता में राजेश जोशी ने कट्टरपंथी शक्तियों पर और बाजारवाद पर सामूहिक प्रहार किया है। कविता सिगरेट नहीं पीने की तमाम हिदायतों से शुरू होते हुए सिगरेट से भी ज्यादा खतरनाक तत्वों और वैश्विक षड्यंत्रों पर निशाना साधती है। बानगी देखें, “व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है/ दिनोंदिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव राष्ट्रवाद का नया उफान/ वित्त पूँजी का प्रपंच बजरंगियों का उत्पात बहुराष्ट्रीय कंपनियों का/ लगातार फैलता जाल।” आगे कवि ‘वाटर’ फिल्म को लेकर धार्मिक तत्ववादियों द्वारा किए गए उन्मादी हमलों पर सवाल उठाते हैं। उन पर व्यंग्य कसते हैं

जिनकी संस्कृति पानी को ‘वाटर’ कहने पर, शबाना आजमी के सिर मुंडाने पर खतरे में पड़ जाती है। बाजारवाद के हाथों बिक चुके सांप्रदायिक तत्वों के छद्म राष्ट्रवाद का मखौल उड़ाते हुए कवि ने लिखा है, “महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं/ क्रांतिकारी गीतों को बना सकते हैं पॉप सांग/ बेच सकते हैं एक साथ वंदे मातरम् और कोलगेट की मुस्कान/ हानिकारक है संविधान की समीक्षा इतिहास परिषद पर मंडराता खतरा/ और सबसे हानिकारक है उनका राष्ट्रवाद।”

नव्य-उदारीकरण के दौर में हमारी नई पीढ़ी की मनोदशा और उनके क्रियाकलापों पर बाजारवादी प्रभाव को बड़े ही सांकेतिक ढंग से राजेश जोशी ने ‘हमारे समय के बच्चे’ कविता में उजागर किया है। यह कविता सन् 2000 में लिखी गई है। विकसित तकनीकी के प्रयोग में सिद्धहस्त आज के आधुनिक बच्चों को तकनीक से जुड़ी सारी जानकारियाँ हासिल है। बाजार ने इनकी भाषा, इनके व्यवहार, इनकी इच्छाओं, इनके सपनों और इनके वाक्य-विन्यास में रद्दोबदल किया है। ये हर चीज त्वरित गति से पा जाना चाहते हैं लेकिन, “इनकी दिलचस्पी तेजी से खत्म हो रही है/ समाज, राजनीति या साहित्य जैसे विषयों में/ हालाँकि जरूरत पड़ने पर इन विषयों को भी/ खोज लेते हैं ये इंटरनेट पर उपलब्ध खिड़कियों में/ उन्हें लगता है उनकी उँगलियों की पोरों से खुल सकती हैं/ दुनिया की तमाम खिड़कियाँ।”

इन बच्चों के पास वह सब कुछ है जो पुरानी पीढ़ी के पास नहीं था लेकिन इनके पास वह सब नहीं है जो पहले के बच्चों को आसानी से मिल जाया करता था। यह नई पीढ़ी उन गुणों से दूर होती जा रही है जो एक आधुनिक लोकतांत्रिक मनुष्य की पहचान है, जो हर एक इंसान के अंदर का आवश्यक गुण है, “इनकी आँखों में सपनों से ज्यादा महत्वाकांक्षाएँ हैं/ सफलता के सारे गुर इनकी निगाह में है/ इनमें बेचैनी नहीं थोड़ी हड़बड़ी है।”

बाजारवाद के चकाचौंध तले सत्य, ज्ञान और स्वप्न दन हो जाते हैं। लेकिन हम अनंत सूचनाओं से घिरे हैं। बानगी देखें, “यह समय सूचनाओं का समय है/ सूचनाओं में तब्दील हो रहा है ज्ञान/ यहाँ तक कि सच भी अब सिर्फ एक सूचना है।” आधुनिक तकनीकी ने हमें अनंत सूचनाओं से लबरेज तो किया है लेकिन वास्तविक दुनिया से दूर कर दिया है। अब हम आभासी में जीने को अभ्यस्त हो गए हैं। वास्तविक जगत की आवाजें हमें सुनाई नहीं देती। इसी कविता में आगे लिखा है, “इतने आक्रामक आकर्षक बेआवाज हैं इनके जूते/ कि किसी स्वप्न के उनके नीचे कुचल जाने की भी/ कोई आवाज सुनाई नहीं देगी कभी।”

एक अन्य कविता है ‘खिलौना’। बाजार में नए जमाने के मुताबिक नए खिलौने उतारे जा रहे हैं। यह अत्याधुनिक खिलौने हर उन औजारों की नकल करके बनाई गई हैं जिनसे समाज को, संस्कृति को खतरा है। प्लास्टिक की बन्दूकों, मशीनगनों, पिस्तौलों, टैंकों के अवयवों पर बने खिलौने बच्चों के लिए नया आकर्षण भले हो लेकिन, “बच्चों के अकेलेपन को एक नकली और हिंसक उत्तेजना/ से भरने की एक भयावह कोशिश की जा रही थी/ हमारा अन्याय और हमारी हिंसा जो हमेशा ही/ गरीब बाल मजदूरों और भिखारी बच्चों के सामने/ एक दुत्कार की तरह प्रकट होती है/ अब हमारे खिलौनों में प्रकट हो रही थी।”

बचपन पर किए जा रहे ये हमले अततः मानव-जीवन की सुकुमारता व सहजता को खत्म करने की आंतरिक रणनीति है। वह नई पीढ़ी जो पुस्तक की सुगंध लेते हुए, मुंहबोली कहानियां सुनकर बड़ी होती थी, जिनकी भोली आंखों में हम मनुष्यता और सुन्दरता के सपने आंक देते थे, इस दौर में वे कृत्रिम व उन्मादी आनन्द, त्वरित जीवन-शैली और प्रतियोगिता को ही जीवन का मर्म मानकर चल रही है। इस भयावह समय की त्रासदी को कवि ने पेश किया है।

बाजारवाद और विस्थापन की समस्या पर लिखी

एक अन्य कविता है ‘विकल्प’। अपने नये व्यापार के लिए जमीन हड़पने को कृतसंकल्प पूँजीपति वर्ग अब गरीबों से उनकी आजीविका छीनने में लगे हैं। उन्हें इस बात की फिक्र नहीं कि जो लोग खेतों के सहारे अपना गुजर-बसर करते थे वे कहां जाएंगे, क्या खाएंगे। शहरों में ले आकर इन बेरोजगार आश्रयहीन लोगों को लोभ और भय दिखाकर अपराध जगत की ओर जाने को मजबूर किया जा रहा है। बानगी देखें, “जैसे महान राजधानी में झारखंड के इलाकों से आई/ लाखों लड़कियां कर रही हैं झाड़ू-बासन के काम/ अपराध जगत् के दरवाजों पर नोवैकेंसी का/ कोई बोर्ड कभी नहीं रहा/ अब भी लामबन्द न होना चाहो, लड़ना न चाहो अब भी/ तो एक सबसे बड़ा विकल्प खुला है/ आत्महत्या का।”

नव्य-उदारीकरण किस प्रकार ‘मुफ्त’ के नाम पर वस्तुओं के प्रति अतिरिक्त मोह पैदा करता है इसे राजेश जोशी की कविता ‘अतिरिक्त चीजों की माया’ में देख सकते हैं। बाजार जरूरत की चीज के साथ मुफ्त के रूप में हमें गैर-जरूरी चीज भी थमा देता है। धीरे-धीरे वह गैर-जरूरत की चीज हमारी आदत का हिस्सा बन जरूरत की चीज में तब्दील हो जाती है। इस प्रकार गैरजरूरी को जरूरी बनाकर अतिरिक्त वस्तु की मांग को बढ़ाया जा रहा है। यह अतिरिक्त मुनाफा कमाने का बाजारवादी सूत्र है। कवि के शब्दों में, “अतिरिक्त हमारे मन की कमजोरी को पहचानता है/ लालच धीरे-धीरे पाँव पसारता है/ एक अतिरिक्त दूसरे अतिरिक्त को बुलाता है/ और दूसरा अतिरिक्त तीसरे अतिरिक्त के लिए/ जगह बनाता है।”

यह कविता बाजारवाद के वैचारिक मंसूबे पर सांकेतिक ढंग से लिखी गई एक महत्वपूर्ण कविता है। बाजार किसी तरह गैरजरूरी वस्तु को ‘मुफ्त’ के नाम पर हमारे जीवन में तथा हमारे विचारों में चुपके से प्रवेश करवा देता है इसे ‘अतिरिक्त’ शब्द के द्वारा सार्थक अर्थ प्रदान किया गया है। राजेश जोशी की

कविताओं पर नरेश सक्सेना ने बिल्कुल सही टिप्पणी की है, “राजेश की कविता की ताकत रेडारिक का अर्थ ही बदल देती है। वह देखते-देखते भाषा को वस्तु और वस्तु को उसकी अन्तर्वस्तु में बदल देती है।”

विश्व-भर में तानाशाही शक्तियां हर असंभव तरीके से अपना आधिपत्य विस्तार करना चाहती है। राजेश जोशी की ‘हँसी’, ‘उन्होंने रंग उठाए’, ‘झूठ के बारे में एक कविता’, ‘अँधेरे के बारे में कुछ वाक्य’, ‘मारे जाएँगे’ आदि कविताएं तानाशाही के विरोध में लिखी गई है।

तानाशाही किताब में लिखे गए शब्दों की रोशनी से डरती है। वह दुनिया में हर तरह से अंधेरा फैलाना चाहती है। कभी भ्रष्टाचार तो कभी हिंसक उन्माद के जरिए सत्ताशाही शक्तियां ऐसा करती आई है। इस संदर्भ में राजेश जोशी की ‘अँधेरे के बारे में कुछ वाक्य’ कविता द्रष्टव्य है। लेकिन वे लोग जो इन तमाम समस्याओं के प्रतिरोध में बेखौफ लिखते हैं उनसे ही तानाशाही को डर है। बानगी देखें, “अँधेरे से जब बहुत सारे लोग डर जाते थे/ और उसे अपनी नियति मान लेते थे/ कुछ जिद्दी लोग हमेशा बच रहते थे समाज में/ जो कहते थे कि अँधेरे समय में अँधेरे के बारे में गाना ही/ रोशनी के बारे में गाना है/ वे अँधेरे समय में अँधेरे के गीत गाते थे/ अँधेरे के लिए यही सबसे बड़ा खतरा था।”

विचारधारा के नाम पर देश में की जा रही हत्याओं के प्रतिवाद स्वरूप राजेश जोशी ने एक बेहतरीन कविता लिखी है, ‘उन्होंने रंग उठाए’। विचार के जरिए विचार को परास्त करने का तरीका अभी पुराना पड़ गया है। नया नुस्खा है हत्याय रंग के नाम पर, संगीत के नाम पर, शब्द के नाम पर। कट्टरपंथी ताकतों द्वारा जिस तरह प्रगतिशील लेखकों, चित्रकारों को निशाना बनाया गया है, उनकी हत्याएं की गई है, यह कविता उसका जबरदस्त प्रतिवाद है। बानगी देखें, “उन्होंने रंग उठाए/ और आदमी को मार डाला/ उन्होंने संगीत

उठाया/ और आदमी को मार डाला/ उन्होंने शब्द उठाए/ और आदमी को मार डाला।”

धार्मिक एवं प्रतिक्रियावादी ताकतों की तानाशाही का पर्दाफाश करती राजेश जोशी की एक बेहद शानदार कविता है ‘मारे जाएँगे’। यह ऐसा खतरनाक दौर है जहां आप सच नहीं बोल सकते; यहां सत्य के साथ खड़े होने का अंजाम है मौत। आपने विरोध किया नहीं कि आप पर निगरानी होगी, आप कठघरे में होंगे। सत्ता और धर्म के घालमेल का अंजाम कितना भयावह होता है इसका खुलासा करते हुए कवि ने लिखा है, “धर्म की ध्वजा उठाने जो नहीं जाएँगे जुलूस में/ गोलियाँ भून डालेंगी उन्हें, काफिर करार दिये जाएँगे/ सबसे बड़ा अपराध है इस समय निहत्थे और निरपराधी/ होना/ जो अपराधी नहीं होंगे, मारे जाएँगे।”

इस संदर्भ में अरुण कमल ने बिल्कुल सही लिखा है, “उनकी कविता साहस के साथ सत्ता के सभी पायदानों पर वार करती है, एक विराट सत्ता जो अर्थव्यवस्था से लेकर हमारी रसोई तक व्याप्त है। नागार्जुन और धूमिल के बाद सत्ता के तिलिस्म को उधारने वाले सर्वाधिक सशक्त कवि राजेश जोशी हैं।”

धर्म और देवताओं के विरोध में राजेश की कई कविताएं हैं, ‘यह धर्म के विरुद्ध है’, ‘असली किस्सा तबीयत के हिरन हो जाने का’, ‘पत्थर की अँगूठियाँ’ आदि। धर्म ने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है जिसकी आड़ में आम जनता को ठगा जा सकता है। धर्म लोगों को लाचार व बेबस बनाने की औषधि बनकर रह गया है। ‘यह धर्म के विरुद्ध है’ कविता इसी लाचारी पर लिखी गई एक व्यंग्यात्मक कविता है। भीत फोड़कर उग आए पीपल को मकान मालिक उखाड़ नहीं पाता क्योंकि यह धर्म के विरुद्ध है। उसका मकान अब सार्वजनिक स्थल बन गया है जहां लोग पूजा-पाठ के लिए आने लगे हैं। पीपल ने अपनी जड़ें फैला दी है, दीवार धसक गई है और, “पूरा नंगा हो गया है/ जहाँ से ताक-झाँक कर रहे हैं लोग/ पर वह किसी से/

कुछ नहीं कह पा रहा है/ क्योंकि यह/ धर्म के विरुद्ध है।”

राजेश जोशी की एक लंबी कविता है ‘असली किस्सा तबीयत के हिरन हो जाने का’। शनिग्रह के प्रकोप का खौफ दिखाकर जनता को बेवकूफ बनाने और अपना उल्लू सीधा करने का एक माध्यम बन गया है धर्म। फैंटैसीकल शैली में कवि ने शनिदेव की खबर ली है। कविता में कवि शनिदेव को धर दबोचते हैं और पूछते हैं, “क्या आपको खबर है/ कि आपका खौफ दिखाकर/ जब-तब अपनी अँटियाँ गरमाते रहते हैं/ हमारे यहाँ के धूर्त ज्योतिषी और पंडित/ ठीक-ठीक बताओ/ इस माल में कितना हिस्सा है तुम्हारा?”

‘पत्थर की अँगूठियाँ’ शीर्षक कविता में राजेश जोशी ने लिखा है कि संतान-सुख, कारोबार में लाभ, बाधाएं दूर करने के नाम पर नीलम, पुखराज, पन्ना, फीरोजी आदि ग्रहरत्नों के नए बाजार तैयार किए जा रहे हैं। इन रत्नों के साथ ही विभिन्न धातुओं में इन्हें धारण करने के तरीके सिखाए जा रहे हैं। जनठगई का यह कारोबार मूर्खों के सहयोग से ही फल-फूल रही है, “राशि से रंग/ रंग से मिलान करो/ पत्थर का/ यह मरगजी पन्ना है/ यह दूधिया अकीक/ यह संग-ए-मरियम है/ बवासीर के लिए मुफीद/ गुर्दे के लिए/ देखो यह फितून।”

‘गुरुत्वाकर्षण’, ‘सड़क पर चलते हुए’, ‘इस आत्महत्या को अब कहाँ जोड़ूँ’ आदि कविताएं सत्ता के प्रतिरोध में लिखी गई हैं। ‘सड़क पर चलते हुए’ कविता में सड़कें बनवाने का श्रेय लेती सरकार को फटकारते हुए कवि ने लिखा है, “तुम क्या जानते हो सड़क बनाने के बारे में/ डामर बिछाते बार-बार चिपक जाते हैं बूट/ बार-बार खींचकर निकालना पड़ता है जब पाँव/ तब कितनी खिंचती हैं पाँव की नसें/ क्या जानते हो तुम?”

कवि ऋतुराज के अनुसार, “राजेश जोशी की कविताओं में कहीं भी पराजित होकर दूर खड़े रहने का भाव नहीं है। वे अपने परिवेश और लोगों से गहरे जुड़े

हैं और उन्हीं से अपनी कविताओं के लिए ऊर्जा और आस्वाद ग्रहण करते हैं।”

चुटकुलों के आंतरिक महत्व पर राजेश जोशी की एक महत्वपूर्ण कविता है, ‘चुटकुलों के पक्ष में एक दलील’। आम तौर पर चुटकुले हँसने-हँसाने की चीज मान ली जाती है। लेकिन चुटकुले प्रतिवाद के जबरदस्त माध्यम भी हैं जो जनता की सुप्त चेतना को जागृत करके पुनःविवेचन की क्षमता देते हैं। चुटकुले उन भीतरी तहों में प्रवेश करते हैं जिनकी व्याख्या जटिल मान ली गई है। जिन्हें समझाने के लिए शब्द भी कम पड़ जाते हैं, चुटकुले सीमित संकेतों, अत्यल्प शब्दों एवं चित्रों के जरिए उन्हें व्यक्त कर देते हैं। चुटकुलों की उपादेयता को स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है, “कई संगीन खतरों की महीन सूचनाएँ छिपी होती हैं उनमें/ अपना स्वतंत्र संचार तंत्र विकसित कर लेने के लिए/ वो किसी भी व्यवस्था के मोहताज नहीं होते/ निर्भय होने का एक मंत्र जो छिपा होता है/ उनकी आंतरिक तहों में/ डरी और सहमी जनता उसे बहुत अच्छी तरह जानती है/ अत्याचारियों को पल भर में ही वो एक मखौल में बदल सकते हैं।”

विगत दस वर्षों में आर्थिक तंगी के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर किसान आत्महत्या की ओर बढ़े हैं। इसी समस्या को केंद्र में रखकर राजेश जोशी ने सन् 2008 में ‘इस आत्महत्या को अब कहाँ जोड़ूँ’ शीर्षक कविता लिखी है। कवि के अनुसार कृषि प्रधान देश के रूप में प्रख्यात भारत में पिछले कई वर्षों में डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्या की है। लेकिन सरकार का रुख इस समस्या को लेकर चलताऊ है जबकि वह साम्राज्यवाद के समक्ष नतमस्तक है। बानगी देखें, “परमाणु करार को आकुल-व्याकुल सरकार/ स्वाधीनता संग्राम के इतिहास को अपने कीचड़ सने जूतों से/ गन्दा करती एक बड़े साम्राज्य के राष्ट्राध्यक्ष को/ कोर्निश बजाती नजर आती है/ पत्रकारों और मीडियाकर्मियों के प्रश्नों को टालती हुई/ कि जल्दी ही विचार करेगी वह किसानों

के बारे में...।”

इंसान की संवेदना और अनुभूति भी तकनीकी हो गई है, परिवार और समाज के लोग जरूरत के अलावा एक दूसरे से मिलना और उनके घर जाना पसंद नहीं करते। इसे ‘संयुक्त परिवार’ नामक कविता में कवि ने स्पष्ट किया है। यह कविता सन् 1993 में लिखी गई है। बानगी देखें, “कम हो रहा है मिलना जुलना/ कम हो रही है लोगों की जान-पहचान/ सुख दुख में भी पहले की तरह इकट्ठे नहीं होते लोग/ तार से आ जाती है बधाई और शोक संदेश।” आज के दौर के लिहाज से देखें तो अब तो तार और फोन की भी जरूरत नहीं, सोशल मीडिया की बदौलत बस एक ‘ट्विटर’ और ‘क्लिक’ से ही बधाई और शोक संदेश भेजे जाने लगे हैं। कितनी यांत्रिक हो गई है मानवीय संवेदनाएं! कितनी हल्की हो गई है भावनाएँ! संयुक्त परिवार ने एकल परिवार का स्थान क्या लिया कि ‘बधाई’ और ‘शोक संदेश’ भी खानापूर्ति बनकर रह गए।

राजेश जोशी की कई कविताएँ हैं जिनमें वे भाषा और शब्दों को लेकर लगातार चिंतित दिखाई पड़ते हैं। बाजारवाद ने नए शब्दों को निर्मित किया है, उनका इंटरनेट व विज्ञापनों के जरिए प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। आधुनिक पीढ़ी बाजारवाद द्वारा निर्मित शब्दों से सम्बद्धता अनुभव करती है। पुराने शब्द लुप्त होने के कगार पर हैं और नए शब्द अपनी जगह बना रहे हैं। अंग्रेजी मिश्रित भारतीय भाषा या आधे शब्दों को लिखने की पद्धति अभी चरम पर है। ‘शब्दों का नया घर’ कविता में उन्होंने इसी चिंता को व्यक्त किया है, “सूनी सड़कों पर भटकती हुई हमारी आवाज/ रहने के लिए शब्दों का कोई नया घर ढूँढ़ रही है/ इतनी तेजी से बदल रही है हमारी भाषा/ कि किसी शब्द तक

पहुँचती है जब तक हमारी आवाज/ कोई दूसरी आवाज पहले ही पहुँचकर/ वहाँ अपना घर बसा चुकी होती है।”

‘भाषा की आवाज’ कविता में राजेश जोशी ने भाषा की समस्या पर और गहराई से विचार किया है, “बाजार पहले ही चुरा चुका था हमारी जेब में रखे सिक्कों को/ और अब वह सौदा कर रहा था हमारी भाषा का/ और हमारे सपनों का/ पुराने अनुभव की कमीज पहन कर/ नए विमर्श की शब्दावली के सामने खड़ा था मैं अकबकाया हुआ/ और नए बाजार में सौदा-सुलुफ करता एक विद्वंसक की तरह लग रहा था।” भाषा में आए इस परिवर्तन पर राजेश जोशी का मानना है, “भाषा के प्रति हमारा व्यवहार वस्तुतः जनतंत्र और पूरी मनुष्यता के प्रति हमारे व्यवहार को ही प्रकट करता है। हम एक ऐसे समय से रूबरू हैं जब वर्चस्वशाली शक्तियों की भाषा में उद्दंडता और आक्रामकता अपने चरम पर पहुँच रही है। बाजार की भाषा ने हमारे आपसी व्यवहार की भाषा को कुचल दिया है। विज्ञापन की भाषा ने कविता से बिम्बों की भाषा को छीनकर फूहड़ और अश्लीलता की हदों तक पहुँचा दिया है।”

राजेश जोशी अपनी कविताओं में प्रतिवाद और संवाद को लगातार जिन्दा रखने के पक्षधर हैं। बाजारवाद के पंजों तले दन होती जा रही भारतीय संस्कृति और भाषा को बचा लेने के सार्थक कदम का नाम है राजेश की कविता। लोकतंत्र पर जब जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, नस्लवाद के संकट मंडरा रहे हों तब लोकतंत्र की सार्थकता पर सवाल उठाना लाजिमी है। क्षय के कगार पर खड़ी मानवीयता की रक्षा के लिए प्रतिवाद की भाषा को अख्तियार करना जरूरी बन गया है।

अतिथि प्राध्यापक, सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज, 10, राजा नवकृष्णा स्ट्रीट,  
शोभाबाजार, कोलकाता-700005(पं. बं.), मो. 9038794738



## समकालीन कविता में समय, समाज और संस्कृति : सन्दर्भ स्त्री कलम

डॉ. शशि शर्मा

वर्तमान समय विसंगतियों से ग्रसित बेहद जटिल समय है। पूँजीवादी शक्तियाँ पारंपरिक मूल्य और विचारों को दरकिनार करते हुए भोगवादी संस्कृति के सन्दर्भ में नए मूल्यों और विचारों को स्थापित कर रही हैं। भूमंडलीकृत समाज में अर्थ का वर्चस्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। बाजारवाद अपने चरम पर है। 'मूल्यहीनता' मूल्य बन गया है। चरित्रहीनता चरित्र का उत्कर्ष कहला रहा है। उपभोग जीवन का मूलमंत्र बन गया है और शोषण-दोहन ताकत की निशानी। लोकतांत्रिक व्यवस्था के कर्णधार अपनी स्वार्थवृत्ति में आमजन के मौलिक अधिकारों को महज मुद्दा बनाकर आरोप-प्रत्यारोप को बढ़ावा दे रहे हैं। दरअसल यह समय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक दृष्टि से घोर पतन का युग है। ऐसे पतनोंमुख समय में कोई भी सच्चा सर्जक अपने सृजन-कर्म के जनोन्मुख दायित्व से मुँह नहीं फेर सकता। जहाँ तक बात समकालीन कविता की है तो समकालीन कविता प्रतिबद्धता और व्यापक जन सरोकार की कविता है। समकालीन कविता का दायरा विस्तृत है। वह अपने समय के सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों से टकराती है।

समकालीन कविता में कवयित्रियों की वृहत उपस्थिति देखी जा सकती है। एक समय था जब स्त्री कलम को महज स्त्री की व्यथा-कथा का आधार मान उसकी सृजनात्मक बौद्धिकता को कमतर करके आंका गया। साहित्यिक समाज की इस संकुचित सोच को तोड़ते हुए कवयित्रियों ने अपने समय, समाज और संस्कृति की सूक्ष्म पड़ताल करते हुए अपनी रचनाशीलता से पाठक और आलोचक वर्ग को विस्मित कर दिया। बदलते सामाजिक परिदृश्य पर इनकी कलम से वह आग निकली कि इनकी लेखनी को नजरअंदाज करना नामुमकिन हो गया। राजनीति, किसान-मजदूर, आदिवासी, बच्चे, उपभोक्तावादी संस्कृति, स्त्री, भूमंडलीकरण, बाजारवाद, जैसे समसामयिक विषयों पर इनका हस्तक्षेप सहज दृष्टिगत है। पेड़ के प्रतीक के माध्यम से समकालीन कवयित्री मनीषा झा ने स्त्री लेखन को कमतर करके आंकने वाले साहित्यिक समाज की मंशा को जाहिर करते हुए लिखा—“तुम्हारी यह चुप्पी/ उन्हें मजबूत बनाती है/ तुम्हारे खिलाफ/ जबकि तुम चाहो/ तो तूफान के गले मिल सकते हो/ पेड़, तुम्हारी ही ताकत पर/ जंगल टिका हुआ है।”

जाहिर है कि समकालीन कवयित्रियों के लिए सृजनात्मकता मात्र स्त्री विमर्श

का पर्याय न होकर अपने समय, समाज और संस्कृति के बहुआयामी सत्य को उजागर करने का एक ठोस माध्यम है। इन कवयित्रियों की कविताओं में उन तमाम शक्तियों के प्रति संघर्ष चेतना दिखाई पड़ती है जो समाज में अमानवीयता को प्रश्रय देते हैं। समकालीन कविता में कवयित्रियों की कई पीढ़ी सक्रिय है। जिनमें अनामिका, कात्यायनी, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, चित्र सिंह, ममता कालिया, निर्मला पुतुल, मनीषा झा, रंजना जायसवाल, किरण अग्रवाल, ज्योति चावला, यशस्विनी पांडेय, पंखुरी सिन्हा, वर्तिका नंदा, उमा झुनझुनवाला, निर्मला तोदी आदि प्रमुख हैं।

राजनीति समकालीन दौर का एक महत्वपूर्ण पहलू है। राजनीति के जन-निरपेक्ष रवैये से समकालीन कवयित्रियाँ किस तरह आहत हैं इसे इनकी कविताओं में अभिव्यक्त आक्रोश और तल्लू के माध्यम से समझा जा सकता है। पूँजीपति और राजनीति के संयुक्त सम्मलेन से समाज का कितना विनाश हुआ है और हो रहा है, इससे हम अपरिचित नहीं हैं। भूख, गरीबी, बेबसी और लाचारी के साथ करोड़ों लोग जीवनयापन करने को बाध्य हैं। वर्तमान स्थिति यह है कि 'जनसेवकों' के खाते में करोड़ों रुपये मिल रहे हैं और 'जन' 'लाल कार्ड' लिए सपरिवार आत्महत्या कर रहा है। कात्यायनी की 'नयी ईश वन्दना', 'आस्था का प्रश्न', 'नए रामराज्य का फरमान', निर्मला पुतुल की 'ढेपचा के बाबू' सविता सिंह की 'देश के मानचित्र पर', मनीषा झा की 'आजू-बाजू में' उमा झुनझुनवाला की 'अभिषेक समस्याएँ' आदि कविताएँ राजनीतिक विसंगति को बहुआयामी सन्दर्भों में चित्रित करती हैं। समकालीन कवयित्री कात्यायनी 'नयी ईश वन्दना' कविता में सत्तासीनों को 'प्रभु' संबोधित करती हुई उनकी जन-निरपेक्षता, हृदयहीनता, निरंकुशता को जिस सूक्ष्मता से उधारती है, वह अद्भुत है—“प्रभु! कर्ज दे और दिला। / कुछ खा और खिला। / प्रभु! हमारे दिलों में भक्ति भर। / विचार हर। / विवेक हर। / तर्क से हमें

मुक्त कर। / ...हड़तालियों को कुचलवा दे प्रभु, जो नहीं रहना चाहते भूखे, उन्हें गोलियाँ खिला दे। / प्रभु! जनतंत्र को बचा। जरूरत हो तो आपातकाल ला।”

स्पष्ट है कि कवयित्री वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य से अनभिज्ञ नहीं है। राजनेताओं के लिए लोकतांत्रिक सवैधानिक व्यवस्था का 'लोक' 'वोट बैंक' में परिणत हो चुका है और राजनीति 'शाम, दाम, दंड, भेद' की नीति का पर्याय बन चुका है। जनता के मूलभूत सरोकार उनके लिए विपक्ष को कमजोर करने का मुद्दा मात्र बनकर रह गया है। सामान्य जनता के प्रति सच्ची जनसेवा का घोर अभाव आज की राजनीति का कड़वा सच है।

समकालीन कवयित्रियों ने अपने समय के परिवर्तन और प्रभाव को अपनी कविताओं में सशक्त ढंग से चित्रित किया है। शोषण और दोहन की परंपरा नवीन नहीं है महज उसका रूप परिवर्तित हुआ है। वर्तमान समय पर दृष्टि डालें तो पाएंगे कि पूँजीवाद के प्रभाव स्वरूप परम्परा के कई मूल्य और विचार बदल चुके हैं। हम आधुनिक हो गए हैं, शिक्षित हो गए हैं परन्तु हमारी संकीर्ण मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया वरन पूँजी की ताकत से वह और विकृत हो चुका है। प्रत्यक्ष तौर पर गौरवमयी परंपरा की बात करने वाले परोक्ष में नैतिक मूल्यों को ताक पर रखते हुए शोषण प्रक्रिया को जारी रखते हैं और अपनी घृणित उपभोगवादी मानसिकता को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। समाज के इस दोहरे चरित्र को अनावृत करती हुए कवयित्री किरण अग्रवाल लिखती है:—“वे अपने गौरवमयी अतीत पर मुग्ध हैं/ कहीं की संस्कृति नहीं है उनके देश के जैसी/ जहाँ अतिथि देव होता है/ और नारी देवी की तरह पूजी जाती है/ वे मुग्ध हैं/ और करते हैं बलात्कार बच्चियों और स्त्रियों पर।”

कवयित्री ने बेबाक तरीके से सामाजिक विसंगति के खुरदरे यथार्थ के तिव्र अनुभव को शब्दों में पिरोया है। हम एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जहाँ कथनी और

करनी में विराट पार्थक्य है क्योंकि रक्षक ही भक्षक बन बैठा है। मनुष्य के अंतःकरण से मनुष्यता च्युत हो चुकी है। यही कारण है कि बलात्कार हमारे समय में रोजमर्रा की घटना बन चुकी है जिसकी शिकार कभी दो साल की बच्ची होती है तो कभी अर्धेड़ उम्र की स्त्री। यहाँ तक की यौन-कुंठित मानसिकता के शिकार लोगों के लिए न उम्र का फर्क मायने रखता है न लिंग का। निर्भया कांड, निठारी कांड, बिहार में बाल गृह में हुए यौन शोषण कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो हमें भयभीत करता है। विशेषकर बच्चों की सुरक्षा आज के समय की सबसे बड़ी चिंता बनी हुई है। बच्चों के साथ होने वाले घृणित कृत्य पर कई कवयित्रियों ने अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। जिनमें 'बच्ची की फरियाद' समकालीन चर्चित कवयित्री रंजना जायसवाल की एक मार्मिक कविता है। इस कविता में एक छोटी सी बच्ची अपने ऊपर होने वाले यौन शोषण का प्रतिवाद करती है परन्तु उसकी चीख न इंसान को संवेदित कर पाती है और न भगवान को। इसी तरह सविता सिंह 'खून और खामोशी' के मध्य यौन शोषण की शिकार दस साल की बच्ची की मनोदशा को महसूसने का प्रयास करती है :- *"दस साल की इस बच्ची के लिए/ यह दुनिया संभावनाओं के इन्द्रधनुष-सी थी/ यही दुनिया उस बच्ची को कैसी अजीब लगी होगी/ हजारों संशयों भयानक दर्द से भरी हुई/ जिसे उसने महसूस किया होगा मृत्यु की तरह/ जब उसे ढकेल दिया होगा किसी पुरुष ने/ खून और खामोशी में/ सदा के लिए लथपथ।"*

दरअसल इस तरह के अमानवीय कृत्य पुरुषवादी समाज की 'भोग ही जीवन है'। 'एक ही जीवन मिला है, भोग लो' जैसी घृणित अमानवीय मान्यताओं की परिणति ही नहीं बल्कि उनकी नैतिक पतनशीलता का प्रमाण है।

बच्चों पर होनेवाले अत्याचार, यौन हिंसा, उनकी जीवन की विवशता, बाल-मजदूरी, बाल तस्करी पर कई कवयित्रियों ने अपनी लेखनी चलाई है। बाल

मजदूरी पर सख्त कानून होने के बावजूद बच्चों के मजदूरी कराया जाता है। तो कहीं बच्चे दो जून रोटी की जुगाड़ में स्वयं मजदूरी करने को विवश होते हैं। मनीषा झा की 'बच्चे खेलते हैं' 'तूफान ने दिया', 'बाँबीवाला लड़का', 'बेरोजगार' आदि कविताओं में हम बच्चों के जीवन के इस सत्य से परिचित हो सकते हैं। इसी तरह निर्मला पुतुल की 'आस-पड़ोस के छोटे भाईयों से', 'बिटिया मुर्मू के लिए', 'ढेपचा के बाबू', अनामिका की कूड़ा बीनते बच्चे' आदि कविताएँ बाल जीवन के अनछुए पहलूओं को छूती है।

समकालीन कवयित्रियों की पैनी दृष्टि राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनुष्यता का हनन करने वाली प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना पर रही है। हिन्दी साहित्य जगत में कई कवयित्रियाँ सामाजिक कार्य में संलिप्त हैं जिनमें कात्यायनी, रमणिका गुप्ता आदि का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। कात्यायनी की कविताओं पर विचार करते हुए आलोचक विष्णु खरे एक बात कहते हैं जो कि अवलोकनीय है। 'वे कविता में ही नहीं, अपने जीवन में सिर्फ नारी मुक्ति नहीं, मानव मुक्ति के सक्रिय आंदोलन से जुड़ी हैं और अविभक्त दृष्टि से समाज को देखना जानती हैं इसलिए उनमें पुरुष मात्र से घृणा और दुश्मनी करने वाला बचकाना नारीवादी मर्ज नहीं है।'

आलोचक के कथन से जाहिर है कि कवयित्रियों की रचनात्मक सीमा तथाकथित नारीवाद तक सीमित नहीं है। उनकी सृजनात्मक दृष्टि अपने समय के सभी गंभीर मुद्दों के प्रति चौकस है। उनके लिए अपनी पीड़ा से बड़ी सामाजिक पीड़ा है। 'मनुष्यता की रक्षा के लिए/ कहना नहीं सहना तुरंत बंद कर दे' कहने वाली सामाजिक कार्यकर्ता और मुखर कवयित्री कात्यायनी अमानवीयता को मौन होकर नहीं देख सकती, न ही इसे ईश्वरीय लीला मानकर मौन साध सकती है। अमानवीय ताकतों के विरुद्ध उनका तीव्र प्रतिरोध उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। उनका 'जी

चाहता है...’।

“कि सोमालिया और सरगुजा में/ भूखे मरते बच्चों के बारे में/ सीधे-सीधे कुछ कहें/ चर्चा करें इराक में अमेरिकी बमबारी की/ और लॉस एंजेलस के दंगों की।/ आज जी चाहता है/ हँसने को ठठाकर पर्यावरण-सम्मेलन पर, उग्र इच्छा होती है कि/ जार्ज बुश के पिछवाड़े एक पत्नीता लगा दें।/ जी चाहता है/ आज पेरू में जारी मुक्ति-युद्ध की/ और आंध्र में जारी मुक्ति युद्ध की/ खुलकर बातें करने को।”

स्पष्ट है कवयित्री अपने कवि-कर्म के मानवीय दायित्व से बिल्कुल विमुख नहीं होना चाहती। वह जनविरोधी शक्तियों से मुठभेड़ करती है और इसी क्रम में वह उन घटनाओं के विरोध में अपनी आवाज उठाती है जिससे मानवता आहत है चाहे वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 1990 के आसपास सोमालिया में व्यवस्था की नाकामी से फैली अराजकता, भूखमरी और गृह-युद्ध की घटना हो, इराक में अमेरिका का आतंकी हमला हो या राष्ट्रीय स्तर पर गुजरात दंगा हो, गोधरा कांड हो या रोजमर्रा की प्रायोजित हिंसात्मक घटनाएँ कवयित्री कात्यायनी का स्वर मुखर और आलोचनात्माक रहा है। गुजरात दंगों पर उन्होंने ‘गुजरात-2002’ शीर्षक से चार कविताएँ लिखी हैं जिसमें हम न केवल उस अमानवीय दृश्य को प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उस घटना पर तत्कालीन शासन व्यवस्था के प्रति कवयित्री की तीखी प्रतिक्रिया भी देख सकते हैं। ‘2010 में निराशा, प्रेम, उदासी और रतजगे की कविता के बारे में कुछ राजनीतिक नोट्स’ शीर्षक से लिखी गई कविता में सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों के कई दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इसी तरह सविता सिंह की ‘नीला दाग’, ‘कल की रात कल ही गुजरी है’, ‘जो कोई भी नेक इंसान कहेगा’ पंखुरी सिन्हा की “हामिद कारजाई के देश का चुनाव’ जैसी कविताओं में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित अमानवीय हिंसात्मक समाज जीवंत हो उठा है।

समकालीन कवयित्रियाँ अपने रचना-कर्म के प्रति गहन रूप से प्रतिबद्ध हैं। उनकी चेतना समाज में हाशिये पर रखे गए किसान-मजदूरों से आबद्ध है। पूँजीवादी शक्तियाँ किसान-मजदूरों के प्रति अत्यंत निर्मम हैं। इतनी निर्मम कि उनके मुँह से निवाला तक खींचने में परहेज नहीं करती। पति-पत्नी दोनों भरपेट भोजन के लिए मजदूरी करते हैं पर अपनी स्थिति में बदलाव नहीं ला पाते हैं मानों भूखे रहने का श्राप उन्होंने जन्मगत पाया हो। ज्योति चावला की ‘संबंध’ कविता इसी सत्य को शब्दों में उद्घाटित करती है- “वे करते हैं मजदूरी साहूकार की/ सपत्नीक और पाते हैं बदले में/ दस किलो चावल और मात्र चालीस रुपए/ जिनके सामने मुँह बाये खड़े हैं/ पूरे सात दिन और घर के छह जन।”

एक तरफ वह समाज है जो पिज्जा-बर्गर पर एक दिन में हजारों रुपया खर्च कर देता है और वर्तमान समय में एक यह भी समाज है जिसे पेट भर भात भी नसीब नहीं। हमारी समाज व्यवस्था में श्रमिक वर्ग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से नेपथ्य में है। उसके श्रम पर सारी व्यवस्था टिकी हुई है बावजूद इसके उसकी भूमिका को महत्वहीन माना जाता है। ‘बाहामुनी’ कविता निर्मला पुतुल की इस सन्दर्भ में एक उल्लेखनीय कविता है। मजदूरों के जीवन के विरोधाभास को बाहामुनी के बहाने इस कविता में प्रमुखता से उभारा गया है। शादी-ब्याह में हजारों लोग पत्तल पर सुस्वादु भोजन का सपरिवार आनंद लेते हैं पर उन हजारों पत्तलों का निर्माण करने वाले हाथ अपना और अपने परिवार का पेट भरने में असमर्थ हैं- “तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों/ पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट।”

वर्तमान समय में चाय राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक बहुत बड़ा उद्योग है। हमारे देश से विदेशों में करोड़ों का चाय निर्यात किया जाता है। यह घर-घर में अपनी पैठ बनाए हुए हैं। आज सेहत के प्रति सजग

लोग ग्रीन-टी को अपना रहे हैं पर विडंबना यह है कि चाय-मजदूर दयनीय स्थिति में है। उनका जीवन मानों साक्षात् नरक है। पूँजी के मद में पूँजीपति मानवीय संवेदना को ताक पर रख इनका शोषण करते हैं। चाय मजदूरों की वेदना को शब्द देती हुई कवयित्री मनीषा झा 'हम मजदूर हैं' शीर्षक कविता में लिखती है:—

“हम आए नहीं हम लाए गए हैं  
इसलिए हमें मान दो  
मर्यादा दो, सम्मान दो  
मजदूर हैं तो क्या हुआ  
... ..  
सभ्यता के शिखर पर  
कुछ रहे न रहे  
लहलहाते रहेंगे  
चाय के पौधे  
हमारे ही नाती-पोते के बल पर।”

इन पंक्तियों में चाय मजदूरों की इस पेशे के प्रति एकनिष्ठता, कर्मठता, आत्मीय संबद्धता बहुत ही खूबसूरत ढंग से उजागर हुई है। चाय मजदूरों के लिए यह सिर्फ पेशा नहीं है। चाय बागानों में उनकी आत्मा बसती है तभी तो सामाजिक और आर्थिक विपन्नता के बावजूद उनकी पीढ़ियाँ कर्मरत है।

भूमंडलीकरण की बयार में अन्नदाता किसान की स्थिति दयनीय हो चुकी है। कठोर श्रम से उपजाये अन्न को उचित मूल्य न मिल पाने के कारण के लागत मूल्य भी नहीं निकल पा रहा है। आज किसान कर्ज में डूबे हुए हैं। अपने परिवार का पेट भरने में असमर्थ किसान सपरिवार आत्महत्या करने को विवश हो चुके हैं। कवयित्री सविता सिंह की 'अन्न' कविता में कर्नाटक के एक किसान परिवार के माध्यम से संपूर्ण किसानों की विडंबनात्मक स्थिति को देखा जा सकता है :—  
“कर्नाटक के एक अँधेरे गाँव में/ जीवन के खेल समाप्त करने की तैयारी/ कर रहा है एक किसान परिवार/  
जमीन पर चटाई डाली जा रही है/ कटोरे में जहर घोला

जा रहा है।”

पूँजीपति और राजनेता इतने पर भी संतुष्ट नहीं हैं। वे प्रत्यक्ष में किसानों की स्थिति को सुधारने और कर्जमाफी का वादा करते हैं और परोक्ष में विकास के नाम पर उनके खेत हड़पकर पूँजी का खेल खेला जाता है। नीलेश रघुवंशी की कविता 'सड़क' इस खेल को उधारकर रख देती :— “जिन रास्तों और गाँवों के नाम रजिस्टर पर/ सड़के नहीं जाती उन तक/ जाते हैं सिर्फ धुँआ और कालिख/ बदल जाते हैं जो आँकड़ों में/ नक्शे में दौड़ती ये सड़के कहीं नहीं पहुँचाती/ जन्मजात दुश्मनी है डामर और पानी में/ सड़क सोने की खान है खाऊ ठेकेदार के लिए।”

सड़क निर्माण के नाम पर भ्रष्टाचार का खेल हमारे समाज की कड़वी सच्चाई है।

समकालीन कवयित्रियों की दृष्टि प्रकृति और पर्यावरण पर होने वाले हमले पर भी जाती है। पर्यावरण संकट आज गहराता जा रहा है। जल, जंगल और जमीन के बिना हमारा अस्तित्व बेमाने है। बावजूद इसके प्रकृति और पर्यावरण पर जबरन हमले हो रहे हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। जंगल के असली निवासी पशु-पक्षियों की को अपने ही घर से बेदखल होना पड़ रहा है। विकास की आड़ में पूँजीपति किस तरह खेतों को, चायबागानों को खत्म कर मॉल और लैट कल्चर को प्रोत्साहित कर रहे हैं इसे भी हम समकालीन कवयित्रियों की रचनाओं में देख सकते हैं। इस सन्दर्भ में मनीषा झा की कविता 'तोते' अवलोकनीय है:—

“टें टें टें टें  
रोते हैं तोते  
... ..  
अब साफ कर ली गई है  
वह जगह  
जो तोतों की थी वह आदमी की होगी  
प्लान हो चुका है पास

बनेगा एक खूबसूरत बहुमंजिला मकान  
ऊपर होंगे लैट्स खुले हवादार  
नीचे होंगी दूकानें  
मल्टीनेशनल कम्पनियों के रंगबिरंगी विज्ञापन  
साबित करेंगे आदमी के आदमी होने का।”

आज चारों ओर इंसानों और तकनीक का भीड़तन्त्र व्याप्त है। आदमी प्रकृति को नष्ट कर अपने आदमीयत का प्रमाण देना चाह रहा है जो कि उसकी सबसे बड़ी भूल है।

प्रकृति का अभिन्न अंग नदी हमारी संस्कृति है, हमारी सभ्यता है परन्तु मनुष्य की भोगवादी दृष्टि और बाजारवादी नजरिये के कारण नदी बेबस और लाचार दिखती है। छोटी नदियों का तो अस्तित्व ही मिट चुका है। कई नदियाँ कारखानों की जूठन खाकर अपनी पहचान खो चुकी है। वर्तमान समय में पानी का संकट गहरा रहा है पर सिर्फ आम आदमी के लिए क्योंकि पूंजीपति के लिए यह एक बहुत बड़ा व्यवसाय बन चुका है। प्रकृति को अपनी चेतना से अभिन्न मानने वाली समकालीन कवयित्री मनीषा झा की कई कविताएँ प्रकृति की व्यथा को शब्द देती है। प्रकृति पर होने वाले हमले से वह उद्विग्न होती है। नदी की व्यथा से पीड़ित मनीषा झा लिखती है— “बहुत सफाई से कोई खुदवा रहा है / नदी की आत्मा / नदी सिसक रही है घायल होकर।”

जल संरक्षण के लिए प्रतिबद्ध, सूखी नदियों को उनकी दुर्दशा से मुक्त कराने वाले पानी बाबा (WATER MAN) के नाम से विख्यात मैगसेसे पुरस्कार, ‘स्टॉक होम वाटर’ अवार्ड जैसे कई प्रतिष्ठित सम्मान से सम्मानित राजेन्द्र सिंह का मानना है कि हमारी लापरवाही और भोगवादी मनोवृत्ति के कारण आने वाले समय में जल युद्ध की संभावना धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। उनके अनुसार—“इक्कीसवीं सदी विश्व जल युद्ध की सदी है। इसमें खेती और उद्योगों के बीच, गाँव और शहरों के बीच तथा गरीब और अमीर के

बीच लड़ाई झगड़े बढ़ेंगे। गाँव से पलायन और शहरों में बढ़ते जन दबाव के बीच जल की जरूरत पूरी करना कठिन होगा। तब जल बाजार बनेगा जल बाजार ही जल लूट को बढ़ाएगा। जल की लूट ही जल युद्ध में बदलेगी।”

पर्यटन हमारी जीवन-शैली का एक अहम हिस्सा बनता जा रहा है। यही वजह है कि आज यह एक बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है। इस उद्योग को बढ़ावा देने के लिए हरे-भरे जंगलों को मन मुताबिक किया जा रहा है। पर्यटकों की सुविधा के लिए बड़े-बड़े होटलों का निर्माण किया जाता है। शहरीकरण से ऊबे सैलानी भी प्रकृति की सुन्दरता देखकर मंत्रमुग्ध होते हैं परन्तु प्रकृति को नुकसान पहुँचाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते। आज पहाड़ों की स्थिति दयनीय हो चुकी है। जगह-जगह प्लास्टिकों की भरमार से पहाड़ों को काफी क्षति पहुँची है। नदियों के प्राकृतिक स्रोत इन कचरों के जमाव से सूखते जा रहे हैं। वन्यजीव और जल-जीव जल प्रदूषण के कारण मर रहे हैं। मनीषा झा की ‘सैलानी’ ‘वे खुश नहीं होते’ कविता में यही तथ्य उजागर हुआ है।

भूमंडलीकरण से उपजी अपसंस्कृति, संवेदनहीनता, संवादहीनता, पर समकालीन कवयित्रियों ने गहरी चिंता व्यक्त की है। भूमंडलीकृत समय ने सामाजिकता को नष्ट कर दिया है चाहे वह मनुष्य-मनुष्य के मध्य की सामाजिकता हो या मनुष्य और प्रकृति का। तकनीकी विकास ने आत्मीयता का हनन किया। आज इंटरनेट के प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं। मोबाइल व्यक्ति की आत्मा बन चुकी है। मॉल संस्कृति ने मनुष्य को क्षणभंगुर बना दिया है। मनुष्य कृत्रिमता की ओर आकर्षित होते-होते स्वयं कृत्रिम बनता जा रहा है। सविता सिंह भूमंडलीकरण को विनाश का पर्याय मानते हुए उसे ‘नया अँधेरा’ संबोधित करती है। इसकी सघनता विचलित करने वाली है क्योंकि।

“सधी हुई इस तरह कि ढँक दिया है इसने/ अँधेरे



में भी दिख जाने वाली उन ढेर सारी चीजों को/ जिन्हें जानती थीं हमारी इन्द्रियाँ/ बदल दिया है इसने उन तमाम परिचित आवाजों को/ जिनमें संगीत के अलावा थीं चुम्बनों और मनुहारों की/ अस्फुट ध्वनियाँ।”

दिनकर ने ‘हृदय के देश’ के पीछे छूट जाने पर गहरी चिंता व्यक्त की थी परन्तु आज स्थिति यह है कि हृदय मृतप्राय हो चुका है। जीवन की स्वाभाविक वृत्तियों से हृदय का संबंध विच्छेद हो चुका है। भावनाएँ प्रस्फुटित होती भी है तो उन्मादित रूप में। किरण अग्रवाल की कई कविताएँ इंटरनेट युग की विडंबनात्मक स्थिति को दर्शाती हैं जिनमें ‘टेक्सटिंग करते बच्चे’ और ‘फ्रेश फ्रॉम ऑरचर्ड’ महत्वपूर्ण हैं। जहाँ ‘टेक्सटिंग करते बच्चे’ कविता में फेसबुक, वाट्सअप जैसे सोशल मीडिया के बढ़ते इस्तेमाल से पनप रही वाचिक संवादहीनता की स्थिति को दर्शाया गया है वहीं ‘फ्रेश फ्रॉम ऑरचर्ड’ में तेजी से बढ़ती फेसबुकिया संस्कृति की विडंबना को चित्रित किया गया है। वह लिखती है।

“अब फैल रही हैं आकांक्षाएँ  
एक्सलरेटिंग यूनीवर्स की तरह  
ठंडी पड़ती जा रही हैं संवेदनाएँ  
जटिल होता जा रहा है जीवन।”

कवयित्री ने इंटरनेट युग के विडंबनात्मक पहलूओं पर ध्यान खींचा है। अधैर्य, स्वार्थकान्क्षा, भोगपरक मानसिकता, दिखावा आदि सोशल मीडिया के कुछ ऐसे नकारात्मक प्रभाव हैं जिसकी गिरत में हमारी नयी पीढ़ी है। यही वजह है कि वर्तमान समय में ‘स्व’ प्रमुख हो गया और संवेदनाएँ बर्फ की तरह ठंडी होकर जम

चुकी है। कवयित्री नीलेश रघुवंशी की ‘मोबाइल पर बारिश’ कविता भी इसी तथ्य की ओर इशारा करती है। इंटरनेट ने हमें बहुत कुछ दिया परन्तु स्वाभाविकता छीन ली। आज हर घटना के प्रति हमारा रवैया विलक्षण है या तो हम उस घटना को खबर की तरह लेते हैं या भी उन्मादित हो जाते हैं। चाहे वह बारिश हो या किसी भी अस्वाभाविक मृत्यु। हम मोबाइल पर कमेंट और लाइक करके अपनी प्रतिक्रिया जाहिर कर देते हैं। मोबाइल ही हमारा सत्य बन गया। इसका ताजा उदाहरण सूरत के कोचिंग सेंटर की घटना है। लोग मौत का तमाशा मोबाइल में कैद करने में इतने मशगूल हुए कि मानवीय धर्म भूल गए। यह उदाहरण आज के परिवेश की कटु सच्चाई है।

समकालीन कवयित्रियों की कविताएँ अपने समय, समाज और संस्कृति का आख्यान है। अपने समय और उसमें आये बदलाव को सभी कवयित्रियों ने लक्षित किया। उनकी रचनाधर्मिता स्त्री शोषण के प्रतिकार तक सीमित नहीं है। हर मानवता विरोधी ताकतों से उनकी कविता लड़ती है। पूरी निर्भयता और प्रतिबद्धता के साथ आम आदमी से लेकर प्रकृति के हक में खड़ी होती है। एक बेहतर दुनिया, एक बेहतर समाज के निर्माण की आकांक्षा लिए समकालीन कवयित्रियाँ अपने सृजन पथ पर अग्रसर हो रही हैं भले लिए आज भी उनके लेखन को स्त्री विमर्श के दायरे में जबरन समेटने का प्रयास किया जा रहा हो। भले ही उनके लेखन को व्यापक सन्दर्भों में देखने से आलोचक वर्ग कतराता हो।

C/o अनंत कुमार, गौर एबसन, फ्लैट नं.-04, रवीन्द्र पल्ली मटीगरा,  
जिला-दार्जिलिंग-734010, मो.-9832321080

## संवेदना की संरक्षक है कविता

स्वप्निल श्रीवास्तव

...बढ़ई से कभी नहीं पूछा जाता कि वह काष्ठ-शिल्प क्यों बनाता है। कुम्हार से यह जवाब तलब नहीं किया जाता कि क्यों वह मिट्टी के बर्तन बनाता है लेकिन कवि से यह पहला सवाल जरूर पूछा जाता है कि वह कवितायें क्यों लिखता है। कवि के लिये यह सवाल जरूरी भी है। इससे उसकी रचना-प्रक्रिया और विजन का पता चलता है। बढ़ई और कुम्हार अपने पुश्तैनी धंधे को आगे बढ़ाते हैं। कवि की स्थिति एकदम अलग है। किसी कवि का बेटा कवि हो, यह जरूरी नहीं है। कवि भी इस समाज का हिस्सा है। हर एक आदमी अपने आपको किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करता है। इससे समाज समृद्ध होता है। कलाओं का संसार अलग है। जो इस दुनिया में आते हैं, उनकी रचनात्मकता अलग होती है। कलाओं की यह दुनिया निरंतर छोटी होती जा रही है। समाज में उनका स्पेस कम होता जा रहा है। समाज में कवि लेखक से ज्यादा राजनेता, डॉन-माफिया स्वीकृत होते जा रहे हैं। यह हमारे समय की सबसे बुरी खबर है। ये लोग समाज के बुनियादी ढाँचों को तोड़ रहे हैं और ऐसे प्रछन्न जनतंत्र को जन्म दे रहे हैं-जहाँ साहित्य के लिये कोई जगह नहीं बची है।

मैं कवि हूँ, यह बात मेरे लिये बहुत दिलचस्प है। कुछ अन्य होने की क्षमता मेरे भीतर नहीं थी। मैं पूर्वी उ. प्र. के जनपद सिद्धार्थनगर के एक गाँव के अत्यंत साधारण परिवार में पैदा हुआ था, लेकिन मेरा बचपन बहुत समृद्ध था। मेरा बचपन नदियों, जंगलों परिंदों और लोकगीतों की ध्वनियों के बीच गुजरा है। माँ के साथ तुक में तुक मिलाते हुये, मैं कवि कैसे बन गया, यह मेरे लिये एक रहस्य है। माँ के पास लोकगीतों का खजाना था, जिसे वह मांगलिक अवसरों पर गाया करती थी। गाते-गाते एक दिन माँ हमारे बीच से चली गयी। तब मैं ठीक से वयस्क भी नहीं हुआ था। मेरे पास जो कुछ बचा हुआ था, वह जीवन का बिराट खालीपन था। माँ कहती थी जब कुछ न बचे तो जरूर गाना चाहिये। इससे दुख कम हो जाते हैं। जीवन की यंत्रणा से बचने के लिये मैंने कविताओं को अपना दोस्त बनाया।

कवितायें कुछ भी न करे वे हमारी संवेदना को जरूर बचाती हैं। वे हमारे लिये एक तरह की थैरेपी का काम करती हैं। वे हमें निर्भर बनाती हैं। जीवन जीते हुये, नौकरी करते हुये कविताओं में मुझे दारुण स्थितियों से बचाया है। कवि के लिये कविता की यही प्रमुख भूमिका है। सोचता हूँ कि अगर मैं कवि नहीं होता तो मुझे बुरा मनुष्य होने से कोई नहीं बचा सकता था। कवियों और लेखकों के सान्निध्य ने मुझे इस जीवन को समझने की नयी दृष्टि दी।

### 1. सीख

हमारे बच्चे भले ही परिंदों से कुछ न सीख पाये हो लेकिन इतना जरूर सीख जाते हैं कि जब पंख उग आये तो घोंसले से उड़ जाना चाहिये

हम ही थे कि अपने घोंसलों को रखाते थे ताकि कोई बाज, बच्चों को हमसे छीन कर न चला जाय

हम कठकरेजी नहीं थे  
बस घोंसलों से इतनी दूर उड़ते थे कि शाम तक घर पहुंच जाय

मित्रों-बदल चुकी है बच्चों की दुनियां  
वे पैदा होते ही हमारे बाप बनने लगते हैं  
हम उनके हुक्म की तामील में लग जाते हैं

यह हमारा कितना बड़ा दुख है कि बच्चे मासूम नहीं रह गये हैं

### 2. दस्ताने

दस्ताने खरीदते हुये आदमी को देख कर डर लगता है  
दुकानदार को इस बात की फिक्र नहीं कि दस्ताने किस काम के लिये खरीदे जा रहे हैं  
वह उसका दाम पाकर खुश है

दस्ताने हत्यारों को बचा लेते हैं  
अदालत तक नहीं पहुंच पाता कोई सुबूत  
इस्तेमाल के बाद वे कंडोम की तरह फेंक दिये जाते हैं

जिन दस्तानों का आविष्कार ठंड से बचाने के लिये किया गया था। वे हत्यारों के बचाव का काम कर रहे हैं

### 3. राज्याभिषेक

भेड़ों ने तुम्हें राजा बनाया  
भेड़ियों के समर्थन से तुम चक्रवर्ती हुये

धर्माचार्यों ने तुम्हें ऋषि की उपाधि दी  
इतिहासकारों ने तुम्हें आविष्कारक घोषित किया  
मूर्खों के लिये तुम बुद्धिमान साबित हुये

यह तुम्हारे लिये दिग्विजयी होने का समय है महाराजाधिराज  
दुनियां भर के खूबसूरत और बलिष्ठ अश्व तुम्हारे महारथ में जुतने को तैयार हैं

तुम ही रथी हो, तुम ही महारथी  
सारथी भी तुम हो

अपने हाथ में सोने का चाबुक संभालो  
और विजयपथ पर दिव्य रथ को दौड़ाओ

### 4. इसके बावजूद

पृथ्वी हमसे रहने के लिये कोई किराया वसूल नहीं करती  
चाँद और सूरज की रोशनी के लिये हमें भरना नहीं पड़ता बिल

प्यास बुझाने के एवज में नदी हमसे कोई शुल्क नहीं मांगती  
पेड़ की छाँह हमें मुफ्त मिलती है  
हवा के बदले हमें कुछ भी नहीं देना पड़ता

फिर भी हम धरती का सीना चीर कर उसकी सम्पत्ति चुरा लेते हैं  
वह ऊपफ भी नहीं करती

जो धरती हमें इतना कुछ देती है  
उसके लिये हम अपनी कृतज्ञता तक  
ज्ञापित नहीं करते

#### 5. बड़े हाकिम

बड़े हाकिम अपने कार का दरवाजा  
अपने हाथ से नहीं खोलते  
यह उनकी तौहीन है  
यह काम किसी छोटे हाकिम के जिम्में है  
कार से उतरते वे मातहतों पर  
तिरछी नजर डाल कर आगे बढ़ जाते हैं  
सभाओं में वे तने बैठे रहते हैं  
भूल से भी नहीं मुस्कराते  
हंसना उनकी फितरत में शामिल नहीं है  
उनकी यह आदत स्थायी हो गयी है  
घर के लोगों से भी इसी मुद्रा में मिलते हैं  
दफ्तर से घर में वे अपना काम-काज  
लेकर आते हैं और अपने निजी कक्ष में  
अपने आदेशों और टिप्पणियों से लड़ते रहते हैं  
वे किसी से प्यार करते हो, इसकी सूचना  
नहीं मिल पाती  
उनके अधिकांश कारनामों गोपनीय होते हैं  
वे अपने दिमाग का दरवाजा अंदर से  
बंद रखते हैं

जब वे चीफ मिनिस्टर से मिलकर लौटते हैं  
उनकी खुशी में दर्प दिखाई देता है

मुझे उनसे डर नहीं लगता, उल्टे दया  
आती है कि एक अच्छा-खासा आदमी  
हुकूमत का नन्हा पुर्जा बन कर कितना  
प्रसन्न है

#### 6. अहिंसक

उम्र शेर को अहिंसक बना देती है  
स्वर्ण मृगों के पीछे भागने के दिन  
विदा हो जाते हैं  
जो कुछ सहज मिल जाय  
वही है उनका भोज्य-पदार्थ  
जंगल उनके लिये अपरिचित होता रहता है  
मांद में बीतते हैं उनके दिन  
बामुशकिल वे दहाड़ पाते हैं  
किसी युवा शेर को देखकर  
उन्हें अपने दिन याद आते हैं  
उन्हें झुंड में नहीं मिलती कोई  
सम्मानजनक जगह  
वे आत्मनिर्वासन में चले जाते है  
जो जंगल उनके डर से कांपता था  
वह डर खत्म होने लगता है

**परिचय :** पूर्वी उ. प्र. के सिद्धार्थनगर के सुदूर गाँव मेहदौना में 05 अक्टूबर 54 को जन्म। शुरुआती शिक्षा गाँव और कुशीनगर के एक कस्बे में हुई। गोरखपुर विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा के साथ जीवन की भी दीक्षा मिली। उ.प्र. सरकार के अधिकारी के रूप में प्रदेश के कई जिलों में तैनाती। कविता संग्रह- ईश्वर एक लाठी है, ताख पर दियासलाई, मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिये, जिंदगी का मुकदमा तथा जब तक है जीवन, 'कहानी संग्रह-एक पवित्र नगर की दास्तान, स्तूप और महावत', 'सम्मरणों की किताब-जैसा मैंने जीवन देखा...।

कविता के लिये भारतभूषण पुरस्कार, फिराक सम्मान, केदार सम्मान के साथ रूस का अंतरराष्ट्रीय पुश्किन सम्मान। फिलहाल फैजाबाद में स्थायी निवास।

**सम्पर्क :** 510, अवधपुरी कालोनी, अमानीगंज, फैजाबाद-224001

**मोबाइल फोन :** 09415332326

## राजवंती मान

### मेरी दादी

आस पड़ोस की  
सारे गाँव की  
अधिनायिका हुआ करती मेरी दादी  
जीवन के पन्ने उन्होंने लोकधुनों में गुनगुनाये  
चरखे की हथ्थी घुमाते,  
कच्चे सूत को अटेरते  
पढ़ लिए थे ध्वंस और निर्माण के कई अध्याय।  
झुर्रीदार उँगलियों ने  
इहलोक की आधारशिला पर कई किले गढ़े!

घर बसाने-संवारने से मधुर सांध्य गीत तक  
सैकड़ों समाजी नुस्खे लेकर निकलती थीं  
उस देहरी से सुकुमारियाँ!  
धतूरे और नीम को साधना  
दादी के बायें हाथ का खेल था  
इस ज्ञान पिटारी को  
वह आसानी से पीढ़ियों के हवाले कर देती!

वह कहा करती—  
‘औरत के धैर्य में उसका प्रतिरोध छिपा है!’  
उनका यह गृह गणित उनकी  
क्यारियों से ऊपजा था।  
आज दादी खामोश है!  
प्रतिरोध मुखर है और कान बहरे हैं!

### आकाश छोटा है

किसी ने नहीं सुनी वह आरत पुकार  
देवद्वार के वासी ने न पुलिस या राजे ने  
कुर्ता बदलकर वह जुलूस में शामिल हो गये  
बस्ती के चौक में

गंदे पैर आवारा पशु उन्मत्त नाचते हैं।

चिड़ियों की सांसे अटकी हैं  
नुचे- खुचे कोमल पंख उड़ते हैं  
देख रही हैं बेबस/ सहमी गिलहरियां  
संरक्षक के घर की दीवारें मोटी हैं  
कोई आवाज उस ओर नहीं जाती  
वरना एक शहर में गुनाह हो  
और बचकर निकल जाये  
चबूतरे पर चढ़कर हुंकारे!

यह वक्त मौन प्रार्थनाओं का नहीं है  
अंधेरों को कीलने का है।  
रंग आस्थाओं के उपक्रम  
गल्पकथाएं उनके किसी काम की नहीं  
जब उड़ने को पंख फड़फड़ाते हैं  
एहसास होता है परो के लिए  
आकाश बहुत छोटा है!

### सूखते तालाब

अच्छे नहीं लगते प्रलाप करते  
गांव की फिरनियों पर सूखे तालाब, सूनी बुर्जियां  
सरकंडे उगे हुए इनकी पीठ पर  
छाती पर खींची हुई ईंटों की दीवारें  
कलेजे तक फैलते जाते पांव!

दमकता था गांव इसी ताल किनारे  
किशोर पींगे पड़ती थीं यहीं पर  
हफ्ते भर के मैले कपड़ों की गठरियाँ, तसले उठाये  
इन्हीं बुर्जियों पर उतरती थी महिलायें  
खुरदरी ईंटों एड़ियाँ घिसाती  
धो डालती गोबर और राख

भरी हथेलियों की लकीरें  
तूफान मेल साबुन से!

उन्हें सुंदर लगते उस दिन  
अपने हाथ, पाँव और चेहरा  
तालाब के आईने में!  
यहीं सीख लिया करते बच्चे भव-सागर तैरना  
त्यौहार हो, उत्सव हो या कार्तिक का पावन स्नान  
सब कुछ तालाब के किनारे होता  
यहीं जलाई जाती 'दादी बधा' की जोत  
कुआँ जोहड़ पूजती जच्चायें  
जंगल पानी को आते जाते लोग  
वह तालाबों के अच्छे दिन थे!

इनका अस्तित्व लुटने लगा है  
और साथ ही अवसान पा रही हैं  
पशु, पक्षियों, दरख्तों की जुगलबंदियाँ  
लंबी लंबी लोलुप उंगलियाँ  
खेलती हैं नए खेल इनके इर्द-गिर्द!

हमारे बुजुर्ग पढ़े लिखे नहीं थे  
उन्होंने नहीं पढ़ी पोथियाँ  
जल संग्रहण या संरक्षण की  
मगर जानते थे वे पानी का मोल  
तगड़ियों, पगड़ियों, धर्म-कर्म के नाम पर  
कर दी जाती हर साल खुदाई  
गर्म महीनों में ही संजो लेते सावन-भादो की आस  
बुझा देते धरती माँ की प्यास!

कहा करते थे—  
उजड़ती संस्कृतियों के प्रतीक होते हैं सूखते तालाब;  
काल अकाल का द्योतक;  
गांव के माथे का कलंक  
ऐसा उनका सिद्ध विश्वास था!

सिसकते हैं गावों के ये ताल तलैया  
जैसे औरतों के होठों पर ठिठके हुए गीत के बोल

जैसे तरुण सपनों के रीतते सोते  
जेठ महीने में पुनरुद्धार को तरसते!

सावन अब भी आता है पर भीगते नहीं इनके कोर  
बादल उमड़ते हैं मोर भी नाचते हैं  
पर बाट जोहते हैं तालाब आस में  
कि लौट आयें उनकी रौनकें  
सज जाएँ उजड़े पनघट  
भैंसों की मस्त जुगालियाँ, तैरती जलमुर्गाइयाँ  
बस कि जी उठें ये सूखते ताल!

## दूरी

फासला यूँ कुछ भी नहीं  
एक सिक्स लेन सड़क के सिवा  
मगर, महज सड़क नहीं है वह  
दो गोलाख्दों के बीचों-बीच  
गुजरती भूमध्य रेखा है!  
काला, असाध्य दरिया दो दुनियाओं के बीच  
जिसे रोज संवारा जाता है  
रंगे जाते हैं किनारों के पत्थर  
काले सफेद रंग से  
दुरुस्त की जाती हैं विभाजन रेखाएँ  
किसी राजे में दम नहीं मिटा सके ये फासला!

मुख्य द्वार पर हरावल दस्ता चौकस है  
फटकने नहीं देता इस शहर की ओर  
न बस्ती के बच्चे, न कुत्ते!  
गाड़ियों में सवार लेब्रेडोर  
मुँह चिड़ाते निकल जाते हैं उनकी ओर!

सुबह होते ही आ बैठते हैं  
सड़क किनारे बस्ती के बच्चे  
टूट पड़ते नगरपालिका की कूड़ा गाड़ियों पर  
आधी-अधूरी चीजें बीनने स



लते कहाँ हैं तन पर  
कोई उपर नंगा तो कहीं पाँव नंगे  
कभी पहन लेते हैं पुरानी उतरी जैकेट  
खाली पेट पर गरम महीनों में!

बस्ती के व्यस्क मॉल बना रहे हैं  
क्रेन, धरती-धकेल चला रहे हैं  
रात को पूरा चाँद और आकाशगंगाएँ  
आंखों में दबाये सो जाते हैं,  
ऐसी कोई ईमारत नहीं शहर में

जिस पर इनके हाथों की मुहर न हो!

स्वेद-रक्त बहाते  
नहीं सुनते वे ऊँचे चबूतरों के जुमले  
मुट्ठी में कुबेर भर देने जैसे  
इन्हें अपनी मांसपेशियों पर भरोसा है!  
यूँ शहर में सच्चा चौखटा है कहाँ  
जिस पर आस टिकाएँ!

आकाश से कहाँ दिखाई देती है  
बस्ती और शहर के बीच कितनी दूरी है!

प्लैट न. एफ 2/301, माया गार्डन सिटी, चंडीगढ़-अम्बाला रोड जीरकपुर, पंजाब-140603  
मोबाइल नं : 9814676936, ईमेल : dr.rajwantimann@gmail.com

## रंजीत वर्मा

### आरक्षण की थाप पर हम नहीं नाचेंगे

नौ जनवरी के बाद से लगातार  
वह खोज रहा होगा मुझे जंतरमंतर पर  
लेकिन मैं पिछले साल से ही दिल्ली में नहीं हूँ  
मैं पटना आ गया हूँ  
अगर कोई जंतरमंतर जाए  
तो उसे यह बात जरूर बता दे

दरअसल वहीं मैंने उसे  
आरक्षण को लेकर चल रहे  
किसी घनघोर भाषण के बीच  
पिछले किसी साल कहा था कि  
आपकी तमाम लड़ाई  
सत्ता में भागीदारी को लेकर क्यों है  
क्या आप सत्ता के दोहरे चरित्र से खुश हैं  
क्या आपको यह व्यवस्था अपने अनुकूल लगती है  
आप किस वजह से वर्तमान तंत्र के हिमायती हैं  
और अगर नहीं हैं तो फिर

आप इन भ्रष्ट लोगों की पाँत में  
बैठना क्यों चाहते हैं  
उसने कहा था कि हमारी लड़ाई यही है

नौ जनवरी दो हजार उन्नीस के बाद  
मेरी हैसियत एक गरीब सवर्ण से भी बदतर  
मानी जानी चाहिए या कहिये हो गई है  
लेकिन अगर कोई जंतरमंतर जाए  
और वह मिल जाए  
तो उससे यह जरूर कहे कि  
आज भी मेरी लड़ाई बदलाव की है  
जैसा कि उसे मैंने उस दिन कहा था  
मैं इनके थैले का चट्टा बट्टा नहीं हो सकता  
जैसे कि कल नहीं था

कविता से बाहर आकर भी  
मुझे कहना पड़े तो कहूँगा  
यह जो आपने अपने साथ सान लेने की थाली

मेरे हाथ में थमायी है  
उसे मैं घुमाकर  
आपके मुँह पर मारता हूँ

सिर्फ इसलिए कि  
कोई तो झन्नाटेदार आवाज पैदा होगी  
और वह जंतरमंतर पर नहीं होगा  
कहीं और भी होगा  
तब भी उस तक यह आवाज  
एक न एक दिन जरूर पहुँचेगी  
और इतनी समझ जरूर पैदा करेगी कि  
लड़ाई का सलीका या जज्बा ही काफी नहीं होता  
बल्कि इस समझ का होना ज्यादा जरूरी है  
कि आप किस लड़ाई में शामिल हैं

आरक्षण की थाप पर हम नहीं नाचेंगे  
हम मेहनतकश लोग हैं  
फ़ैज के शब्दों में कहें तो  
हम अपने हिस्से के रूप में  
खेत का कोई टुकड़ा  
या अलग कहीं कोई देश  
मांगने वाले नहीं  
बल्कि सारी दुनिया छीनकर ले लेनेवाले लोग हैं।

### मुश्किल है स्त्री की प्रतिभा पर बात करना

एक फिल्मी अदाकारा की मौत हुई थी  
दुख पूरे यौवन पर था  
ललचाई आँखों की मानवता बयां कर रही थी  
कि कैसे जवानी के दिनों में उनकी भूखी निगाहें  
पर्दे पर नायिका का दूर तक पीछा करती थीं

और उसे अपने सपनों तक खदेड़ती ले आती थी  
आँसुओं के सैलाब से फेसबुक के तमाम पन्ने  
इस कदर थे तरबतर  
कि उन्हें पलटना असंभव था

सटे पन्ने किसी तरह पलटते भी थे तो  
हर बार हमेशा एक से ज्यादा  
और वहाँ भी मृत अदाकारा की कोई  
तस्वीर होती थी पुरानी  
थोड़ी धुंधली सी

बहुत मुश्किल है  
एक स्त्री की प्रतिभा पर बात करना  
लोहा मानना तो लगभग असंभव  
चाहे वह अदाकारा हो  
या लेखिका  
या रात दिन घरेलू काम में लगी रहने वाली  
कोई साधारण स्त्री।

यह कैसी रात है  
रात होती है  
चेहरे मिट जाते हैं  
चमकते नाम  
रास्ते के किनारों की झाड़ियों में  
उलझे जुगनुओं की तरह लगते हैं

यह कैसी रात है  
जिसमें विचारों की  
कोई थाह नहीं मिलती  
चीखती आवाज जब भी उठती है  
जंगलों से आती लगती है।

कृष्णा भवन, रोड नं.-9, राजीवनगर, पटना-800024, मोबाइल नं : 8800535376

## पंखुरी सिन्हा

### दुनिया भर का नक्शा

ऐसी बुरी भी नहीं  
सरहदों की रेखाएं  
गर राजनीति न हो  
ईर्द गिर्द उनके

बँटे रहते हैं भू-भाग  
अपनी अपनी पहचान में  
बस इतना कि ये बंटवारा  
नैतिक हो  
शोषक नहीं

लोग न निकाले जाएँ  
धर्म के नाम पर  
किसी एथनिक पहचान के नाम पर

अब तो ग्रुप की राजनीति से निकल कर  
बहुत हद तक व्यक्तिगत हो गयी है  
विदेश में बसने बसाने की राजनीति

नए नवेले दम्पति की सजती गृहस्थी में  
किसिम किसिम से टांग अड़ाने की  
इससे पहले की यह आग की तरह फैले  
और लील जाए अनेकों घरों को

### अमूर्त प्रेम

अगर पैदा होने वाला  
हर विचार  
होने लगे पैदा  
इतना सशरीर  
कि वस्त्र की जरूरत हो उसे

ठंड से भी पहले  
ढंकने को तन

तो कंगाल हो जाएंगे हम  
उगाते उगाते कपास  
और पूरी नहीं होगी  
रुई और धागे की जरूरत

औद्योगिक क्रांति की  
भूखी मशीनों से भी अधिक  
हृदय हीन हो जायेगी  
कच्चे कच्चे माल की ही हमारी जरूरत

हम कैसे-कैसे चलाएंगे एक करघा तक?  
और अगर बेच ली वापस  
अपनी साड़ियां  
अपने मलमल

नए पुराने परिधानों की  
सारी कटाई  
बेच ली अगर हमने  
लंदन, पेरिस से लेकर न्यूयॉर्क तक

और क्या कुछ बेच सकेंगे हम  
आर्थिक नहीं केवल तार्किक रूप से  
एक ख्याल बेच पाने की तरह

अपने शब्दों से बड़ा है  
अंग्रेजी के चलते फिरते मुहावरे सा  
वह सवाल 'सो डू यू बाई दिस आईडिया?'

अगर आकृतियों, मांस पेशियों में ही आएंगे  
सारे विचार, तो कैसे अमूर्त होगा

किसी के भी लिए मेरा प्रेम?

### नंगे प्रेम पत्र

एक दम नंगे प्रेम पत्र

लिखने वाला

लिखकर प्रपंच करने वाला

व्यक्ति

अभी अभी लेकर

लौटा है

एक नेता के नाम का सम्मान

लड़कियों सावधान हो जाओ!

यह समय बद से बदतर

होने है...

उनकी अपेक्षा है

लड़कियों के प्रेम प्रस्ताव को

वे बदल दें प्रणय निवेदन में

भूखे, बिलबिलाते

समुद्र अथवा किसी जल राशि में

बेखौफ नहाते

प्रणय निवेदन में

जो सुन्दर हो सकता था

लेकिन छलावा और प्रपंच

होने के कारण

घृणित है जिसका चेहरा

कोई कैसे कह सकता है

‘हम खो जाएंगे पहाड़ों में

और आएंगे नहीं नजर किसी को

हो जाएंगे सबसे दूर

भाग जाएंगे सभ्यता की पगडंडियों से

लेकिन, हम एक बार मिल तो लें!’

‘हाँ, तुम ठीक कहती हो

हम मिले हैं

और जीवन भर के लिए

लेकिन हम फिर से एक बार

मिल तो लें’

लड़कियों, यही समय है

जोर से विरोध करो

प्रेम पत्रों में धोखे की लिपि को पहचानना

हमारा काम नहीं

वे हमसे उम्मीद न करें

उनकी धूर्तता से खुद को

बचाने की हमारी जिम्मेदारी है

और उन्हें धूर्त बने रहने की आजादी...

ए-204, प्रकृति अपार्टमेंट, सेक्टर-6, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मोबाइल नं : 8527144715

## कालिका प्रसाद उपाध्याय 'अशेष'

### अपशब्द का मीठा जहर ही अच्छा है

मेरी हौसला आफजाई के लिए  
 खबरदार,  
 मत बजाइये तालियाँ  
 मेरी इच्छा है  
 अधिक से अधिक  
 परोस दीजिए अपशब्दों की थालियाँ।  
 उस गूँज और अनुगूँज को  
 चंद दिनों बाद ही  
 भूल जायेंगे मेरे कर्ण।  
 उन थालीपरोस शब्दों की  
 एक-एक ध्वनि  
 एक-एक अक्षर  
 मेरा करायेँगे-परमब्रह्म से साक्षात्कार  
 शब्दांश, उपसर्ग और प्रत्यय  
 मुझसे लिखवाकर  
 देंगे अनेकों सम्मान  
 वे पद, शब्द एवं वाक्य मुझे  
 पूर्ण खंगाल कर  
 प्रदान करेंगे-परम पद स्वयं ही,  
 बार-बार देंगे  
 अमरता का वरदान।  
 अमृत से भरी वे थालियाँ  
 मेरे मलीन, भदेस हृदय को जगमगा  
 ऊर्जा स्रोत, रग रग में भर देंगी।  
 मुझे कुछ कर गुजरने के लिए  
 अनायास ही विवश कर देंगी।  
 बड़ाई और बेमानी गुणगान से अच्छा है  
 बुराई और असम्मान के बीच जीना  
 जहाँ बार-बार चोट खा

कई रास्ते बनते हैं  
 विस्मरण कहाँ! स्मरण तरोताजगी के साथ  
 एक नये आयाम में सर्वत्र  
 एक समान रूप में हमें  
 एक पुख्ता मानवीकरण का  
 सच्चा शुद्ध पहचान देता है।  
 कभी पीछे मुड़कर नहीं देखने का  
 कारगर सफल पैगाम देता है।  
 ईमान बिके नहीं  
 सर झुके नहीं  
 फिर ये शिकवा, गिला, निंदा की  
 हास-परिहास, व्यंग्य वाण की  
 मीठे पान की तरह  
 बनी ये खुराक  
 बैकुण्ठ से भी बढ़कर  
 सर्वोपरि स्थान देती है।  
 हर आँखों में नई सोच  
 एक नया विहान देती है।

### मैं डरता हूँ

मैं आदमी से नहीं  
 आदमी की परछाई से डरता हूँ।  
 मैं सच्चाई से नहीं  
 अत्यधिक परिणाम में दिख रही  
 अच्छाई से डरता हूँ।  
 अविश्वास के समय में  
 हर वक्त पल्टी खाते  
 मनोभावों से भी नहीं  
 बाहर और भीतर के अंतर से

अँधेरे से-कदापि नहीं।  
 अत्यधिक चकाचौंध से भी नहीं  
 सेवा, त्याग परोपकार के बदले  
 हृदय में पलते स्वार्थ से भी नहीं,  
 अस्वीकार की गई  
 चाहत से डरता हूँ।  
 मैं चमकीली आँखों से नहीं  
 ठहाके भरी हँसी से नहीं  
 फड़कते-फड़फड़ाते अधरों से नहीं  
 माथे की सिकुड़न  
 भौहों की सिमटन  
 घुरचिरायी नेत्रों की पलटन  
 होठों की व्यंग्यात्मक मुस्कुराहट  
 मधुर वाणी की आहट से  
 अपादमस्तक डरता हूँ।  
 मैं आँधी, तूफान चक्रवातों से  
 भूकम्पों, प्राकृतिक अनहोनी से  
 धरती या आसमान से  
 विधि में अघटित विधान से  
 हरगिज ही नहीं  
 रास्ते में बिछाये फूल से  
 अनचाहे मिले सुखों से  
 हमेशा डरता हूँ।

मैं जीवन-मृत्यु  
 बीच के भोगे जाने वाले  
 घोर से घोर कष्टों से नहीं  
 सजा या यातनाओं से भी नहीं  
 अचानक आने वाली दुविधाओं से  
 स्वर्ग और नर्क की कल्पना से  
 पुनर्जन्म एवं प्रारब्ध से विचलित हो,  
 सपने में भी डरता नहीं,  
 मैं शपथ रूप में स्वीकार कर  
 कभी न निभाने वाले सात्विक कर्मों से  
 हृदय में सुरबुराती मीठी आहों से  
 पूर्णतया या मिथ्या से  
 दिख रहे अनैतिकता,  
 अन्यायों-अनाधिकारों, अत्याचारों  
 न निभा पाने वाले अधिकारों से भी नहीं  
 भगवान या हैवानों से  
 काल या धरती के जंजाल से  
 मूर्ख, झूठे या सच्चे इंसानी प्रारूप से भी नहीं  
 अकेलेपन या अवसाद से  
 अपने या बेगानों के दिये शूलों से  
 तनिक भी नहीं।  
 मैं डरता हूँ तो सिर्फ  
 सिर्फ नाम-मात्र के इंसानों से।

1/4 ए., शशिशेखर, बोस रोड, भवानीपुर, कोलकाता-700025, मोबाइल नं : 9038277980



## मधु सिंह

### तुम ले चलो मुझे

तुम ले चलोगे न मुझे  
 दुनिया की भीड़ से छिपाकर  
 वहां,  
 जहां पत्तियों के बीच से  
 सूरज की किरणें झांकती हो  
 दुनिया को छूकर महसूस करने के लिए  
 तुम ले चलोगे न मुझे  
 वहां  
 जहां बारिश की बूंद पड़ते ही  
 मिट्टी की सौंधी खुशबू से  
 खिल जाता हो  
 किसानों का रोम-रोम  
 तुम ले चलोगे न मुझे  
 वहां  
 जहां सांझ के ढलते ही  
 सब लौटते हैं  
 जिंदगी की दौड़ से थककर  
 चांद को तकिया बना  
 एक शिशु सी मुस्कान लिए  
 सपनों से लिपटने  
 तुम ले चलोगे न मुझे  
 वहां  
 जहां नक्षत्रों और सौर मंडल से  
 दिखती है एक तैरती पृथ्वी  
 जहां बसता है  
 लोगों के बीच  
 प्रेम का गुरुत्वाकर्षण  
 तुम ले चलोगे न मुझे  
 वहां

जहां हवा की सरसराहट  
 कानों को छू  
 कह जाती हो एक प्रेम कथा  
 तुम ले चलो न मुझे  
 भौरों की दुनिया में  
 जहां तितलियों के स्पर्श से  
 खिल जाती हो  
 कलियां  
 मुझे ऐसी लोककथाओं की  
 यात्रा पर ले चलो  
 जहां संवाद के बाद  
 एक गहरी चुप्पी हो  
 और सिर्फ तुम रहो  
 और मैं रहूं....

### स्त्री का आदिम इतिहास

इन दिनों  
 कुछ अजीब स्थिति है मेरी  
 जीवन की कड़ी परीक्षा की तैयारी  
 मैं करती हूं स्टडी रूम में नहीं  
 बल्कि रसोईघर में  
 हिंदी साहित्य का इतिहास लेकर  
 घुसती हूं मैं रसोईघर में  
 सबसे पहले गैस जला  
 चढ़ाती हूं कढ़ाई में आदिकाल को  
 फिर भक्तिकाल को  
 धीरे-धीरे पकाते हुए  
 मैं पहुंच जाती हूं  
 सुगंधित रीतिकाल में  
 और  
 मसालों को भांजते भांजते

तैयार हो जाता है  
 पूरा आधुनिक काल  
 और फिर चारों को  
 डाइनिंग टेबल पर सजाकर  
 परोसती हूं सबके सामने  
 साहित्य का पाकशास्त्र  
 जिसे चखकर सब करते हैं बहस  
 मसलन आलोचना की चीरफाड़  
 और  
 मैं घिर जाती हूं  
 कहानी, कविता, उपन्यास  
 निबंध, संस्मरणों और आत्मकथाओं के जाल में  
 और इस तरह मेरे जीवन की इतिहास गाथा में  
 रोज जुड़ने लगते हैं ऐसे नये अनुभव  
 और तैयार हो जाता है  
 मेरे जीवन के साहित्य का सबसे आदिम इतिहास

### चुप्पी

वो चुप थी  
 खुद के विरुद्ध  
 होने वाली साजिशों के खिलाफ  
 वह सह रही थी सब  
 चुपचाप  
 ताकि बचा सके  
 अपने सुनहरे सपनों को  
 जिसे वह हर पल जीती थी  
 उसे नहीं पता था  
 यह सपना सिर्फ उसका था  
 साथ रह रहे पुरुष का नहीं  
 पति वो जरूर है  
 पर सिर्फ नाम का  
 वह पुरुष  
 बार-बार उसकी चमड़ी से

उधेड़ लेना चाहता है  
 उसके पंख को  
 ताकि वो उड़ न सके  
 सपनों की ऊंची उड़ान  
 वह पुरुष चाहता है  
 सदा बनी रहे वह दासी  
 और वह उस पर करे वार  
 पल-प्रतिपल  
 वह पुरुष  
 एक स्त्री के दर्द को भी  
 कहता है बहाना  
 और खुद के  
 दर्द का  
 पीटता है ढोल  
 ऐसे ही होते हैं कुछ मर्द  
 जो अक्सर भरी सभाओं में  
 उठाते हैं आवाज  
 महिला सशक्तिकरण का  
 और फिर  
 शाम ढलते  
 करते हैं महिला पर  
 अपनी शक्ति का प्रयोग  
 जब कुछ स्त्रियां  
 उठाना चाहती हैं आवाज  
 अन्याय के खिलाफ  
 और उन अपनों के खिलाफ  
 जिन्होंने बिछा रखा है जाल  
 लेकिन अक्सर ये स्त्रियां  
 झूठे आश्वासनों में  
 उलझ भूल जाती हैं  
 परिवार के अपमान के डर से उठाना आवाज  
 और वे फिर सहने लगती हैं  
 रोज नया ताना  
 स्त्री होने का ताना...

## मौत और जिंदगी

मौत और जिंदगी  
सिक्के के दो पहलू हैं  
एक खुशियों के रंग बिखेरता है  
दूजा उस रंग को समेट दुख के सागर में  
सबको डूबो देना चाहता है  
कल रात  
नीचे पड़ी लाश को  
खिड़कियों से निहारती  
कई जोड़ी आंखें  
कितना कुछ जान लेना चाहती थी  
मृतक के रक्त रंजित शरीर को निहारते  
सलाखों के पीछे खड़े लोगों के मन में  
कई सवाल जन्म ले रहे थे  
और उस लाश के पास दहाड़ मार कर  
रोती एक माँ की चीख  
पसर गई थी रात के सन्नाटे में  
धीरे-धीरे खिड़कियाँ और दरवाजे बंद होने लगी  
कई जोड़ी आँखों ने विदा ले ली

मैं देर तक अँधेरे में मन की  
आँखों से बहुत कुछ टटोलती रही  
कुछ नहीं मिला सिवाय एक माँ की आर्त्तनाद के  
देर रात पुलिस की आवाजाही के बीच  
सब कुछ होता रहा  
पर मेरे भीतर यह यक्ष प्रश्न  
कौंध रहा था कि  
कहीं वो सामाजिक बर्बरता का  
या राजनीतिक हिंसा का शिकार तो नहीं हो गया  
कितना कुछ थम जाता है  
मौत के बाद  
अपनों का दामन  
अपनों का साथ और  
थम जाती है जिंदगी  
मैंने कल मौत के बाद पसरे सन्नाटे को देखा  
जो देर तक अपनी कालिमा से सनी थी  
और वहीं  
निर्जीव देह से लिपटी एक माँ  
कुछ भी न कहने की हालत में  
दे रही थी बहुआ इंसानियत को...

104, नेताजी कॉलोनी, तृतीय तल, कोलकाता-700090 बड़ा नगर के पास, मोबाईल - 9883613002

## ‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

1. आनंद प्रकाशन, 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता-700007
2. अधिकरण प्रकाशन, दिल्ली, मो. 9716927587
3. उत्सव सिन्हा, मुम्बई, मो. 9163443737
4. ज्ञानदीप, नियर फिरारालाल, एच. बी. रोड, रांची-834001
5. लालमणि साव बुक स्टॉल, आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301
6. मौर्या बुक स्टाल, लंका, वाराणसी
7. गोविंद न्यू पेपर मार्केट, कैट साइट, रेट बाज़ार, कानपुर
8. श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट, कैट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन)  
कानपुर

## गीत बोलेंगे हम नहीं

शिव कुमार अर्चन

गीत मुझे प्रार्थना की तरह लगते हैं। एक ऐसी प्रार्थना जो प्रेम, प्रकृति, मनुष्य और विश्व मानवता के पक्ष में की गई हो। गीत/कविता तो स्वाभाविक उद्गिरा हैं जो किसी दैवी प्रेरणा अथवा नैसर्गिक प्रतिभा के कारण रस-सिद्ध कवि के मुख से या लेखनी से अनायास निसृत होती है इसलिए गीत को हृदय की पुकार, को कोमलतान कहा गया है। गीत एक आदिम काव्य विधा है जो अनादि काल से मनुष्य की संवेदना, प्रार्थना, आनंद, प्रेम, करुणा और श्रम को वाणी देते रहे हैं। उनके आश्रय स्थल रहे हैं। यह स्वीकार किया गया है कि भाषा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति जितनी गीत में संभव हुई है शायद अन्य किसी विधा में नहीं। हर अच्छी कविता की इच्छा अंततः गीत बन जाने की है इसके बावजूद हिंदी की समस्त छांदेय कविता को आज की प्रगतिशील काव्य आलोचना के निकष से बाहर कर दिया गया है। उत्तर-आधुनिकतावादियों के द्वारा कविता, ईश्वर और इतिहास की मृत्यु की घोषणा के साथ ही नई कविता के दुराग्रहियों ने कहना शुरू कर दिया कि नई काव्य चेतना और युगबोधी संवेदना के लिए गीत अब अप्रासंगिक हैं। छांदेय कविता के प्रति यह पूर्वाग्रह और दुराग्रह समझ से परे है। वस्तुतः गीतिकाव्य की सफलता हृदय स्थित भावों की प्रेषणीयता में निहित है और यही भाव सम्पदा प्रकारान्तर से गीतिकाव्य का निकष भी सिद्ध होती है। गीत सृष्टि की राग वृत्ति है। कवि हृदय की रागात्मक अनुभूति की लयात्मक अभिव्यक्ति गीत बनती है। महादेवी वर्मा का कथन है-“कविता किसी भाषा में हो, चाहे किसी वाद के अंतर्गत, चाहे उसमें पार्थिव विश्व या अपार्थिव, या चाहे दोनों के अवच्छिन्न संबंध की अभिव्यक्ति हो। उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। गीत वस्तुतः कवि की निजता की सार्थक अभिव्यक्ति है। सत्तर अस्सी के दशक तक गीत की स्थितियाँ काफी संतोषजनक और उत्साहवर्धक थीं लेकिन उसके बाद गीत भी विघटन का शिकार हुआ। गीत, प्रगीत, नवगीत, जनगीत, आलोचक गीत, गद्य गीत तथा मंचीय गीत जैसे खानों में बँटकर गीत अपना मूल स्वर और आभा खो बैठा। आत्ममुग्ध, अहंवादियों, वर्चस्ववादियों और अतिमहत्वाकांक्षियों ने अपनी-अपनी सत्ता कायम की। इससे गीत का नुकसान तो हुआ ही उसकी लोकरंजन से लोकमंगल की यात्रा भी बाधित हुई।

आज समकालीन परिदृश्य पर गीत/कविता की स्थिति बहुत सुखद और संतोषप्रद है मैं ऐसा नहीं मानता। आज कविता बाजार के लिए उत्पाद होकर रह गई है। प्रतिभाएं पद, पुरस्कार, सम्मान, फैलोशिप की कतार में हैं। गीत, सहजता, संवाद धर्मिता और संप्रेषणीयता के विशेष गुणों के कारण आज भी आश्वस्त देते हैं। भले ही प्रगतिशील ब्राह्मणवादी और ठाकुरवादी काव्य आलोचना ने गीत को अनुसूचित का दर्जा दे रखा है पर मेरा पूर्ण विश्वास है “गीत बोलेंगे हम नहीं, भेद खोलेंगे गीत ही।”

### एक और दिन

मुंह बाए ऊंगली चटकाते  
बीत गया एक और दिन

आंखों से छटे नहीं  
स्वप्न के कुहासे  
सांसों में धुले नहीं  
धूप के बताशे  
भीतर ही भीतर धुंधवाते  
बीत गया एक और दिन

मित्रों का परिजन का  
फोन नहीं आया  
कमरे में डटा रहा  
चुप्पी का साया  
खुद अपने ऊपर झुंझलाते  
बीत गया एक और दिन

शायद ये कठिन समय  
किसी तरह बहले  
खींसे में प्यास लिए  
सड़कों पर टहले  
इधर उधर आँखें मटकाते  
बीत गया एक और दिन

### गीत विहग

आज अचानक  
मन के आँगन  
गीत विहग उतरे

कोमल कोमल पंखों पर  
कुछ इंद्रधनुष टांगे  
शंखों की ध्वनियां लाए  
सिर मोर पंख बांधे  
पहली बारिश में धरती से

ज्यों सुगंध बिखरे

आँखों में आकाश  
चोंच में ले सागर का पानी  
आए समय के संघर्षों की  
कहने नई कहानी  
कुछ के चेहरे धूल धूसरित  
कुछ निथरे निथरे

नए नए पल्लव से अक्षर  
जन गण मन की भाषा  
रचने आए मृदुल मनोहर  
जीवन की परिभाषा  
ऐसे शोर मचाते आए  
गगन घटा घहरे

### धूप के चांटे

ये समय है झरे पत्तों का  
जीर्ण पत्ते, पीत पत्ते  
हवा से भयभीत पत्ते  
डाल से चिपके हुए  
अधमरे पत्तों का।

लग रहे हैं धूप के चांटे  
नहीं छाया

लाल चीटे, दीमकों ने  
हरापन खाया  
स्वप्न भी नहीं आता अब  
हरे पत्तों का।

झर रही है अहर्निश अब  
जड़ों से मिट्टी  
शरद, शीत, बसन्त की  
कोई नहीं चिट्ठी  
पंक होने को विवश  
कुछ खरे पत्तों का।

शुष्क, ऊबे, अनमने से  
ज्यों कोई बैराग  
संस में बजता नहीं अब  
कोई बादल राग  
काल-धुन से बहिष्कृत  
बेसुरे पत्तों का।

### किस समय में हूँ

यह जगह है कौन सी  
में किस समय में हूँ।

रो रही है नदी जंगल चीखते  
पर्वतों का बादल पूछते  
कोई गति, यति है, न कोई छंद है  
फ़जाओं में, एक आदिम गंध है  
जिन्दगी में जब नहीं लय  
किस वलय में हूँ।

दिन अंधरे की किताबें पढ़ रहे  
प्रार्थना के कद निरंतर बढ़ रहे  
सूलियों पर ठुकी हैं अभिव्यक्तियाँ  
एक सच पर सैकड़ों पाबंदियाँ  
कीच, कुंभी से भरे  
किस जलाशय में हूँ।

मंच पर बिकने कलाएँ खड़ी हैं  
कथ्य छोटे भूमिकाएँ बड़ी हैं  
सांस दूभर, हुई है दूषित हवा  
विषमता के रोग की दलगत दवा

सब सुखी हों, स्वस्थ हों सब  
इस विनय में हूँ।

### गीत नहीं लिख पाए

जो दिल में बस जाय  
तुम्हारे कंठ लगेँ दुहराने  
ऐसा अब तक कोई भी हम  
गीत नहीं लिख पाए।

कटी उंगलियाँ, छलनी सीना  
गढ़ते रहे नगीना  
उतने भाव गिर गए जितना  
गाढ़ा हुआ पसीना  
हारे को हरिनाम लिखा  
पर जीत नहीं लिख पाए।

जब जब सूखी नदियाँ देखीं  
हमने आँसू बोए  
दिन तो संघर्षों में बीता  
रात रात भर रोए  
झूठ रहा मुख्तार सदा  
विपरीत नहीं लिख पाए

शब्द रहे जीवित अर्थों की  
सूख गई अमराई  
न गालिब की ग़ज़ल बची  
न तुलसी की चौपाई  
भूख प्यास के चेहरे पर  
नवनीत नहीं लिख पाए।

**परिचय :** जन्म : अक्टूबर 1946 (नरसिंहपुर, म.प्र.), शिक्षा : स्नातक (सागर वि. वि.)

**प्रकाशन :** उत्तर की तलाश, ऐसा भी होता है (गीत/नवगीत) संकलन। गजल क्या कहे कोई (गजल संकलन), सप्तराग (गीतकारों का संकलन-संपादित), किस समय में हूँ (गीत खंड), आवाज की परछाइयाँ गजल संकलन शीघ्र प्रकाश्य।

देश की श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का प्रकाशन

**प्रसारण :** आकाशवाणी, दूरदर्शन के कई केन्द्रों से, **सम्मान:** देश की कई साहित्यिक संस्थाओं द्वारा दोहे/गीत/गजल, नई कविता, लघु कथा, समीक्षा में निरंतर लेखन, भारत संचार निगम से सेवा निवृत्त

**संपर्क :-** 10 प्रियदर्शिनी ऋषि वैली, ई-8, गुलमोहर एक्सटेंशन, भोपाल-462039

मो. 09425371874, ईमेल: shivkumararchan@gmail.com



## प्रेम का रंग स्याह

नीरजा हेमेन्द्र

आज मेरा इण्टरमीडिएट का परीक्षाफल निकलने वाला था। इस बार बोर्ड परीक्षा है। अतः भय कुछ अधिक है। फेल होने से हमेशा भयभीत रही हूँ। हालांकि पूरे वर्ष मैंने खूब मन लगाकर पढ़ाई की है। फिर भी मन सुबह से कुछ आशंकित है, यह सोच कर कि न जाने क्या होगा...? कहीं फेल न हो जाऊँ...? आशा की एक किरण भी मन में प्रज्वलित है कि मैं अवश्य उत्तीर्ण हो जाऊँगी। अभी तो सुबह के नौ बज रहे हैं। दोपहर के बाद शहर से गाँव में अखबार आयेगा तब कहीं मैं अपना अनुक्रमांक देख पाऊँगी। यह एक छोटा-सा गाँव है। यहाँ शहर से अखबार आते-आते दोपहर हो ही जाती है। दोपहर तक मैं इसी प्रकार उहापोह की स्थिति में झूलती रहूँगी। उहापोह की स्थिति में झूलते-झूलते दिन के बारह बज गये।

“पम्मी पास हो गयी... माँ, पम्मी पास हो गयी।” मेरा छोटा भाई चरन जो आज मेरे लिए शहर में अखबार लेने गया था, उसने साइकिल दालान में खड़ी करते हुए ऊँचे स्वर में कहा। उसके स्वर प्रसन्नता से भरे थे।

“हाँ...हाँ...सबको पता था पम्मी पास हो जाएगी।” माँ, जो अलगनी पर कपड़े फैला रही थी, उन्होंने वहीं से जवाब देते हुए।

चरन साइकिल के पीछे कैरियर में दबा अखबार निकाल कर मेरी ओर आ रहा था। मैंने लपक कर उसके हाथ से अखबार ले लिया।

“अब किस बात की शीघ्रता। तू पास तो हो गई है। ले फिर भी अखबार देख कर तसल्ली कर ले।” छोटे भाई चरन ने मुझे छेड़ते हुए कहा।

“पम्मी, देख चरन शहर से अखबार ले आया है। तू पास हो गयी है। अखबार देखकर तसल्ली कर ले और कुछ खा-पी ले। सुबह से यूँ ही बैठी है।” माँ आँगन की ओर आ रही थी। मुझे अखबार में अपना अनुक्रमांक ढूँढ़ते देख मुस्कुरा कर रसोई की ओर बढ़ गयी।

“माँ, कोई काम है क्या...?” माँ के पीछे-पीछे मैं रसोई में चली आयी थी। मैं खूब खुश थी। मुझे अखबार में अपना अनुक्रमांक जो मिल गया था।

“इस समय कोई काम नहीं है। तू भोजन कर ले और आराम कर। शाम को पालक बैगन की सब्जी धोकर काट लेना। मैं बड़िया बनाने की तैयारी कर लूँगी।” माँ ने कहा।

“जी माँ, कर लूँगी।” कह कर अपना भोजन लेकर मैं अपने कक्ष में आ गयी।

माँ कितनी खुश लग रही थीं। आखिर इस गाँव में बहुत कम लड़कियाँ इण्टर तक पढ़ाई कर पाती हैं, उनमें एक मैं हूँ।

“माँ, आज मैं अपनी मित्र नवजोत के घर जाऊँ...?” दूसरे दिन मैंने माँ से पूछा। माँ आँगन में बेड़ियाँ तोड़ने की तैयारी कर रही थी।

“जा, लेकिन ध्यान रहे घंटे भर में आ जाना।” माँ ने हिदायत देते हुए कहा।

“हाँ माँ...हाँ।” कहकर मैं तुरंत घर से निकल पड़ी। नवजोत मेरी मित्र है। मेरे घर से दो-तीन घर छोड़कर उसका घर है।

मैं रंगीन फूलों वाली कुर्ती, पटियाला सलवार व लम्बी चोटियों को गुँथ कर उसमें लाल-पीले रंगों के परादे लगाकर पहले से तैयार बैठी थी। यह सलवार सूट बहुत पसंद है मुझे किंतु इसे पहनने के अवसर कम ही मिलते हैं। अधिकांशतः मैं स्कूल यूनिफार्म पहन कर आती-जाती हूँ। कॉलेज के अतिरिक्त मैं कहीं और आती-जाती कम हूँ। अतः ये सलवार सूट पहनने का अवसर कम ही मिलता है। जब कभी कॉलेज की सहेलियों के घर जाने की इच्छा होती है, तब माँ से पूछ कर कभी-कभी चली जाती हूँ। उस समय मैं अपनी पसंद के सलवार-सूट व रंगीन परादे वाली चोटियाँ बनाती हूँ। मेरे पग तीव्र गति से नवजोत के घर की ओर बढ़ रहे थे। मेरे घर से चंद कदम दूर अपनी मित्र नवजोत के घर मैं कुछ ही मिनटों में पहुँच गयी।

आज नवजोत से मुझे कोई विशेष काम न था। बस अपने उत्तीर्ण होने की प्रसन्नता साझा करनी थी। थोड़ी देर में मैं घर वापस आ गयी। मई का महीना था। दोपहर के एक बज रहे थे। धूप अपने तीव्र तेवर दिखा रही थी। माँ बेड़ियाँ तोड़ चुकी थीं। बेड़ियों से भरी चारपाई धूप में खिसका चुकी थीं। धूप तेज है। शाम तक बड़िया सूख जायेगी। उसके बाद दो-तीन दिनों तक और ठीक से सुखाई जायेगी। फिर माँ उन्हें टाइट ढक्कन वाले डिब्बे में बंद कर रख देंगी। अगले माह से

प्रारंभ होने वाली बारिशों के मौसम में भोजन में माँ ये बड़ियाँ खूब बनाती हैं। हम सब को बड़ियों की सब्जी खूब पसंद है।

अपने कमरे में जाकर मैं सुकून का अनुभव कर रही थी। बाहर तीखी धूप जो थी। मैंने खिड़की से बाहर देखा, धूप अपने पेरे तेवर के साथ गाँव की गलियों व धूसर खेतों में बिछी थी। इस लम्बी, गर्म दोपहरी से मुझे जूझना था। इसके लिए मुझे अपनी रुचि का सहारा लेना पड़ेगा। कुछ ही क्षणों में पेन व डायरी मेरे हाथों में थी। मन के भीतर की प्रसन्नता और बाहर का उदास मौसम, दोनों के भाव शब्दों के माध्यम से कविता के रूप में पन्नों पर ढलने लगे। अन्ततः एक पूरी कविता पन्नों पर सजीव हो गयी। मैं संतुष्ट थी आज के दिन को सफल बनाने में अपनी इस कविता के योगदान से।

इण्टरमीडिएट के पश्चात् मैं स्नातक करना चाहती हूँ। घर में सभी कहते हैं कि मैं विवाह योग्य हो गयी हूँ। माँ तो कहती हैं कि अब तक मेरा विवाह हो जाना चाहिए था। किंतु मैंने निश्चय किया कर लिया है कि आगे पढ़ूँगी। मेरे गाँव में आगे की शिक्षा के लिए कॉलेज नहीं है। अतः पापा से कह कर, एक प्रकार से कहूँ तो हठ कर पास के गाँव में जहाँ उच्च शिक्षा का कॉलेज है, प्रवेश ले लिया। अब मुझे साइकिल से कॉलेज जाना होगा। क्योंकि कॉलेज मेरे घर से सात किमी. दूर है। इसके लिए मुझे चरन की पुरानी साइकिल ठीक कराकर दे दी गई है। कॉलेज जाने का आज मेरा प्रथम दिन है। मैं तैयार होकर कॉलेज जाने के लिए साइकिल निकालकर करियर में बैग रही थी।

“इस गाँव में लड़कियों ने आठवीं से आगे की पढ़ाई नहीं की है। हम लोगों ने तुम्हें बारहवीं तक पढ़ा दिया है। तुम अब चुपचाप घर में बैठो। तुम्हारे विवाह की बात चल रही है।” माँ ने बाहर आकर मुझसे कहा।

“नहीं माँ, मैं तो आगे पढ़ूँगी।” मैंने माँ से कहा।

“सभी जगह तुम्हारी नहीं चलेगी... ये लड़की तो

किसी की नहीं सुनती...।” माँ न जाने क्या-क्या कहती जा रही थी और मैं साइकिल पर बैठी और पैडल मारती हुई घर से बाहर निकल गयी।

कच्ची-पक्की सड़कें, पगडंडियों, खेतों से होती हुई दूसरे गाँव में कॉलेज के गेट पर पहुँच गयी। पढ़ना अच्छा लगने लगा। साथ ही मार्ग में मिलते गाँव के हरे-भरे खेत, बाग-बगीचे, रंग-बिरंगे पक्षी, नाचते मयूर ये भी खूब अच्छे लगने लगे। इन सबसे मित्रता हो गयी। इन मित्रों से बातें करते मेरे गाँव से दूसरे गाँव की दूरी सरलता से कट जाती, क्योंकि अपने गाँव से दूसरे गाँव में आकर पढ़ने वाली लड़की मैं अकेली ही थी। इन बाग-बगीचे, रंग-बिरंगे पक्षियों के अतिरिक्त मेरी कोई अन्य मित्र न थी।

आज रविवार था। सुबह के लगभग दस बज रहे थे। घर के रोजमर्रा के सभी काम लगभग समाप्त हो गए थे। मैं घर के बरामदे में बैठी पुस्तक पढ़ रही थी। परीक्षाएँ समीप थीं।

“तुम्हारे विवाह की बात चल रही है।” माँ ने कहा। वो बरामदे में पड़ी चारपाई पर बैठ कर पंखा झल रही थीं और इस समय फुर्सत में थीं।

“मैं आगे पढ़ूँगी। अभी विवाह नहीं करूँगी।”

“तेरे उमर की लड़कियाँ माँ बन गयी हैं और तुम विवाह के लिए मना कर रही हो...।” माँ बोलती जा रही थीं। मैं अपनी दृष्टि नीचे झुकाये पैर के अंगूठे से फर्श कुरेद रही थी। नाहक...बेवजह... जब कि फर्श पक्का था और उसमें से निकलना कुछ भी नहीं था।

“...पास-पड़ोस की महिलाएँ कह रही हैं कि आप की पम्पी कितनी सुंदर है। लम्बा छरहरा कद, गौर वर्ण, मीन जैसी आँखें, साँचे में ढली लम्बी नाक कितनी सुंदर है आपकी बिटिया फिर भी अभी तक कुँआरी है...” माँ मुझे मनाने का प्रयत्न कर रही थीं। मैं जानती हूँ कि ये बातें गाँव की महिलाएँ अवश्य कहती होंगी या नहीं भी किंतु ये माँ के मन की बात है और इच्छा भी। माँ चाहती हैं कि मेरा विवाह अब हो जाना चाहिए। मैं

पढ़ना चाहती हूँ अतः माँ के सपनों को मैंने कह दिया कुछ समय पश्चात् मेरे पास आयें। समय आगे बढ़ता जा रहा है। पढ़ने के साथ-साथ मुझे लिखने का जुनून है। विशेषकर कविताएँ और मैं लिखती जा रही हूँ।

मेरी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थी। मेरी रुचि लिखने की ओर निरंतर बढ़ती जा रही थी। लिखना मुझे अच्छा लगने लगा था। अब तक मैंने जो कुछ लिखा है वो मेरे विचारों की पूरी अभिव्यक्ति नहीं है। मेरी स्नातक तक की शिक्षा पूरी हो गयी थी। अभी मुझे कुछ लिखना है। किंतु उससे पहले माँ के सपनों को पूरा करना है, विवाह की सहमति देकर। मैंने विवाह की सहमति दी। मेरा विवाह हो गया। माँ के सपने पूरे हो गये। मेरा विवाह एक छोटे से शहर में हुआ था। छोटा शहर कम से कम गाँव से अच्छा है। वहाँ स्कूल-कॉलेज है। जहाँ से मैं एम.ए. कर सकती हूँ। मैंने एम.ए. करने का निर्णय कर लिया। अपने निर्णय से अपने पति को अवगत करा दिया। मेरा ये फैसला मेरे पति व उनके परिवार को अच्छा नहीं लगा। मेरे भीतर विद्रोह के स्वर उठने लगे थे। परिवार से हठ व विद्रोह कर मैंने एम. ए. में प्रवेश ले लिया। मैं कॉलेज जाने लगी। पढ़ने के साथ-साथ मैं अपने लेखन के जुनून के लिए भी समय निकाल ले रही थी। लेखन के कारण कॉलेज की साहित्यिक गोष्ठियों व समारोहों में प्रतिभाग करती। मेरी एक अलग पहचान बनने लगी थी। लेखन में रुचि बढ़ती जा रही थी। लिखे बिना मुझे घुटन-सी लगने लगती। लिखने बैठती तो घर के काम छूट जाते। घर के काम करने लगती तो लिखना छूट जाता। लिखना मुझे नहीं छोड़ना है। अतः घर के काम छूट रहे थे। एक विवाहिता का उत्तरदायित्व व घर के काम छूटने पर रिश्ते छूटने व टूटने स्वाभाविक थे। मेरे साथ ऐसा हो रहा है। मेरा एम.ए. पूरा हो गया था। घर के लोगों से तिरस्कार, पति से उपेक्षा व बाहर के लोगों से प्रशंसा। कुछ अजीब-सी शक्ल में ढलता जा रहा है। समय ने मेरी सोच में परिवर्तन किया है। अब मैं आत्मनिर्भर भी

होना चाहती हूँ। मेरी रुचि अध्यापन में है। इसके लिए मुझे अब पीएच.डी. करनी होगी। राहें कठिन हैं, किंतु मैं कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार हूँ। जब हम पथ पर आगे बढ़ने के लिए पग उठाते हैं तो कभी-कभी विधाता राह में बाधाएँ खड़ी कर हमारी सहनशक्ति की परीक्षा लेते हैं। विधाता मेरी भी परीक्षा ले रहे हैं। पुस्तकें, पुस्तकालय, शोध कार्य इन सबकी व्यस्तता के बीच मेरा बेटा गोद में आ गया है। मातृत्व मेरी प्राथमिकता है। किंतु पुस्तकें भी मुझे दूर न हो पातीं। अब सब कुछ इतना आसान तो न था।

“पम्मी, अब किताबों को छोड़ो और बच्चे पर ध्यान दो। एम.ए. कर लिया बहुत है अब आगे और पढ़ने की आवश्यकता नहीं। कॉलेज जाना बंद करो।” पति के शब्द सुन...मेरे सपने...मेरी पुस्तकें... सब मुझसे दूर होते जाते प्रतीत होने लगे। मैं अपनी इच्छाओं को दिवास्वप्न बनने नहीं देना चाहती। समय मिलने पर मैं किताबें खोलकर बैठ जाती। अनियमित ही सही कभी-कभी कॉलेज भी जाती। जब भी कॉलेज जाती मेरे पति का व्यवहार मेरे प्रति कठोर हो जाता। मैंने कॉलेज जाना कम कर दिया। देखते-देखते दो वर्ष व्यतीत हो गए। पुस्तकें मुझसे दूर होती जा रही हैं। किंतु कब तक वो मुझसे दूर रह सकती है? मैं भी कब तक दूर रह पाऊंगी?

“मैं तुम्हें छोड़ सकती हूँ, किंतु पढ़ाई नहीं छोड़ सकती।” एक दिन मुझे न जाने क्या हुआ कि मैं पति से बोल पड़ी। इसका कारण कदाचित् उनका बार-बार पढ़ने के लिए रोकना व मुझे छोड़ देने की चेतावनी देना था।

दूरियाँ बढ़ती चली जा रही हैं। तन से भी, मन से भी। सड़ी-गली परम्पराओं व रिश्तों की सड़ांध में जीते हुए किसी प्रकार मैं पीएच.डी. पूरा करने के लिए प्रयत्न करने लगी। पीएच.डी. पूरा होते-होते, कहीं तो उससे पूर्व ही रिश्ते टूटने की कगार पर जा पहुँचे हैं। एक तरफ जीवन में बहुत कुछ छूटता जा रहा था तो दूसरी

ओर नये मित्र और प्रशंसक बढ़ते जा रहे हैं।

“तुम्हें पता है तुम्हारे बारे में लोग क्या कह रहे हैं? एक दिन मेरे पति ने मुझसे एक अपरिचित की भाँति पेश आते हुए कहा।

“क्या कह रहे हैं?” मैंने पूछा।

“यही कि तुम पुरुषों से मेलजोल रखती हो। कितनी बदनामी हो रही है मेरे परिवार की।” मेरे पति के चेहरे पर घृणा के भाव थे।

“मैं रिसर्च कर रही हूँ। उस कार्य को करने में मुझे सहयोगी प्रोफेसर से मिलना पड़ता है। मैं कोई गलत कार्य तो नहीं कर रही हूँ।” मैं अपराधिनी तो न थी किंतु किसी अपराधिनी की भाँति मैंने अपना पक्ष रखते हुए कहा।

“तुम समझती क्यों नहीं तुम्हारे इस हठ में हम सबकी बदनामी हो रही है।” मेरे पति अपनी बात पर कायम थे।

“लोग तो अच्छे को भी बुरा समझते हैं। लोग कहेंगे यह सोचकर मैं कुछ भी करना छोड़ दूँ...?” मैंने पति की बातों का प्रतिकार करते हुए कहा।

पति के साथ ये नोक-झोंक, लड़ाई-झगड़े, घृणा, क्रोध एक दिन की बात तो न थी। मेरा शोध पूरा होने की ओर अग्रसर था और उसके साथ दाम्पत्य जीवन रिक्त होने की ओर। पुरुषों का स्त्रियों के प्रति दोहरी मानसिकता, एक स्वतंत्र देश में स्त्रियों की परतंत्रता, उनका शोषण और उनकी ओर से कभी-कभी सुनाई देने वाले विद्रोह के स्वर मेरी रचनाओं में स्थान बनाने लगे थे। मेरे दाम्पत्य जीवन में समा चुकी कटुता से मेरा विद्रोही स्वभाव समझौता करने की अनुमति बिल्कुल नहीं दे रहा था। मेरा रिसर्च पूरा हो चुका था। अध्यापन कार्य हेतु मैंने कॉलेजों में आवेदन करना प्रारम्भ कर दिया था। मेरी पहली पुस्तक कविता संग्रह के रूप में प्रकाशित होने वाली थी। मेरी इस छोटी-सी प्रसन्नता के छोटे क्षणों में मेरे साथ परिवार में प्रसन्न होने वाला अपना कोई न था। अतः ये प्रसन्नता मैंने अपने

परिवार से नहीं बल्कि बाहर अपने प्रशंसकों व कॉलेज के सहकर्मियों से साझा किया। खुशियों के एक-एक पल की तलाश करते-करते, ससुराल के घुटन भरे माहौल में एक वर्ष और व्यतीत हो गया। आज एक खुशनुमा दिन है जब डॉकिया आया और मुझे एक लिफाफा देकर गया। उसमें एक कॉलेज में बतौर शिक्षिका मेरी नियुक्ति का पत्र था। ठीक से पढ़ा तो देखा कि मेरी नियुक्ति दूसरे शहर में हुई है। तो अब क्या करूँ...? यह नौकरी ज्वाइन करूँ या न करूँ...? निर्णय-अनिर्णय की स्थिति पुनः मेरे समक्ष थी। किंतु कुछ घंटों में मैं निर्णय ले चुकी थी। वो यह कि मुझे ये नौकरी करनी ही है।

“यह नौकरी तो दूसरे शहर में है। इसे तुम कैसे कर सकती हो...?” मेरे पति ने कहा।

“कर सकती हूँ।” यह मेरा संक्षिप्त उत्तर था। पति की प्रतिक्रिया मैंने नहीं देखी।

अकेले जाकर मैंने कॉलेज में शिक्षिका की नौकरी ज्वाइन की। शहर यद्यपि मेरी ससुराल से दूर था किंतु मुझे नौकरी करनी ही थी। मेरा यह निर्णय अडिग था। परिवार से दूर दूसरे महानगर में मैं पति के सहयोग के बिना अकेले रहने लगी। शहरों की ये दूरियाँ दिलों की दूरियों में कब तब्दील हो गयीं, मैं जान ही नहीं पायी। मेरा परिवार छूट गया। मेरा बेटा भी मुझसे भी दूर हो गया था। क्योंकि उसे मैं पति के पास छोड़कर आयी थी। एक स्त्री यदि अपने लिए कुछ पल जीना चाहे या अपने सपनों को पूरा करना चाहे तो उसे बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है या कहें तो बहुत से अपने उसे अकेले छोड़ देते हैं। मेरे अनुभवों ने मुझे इस कटु सत्य से परिचित कराया। नयी जगह, नये वातावरण में अध्यापन कार्य के साथ मेरा लेखन भी बदस्तूर चलता रहा। मुझे नहीं मालूम मेरी कविताओं, कहानियों में लोगों को क्या नजर आता, मेरे प्रशंसकों की संख्या बढ़ती जा रही है। मेरी पुस्तकें छपती जा रही हैं। साहित्य के क्षेत्र में एक जाना-पहचाना चेहरा बन गयी हूँ मैं। मेरी लेखनी को

बड़े व प्रतिष्ठित सम्मान मिलने लगे हैं। कॉलेज के अतिरिक्त मेरा शेष समय साहित्यिक सेमिनारों, गोष्ठियों आदि में व्यतीत हो जाता है।

समय अपनी गति से आगे बढ़ता जा रहा है। मेरा स्थानान्तरण अब दिल्ली में हो गया है। साहित्य और लेखन के लिए अनुकूल शहर और देश की राजधानी। मेरी व्यस्तताएँ और बढ़ गयी हैं। बहुत दिनों पश्चात् दिल्ली में मेरी मुलाकात ससुराल के एक परिचित से हुई। उसके द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे पति ने दूसरा विवाह कर लिया है। वहाँ अब किसी को मेरी आवश्यकता नहीं है। मुझे अपने पति से या विगत से कोई शिकायत न थी। मैं भी तो उनसे अलग एक दूसरे मार्ग पर आगे बढ़ गई थी। अध्ययन, अध्यापन, लेखन में मेरा जीवन सिमट गया था। मेरे साक्षात्कार लिए जाते तो उसमें मेरे लेखन के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न होते। मेरे लेखन की चर्चा तो होती थी ही आखिर वो ही तो मेरी पहचान है। किंतु एक प्रश्न और भी बहुधा मुझसे पूछा जाता वो यह कि—“आपके बारे में कहा जाता है कि साहित्यिक गोष्ठियों, सेमिनारों में साहित्य के साथ ही आपका सौन्दर्य भी चर्चा में रहता है। जितने प्रशंसक आपके लेखन के हैं उससे कम आपके सौंदर्य के नहीं हैं।” ये प्रश्न मुझे असहज कर देता। ऐसे प्रश्नों के मैं यथोचित उत्तर भी दे देती। फिर भी ये प्रश्न बार-बार मेरे समक्ष आकर खड़ा हो जाता। जो भी हो नेकनामियों व बदनामियों के साथ समय आगे बढ़ रहा था। जीवन के दिन व्यतीत होते जा रहे थे। इस अनजाने शहर को मैंने अपना लिया था और इस शहर ने मुझे। यहाँ के एक अपार्टमेंट में एक लैट रूपी आशियाना मैंने ले लिया था। कहने को तो ये एक पूरा घर था। जिसमें परिवार को सम्पूर्ण रूप देते पति-पत्नी, बच्चे सभी रह सकते थे। किंतु इसमें रहना मुझे अकेले था। गाँव के मेरे खुले व बड़े घर के एक कोने के बराबर भी नहीं था शहर का ये फ्लैट। फिर भी पूरा का पूरा खाली लगता। उम्र के पचासवें पड़ाव पर मैं आ गयी थी। शोहरत और

अफवाहों की बुलंदियाँ मुझे छू रही थीं।

“आप परमिन्दर हैं?” एक दिन मैं एक चित्र-प्रदर्शनी में मैं पेंटिंग्स देखने में व्यस्त थी कि सहसा किसी ने पूछा। नजरे उठा कर देखा तो एक दुबला-पतला, लम्बा, गौरवर्ण का आकर्षक युवक मुझसे मुखातिब था।

“जी हाँ, मैं ही हूँ परमिन्दर।” मैंने उत्तर दिया और पेंटिंग्स देखने में मशगूल हो गयी।

“आपकी तस्वीरें पत्र-पत्रिकाओं में देखता रहता हूँ। आपको देखते ही पहचान गया।” वह मेरे साथ चलता जा रहा था और बातें करता जा रहा था। मैं खामोशी से उसकी बातें सुन रही थी।

“मेरी तस्वीरें...?”

“मैं सिर्फ आपकी तस्वीर नहीं देखता आपको पढ़ता भी हूँ।” मैं अपनी बात पूरी भी न कर पायी थी कि वो बोल पड़ा। गजब की कशिश थी उसकी आवाज में। मैंने अपनी दृष्टि उठाई और उसे देखने लगी। अपलक देखती रही न जाने क्यों...? और मुस्कुरा पड़ी। उससे कुछ कह न पायी, यहाँ तक कि एक औपचारिक शब्द ‘शुक्रिया’ भी नहीं। उसका नाम पूछना तो दूर की बात थी।

“फिर मिलते है।” कहते हुए शालीनता से दोनों हाथ जोड़कर उसने विदा लिया। मैं स्वयं में लौट आयी। चित्र प्रदर्शनी से बाहर निकलते ही मैं उस युवक को विस्मृत कर चुकी थी।

समय किसी परिन्दे-सा उड़ता जा रहा था। देखते-देखते छः माह व्यतीत हो गये। समय के साथ ऋतुयें भी परिवर्तित हो चली थीं। खूबसूरत सर्दियों के दिन आ गये थे।

“आइये, मेरे साथ आइये। इस प्रदर्शनी में आज वो युवक पुनः मिल गया। दोनों हाथ जोड़े मुझसे अपनी पेंटिंग्स देखने की गुजारिश कर रहा था।

“इतनी शीघ्र आपसे मिलना मेरे लिए किसी अनमोल तोहफे से कम नहीं है।” मुझे अपने पीछे चलने का

संकेत करते हुए उसने कहा। मैं सम्मोहित-सी उसके साथ चलती जा रही थी। गैलरी में सामने की दिवार पर उसके अनेक चित्र लगे थे। मैं चित्रों को देखने लगी। चित्रों को देखने से चित्रकार की कल्पना, रंग-संयोजन, कला के प्रति कलाकार की गंभीरता का स्पष्ट आभास हो रहा था। पेंटिंग्स के कोनों पर बेहद कलात्मक ढंग से चित्रकला की दुनिया का जाना-पहचाना नाम आयुष्मान लिखा देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

“तो तुम जाने-माने चित्रकार आयुष्मान हो...?” उसके चित्रों को देखते हुए मैंने कहा।

“जाना-माना नहीं, गुमनाम-सा।” उसकी हाजिर-जवाबी पर मैं मुस्कुरा पड़ी। उसकी पेंटिंग्स देखते-देखते मैं उसकी कला की प्रशंसक हो चुकी थी।

“अब तो तुम्हारा आटोग्राफ लेना पड़ेगा।” पर्स से छोटी डायरी उसकी ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा।

“नहीं... अब आप मुझे शर्मिदा कर रही हैं।... इतनी बड़ी लेखिका मेरे सामने हैं और वो मुझसे ऑटोग्राफ मांग रही हैं?” उसकी कशिश भरी आवाज मेरे कानों से टकरा रही थी। बस यही इच्छा हो रही थी कि मैं उसकी आवाज सुनती रहूँ। वह डायरी पर अपना नाम लिखकर मेरी ओर बढ़ा चुका था। ऑटोग्राफ वाले पृष्ठ के एक कोने में उसका दूरभाष नम्बर भी लिखा था। प्रदर्शनी में पूरे समय वो मेरे साथ रहा। जितना समय मैं प्रदर्शनी के लिए सोच कर आयी थी उससे अधिक समय तक मैं उसके साथ रही। शनैः शनैः लगभग दो सप्ताह व्यतीत हो गए थे। इस बीच कभी-कभी आयुष्मान की याद मुझे अवश्य आयी, उसका दूरभाष नम्बर मेरे पास होने के पश्चात भी मैंने उसे फोन नहीं किया। फोन करूँ भी तो क्या कहूँ...? क्या बातें करूँ मैं उससे? मैं अलग वो अलग। उसका और मेरा कार्यक्षेत्र अलग, हमारे दरमियाँ उम्र का एक लम्बा फासला। कुछ भी तो समानता नहीं है, फोन करूँ भी तो क्या बातें करूँगी? उसे फोन करने का विचार त्याग मैं अपनी दिनचर्या में व्यस्त हो गयी।



एक दिन मैं कॉलेज से घर पहुँचकर, फ्रेश होकर ड्राइंगरूम में बैठ कर मैं चाय पी ही रही थी कि सहसा दरवाजे की घंटी बजी। दरवाजा खोला तो सामने आयुष्मान खड़ा था।

“तुम...?” उसे देख मुझे आश्चर्य हुआ। वह दोनों हाथों को जोड़े हुए मुस्कुरा रहा था।

“आओ...” कहते हुए उसे अन्दर आने का संकेत किया।

उस शाम चाय हम दोनों ने साथ पी। आयुष्मान देर तक बैठा रहा। खूब सारी बातें करता रहा। अपने सपने, अपनी रुचियाँ, अपनी उलझनें, अपनी संतुष्टि, अपनी प्रसन्नता, सब कुछ मुझसे साझा किया। साथ ही यह भी कि घर वालों के कहने पर भी उसने अब तक विवाह क्यों नहीं किया? कारण यह कि उसकी कलात्मक रुचियों मसलन साहित्य और कला की समझ रखने वाली लड़की उसे अब तक नहीं मिली। आयुष्मान की बातें मुझे प्रभावित कर रही थीं। उस शाम देर तक बैठा रहा आयुष्मान। एक-दो दिनों के अन्तराल के पश्चात् आयुष्मान बहुधा मुझसे मिलने आने लगा। उसके आने से मेरे शाम का समय अक्सर अव्यवस्थित होने लगा। वही समय होता है मेरे लेखन का किंतु आयुष्मान के आने से शाम का समय यूँ ही व्यतीत हो जा रहा था।

“मैं शाम को अक्सर आपके पास आ जाता हूँ। आपको डिस्टर्ब तो नहीं कर रहा...?”

“नहीं...नहीं...” मैं शीघ्रता से कह बैठी। उसकी कशिश भरी आवाज ने मुझे सम्मोहित-सा कर दिया।

“चलिए आज शाम की चाय मैं बनाता हूँ।” मेरे मना करते-करते एक दिन वो मेरी छोटी-सी रसोई में जा चुका था। कुछ ही देर में गर्म चाय और पोहा मेरे समक्ष था। मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। इतना स्वादिष्ट पोहा और गाढ़ी टेस्टी चाय जैसी की मुझे पसंद थी। थकान और समयभाव के कारण मैं चाय के साथ कोई स्नैक्स नहीं बना पाती और बहुधा बाजार से मंगा लेती हूँ। अरसे बाद इतना स्वादिष्ट नाश्ता किया था मैंने।

इस बात से मैं अचम्भित भी थी कि आयुष्मान इतना अच्छा कुक है। अब जब भी शाम को आयुष्मान आता नाश्ते में कुछ न कुछ बनाता। बहुत भिन्नता तो नहीं थी उसके व्यंजनों में किंतु जो भी बनाता अच्छा बनाता। बातों-बातों में यह भी पता चला कि अपने यायावर स्वभाव व रुचियों के कारण वह अपने घर से अलग किराये के घर में रहता है। यह भी एक कारण है कि वह थोड़ा-बहुत कुछ पकाना जानता है। घर में सभी उसे नौकरी करने के लिए कहते हैं। किंतु वो एक स्थान पर बँध कर रहना नहीं चाहता है। उसे रंगों की दुनिया में रहना अच्छा लगता है।

अब प्रायः प्रतिदिन शाम को वो मेरे घर आने लगा था। उसका आना अब मुझे अच्छा लगने लगा था। घर-गृहस्थी की आवश्यकता की वस्तुएँ भी मैं उससे मंगाने लगी थी। देखते-देखते कब उसने मेरा पूरा घर सम्हाल लिया, पता ही नहीं चला। मैं उस पर निर्भर रहने लगी थी। वह भी मेरी आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखता। शाम का भोजन बनाने में भी मेरी मदद करता। जब कि मैं अकेली थी और मात्र अपने लिए भोजन बनाने में कभी-कभी आलस्य कर जाती थी। आयुष्मान के आने से घर के सभी काम सुचारु रूप से होने लगे।

समय अपनी गति से आगे बढ़ता जा रहा था। सेमिनारों व साहित्यिक गोष्ठियों में मैं प्रतिभाग करती। मेरे लेखन पर चर्चा होती। आयुष्मान के चित्रों की प्रदर्शनी बड़े-बड़े शहरों में लगती। उनमें अपने साथ चलने के लिए वो मुझसे आग्रह करता किंतु मैं मना कर देती। मेरा लेखन मुझे इन सबके लिए समय न देता। मेरे साथ साहित्यिक गोष्ठियों में वह अवश्य चलता, और बस साहित्य के गलियारों में मेरे साथ वो भी चर्चा का विषय बन गया। मेरे साथ अनायास आयुष्मान का नाम जुड़ने लगा। कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता जैसे आयुष्मान किसी आर्थिक परेशानी से गुजर रहा है। घर का किराया देने के साथ जीवन की बुनियादी

आवश्यकतायें पूरी करने में हो सकता है उसे दिक्कत आ रही हो।

“मेरे पास दो कमरे हैं। यदि तुम चाहो तो मेरे पास आकर रह सकते हो।” मैं उसकी मदद करना चाहती थी और यही सोचकर मैंने उससे कहा। वो आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगा।

“मेरे साथ आपका नाम जोड़कर लोग आपको बदनाम कर देंगे।” उसने मुस्कराते हुए कहा।

“मैं मात्र लिखने में ही निडर नहीं हूँ। विचारों से भी स्पष्ट, पाखण्डरहित व निडर हूँ। लोग क्या कहेंगे इसकी मुझे परवाह नहीं है। मुझे जो अच्छा व सही लगता है वो मैं करती हूँ।” मैंने आयुष्मान से कहा।

“मैं आपकी विशेषताओं से वाकिफ हूँ।” उसने मुस्कराते हुए कहा।

दो दिनों पश्चात् आयुष्मान मय सामान मेरे फ्लैट में आ गया। सामान में ऐसा कुछ नहीं था जिसे अधिक कहा जाय या आवश्यकता से अधिक। रंग, कैनवस, ब्रश आदि पेंटिंग के सामनों के दो बक्सों के अतिरिक्त एक छोटा बक्सा जिसमें कुछ सफेद कुर्ते, पायजामे व एक-दो काली सदरियाँ थीं जिन्हें वो अक्सर पहना करता था। एक लकड़ी के बक्से में स्टोव, कुछ बर्तन व भोजन सामग्री थी। बस इतनी ही चीजें उसके पास थीं। जो उसके जीने के लिए पर्याप्त थीं।

आयुष्मान मेरे साथ रहने लगा। उसके रहने से मेरे जीवन में भी वो सभी रंग आ गए जिन्हें वो ब्रश की सहायता से कैनवस पर बिखेरा करता था। घर की आवश्यकताओं की चिंताओं से मुक्त मेरा मन लेखन व साहित्यिक गोष्ठियों में मन खूब रमने लगा था। बतौर चित्रकार आयुष्मान भी प्रसिद्धि की ऊँचाईयाँ छू रहा था। मैं पचास वर्ष की प्रौढ़ महिला व आयुष्मान तीस-बत्तीस वर्ष का युवक, मात्र यही अन्तर था मेरे व आयुष्मान के बीच। शेष कुछ भी नहीं। हमारे विचार, हमारी रुचियाँ एक-दूसरे के साथ रहने की इच्छा, सब कुछ तो मिलता-जुलता था।

“परमिन्दर जी, मैं आपसे मिलने से पहले ही मैं आपसे प्रेम करने लगा था।” एक शाम बालकनी में बैठकर मेरे साथ चाय पीते हुए आयुष्मान ने मुझसे कहा।

“मुझसे मिलने से पहले... वो कैसे...?” मैंने आश्चर्य व्यक्त करते हुए आयुष्मान से कहा।

“आपसे मिला भर नहीं था किंतु आपकी रचनायें तो पढ़ता ही रहता था। एक-दो बार साहित्यिक सेमिनारों में भी आपको देखने का अवसर भी मिला था। मैं आपसे प्रेम करने लगा था।” उसने सरलता से कहा। उसकी सरलता व नासमझी पर मैं मुस्करा पड़ी।

“मेरे और तुम्हारे बीच उम्र का तकरीबन बीस वर्ष का फासला है। उस बारे में नहीं सोचा तुमने कभी?” मैंने उससे कहा।

“नहीं परमिन्दर जी, प्रेम में ये सब चीजें मायने नहीं रखती हैं। बस, प्रेम प्रमुख होता है।” आयुष्मान की आकर्षक व कश्मिश भरी आवाज से मैं सम्मोहित-सी होती जा रही थी।

उस दिन आईने में मैंने स्वयं को भरपूर ढंग से देखा। उम्र की परछाईयाँ चेहरे पर स्पष्ट थीं। किंतु इस उम्र में भी मैं आकर्षक थी। अपनी उम्र को कई वर्ष पीछे छोड़ती हुई। किंतु इतनी भी नहीं कि आयुष्मान जैसा आकर्षक युवा मुझमें अपना प्रेम ढूँढ़ने लगे। आयुष्मान मेरे साथ क्या रहने लगा मेरे साथ उसका नाम जुड़ने लगा। आयुष्मान को इससे कोई आपत्ति न थी। उसने अपने जीवन को ब्रश व रंगों के अतिरिक्त मेरे इर्द-गिर्द केन्द्रित कर लिया था। अपने साक्षात्कारों में वो बेबाकी से मेरे व अपने रिश्ते को जीवन साथी का नाम देता। मेरी सुख-सुविधाओं मसलन खाने-पीने व कभी-कभी अस्वस्थता की स्थिति में समय पर दवाईयाँ व मेरे आराम का पूरा ध्यान रखता। मुझे अपनी साहित्यिक अभिरुचियाँ पूरी करने के लिए पर्याप्त समय मिलने लगा। कभी-कभी आयुष्मान के बिना मुझे मेरा जीवन, मेरा घर चलना असंभव-सा

लगने लगता। कभी-कभी जीवन में ऐसा मोड़ भी आता है जब हम चाहते हैं कि उम्र और समय बस यहीं ठहर जाये किंतु ऐसा कहाँ संभव है? समय तो अपनी गति से आगे बढ़ता जा रहा था। आगे बढ़ते समय ने मेरे शरीर पर अपना प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर दिया था। थोड़ी दूर चलने पर मैं थक जाती। शारीरिक सक्रियता कम होती जा रही थी। उम्रजनित बीमारियाँ भी सिर उठाने लगी थीं। ऐसी अस्वस्थता की स्थिति में डॉक्टर के पास मुझे लेकर जाना, दवाईयाँ लाना, उन्हें समय पर मुझे देना आदि सब कुछ आयुष्मान करता। आयुष्मान युवा था, जबकि मैं प्रौढ़ावस्था को पार करती हुई आगे की ओर बढ़ चुकी थी।

कभी-कभी मैं सोचती कि यदि आयुष्मान मेरे जीवन में न आता तो इस उम्र में मेरा क्या होता...? कौन मेरी देखभाल करता...? शारीरिक दुश्वारियों से कहीं आगे बढ़कर इस अकेलेपन से मैं कैसे निपटती..? तब जो भी होता, हो जाता। इस समय यह अच्छा है कि आयुष्मान मेरे साथ है। आज भी मैं बालकनी में बैठी आयुष्मान की प्रतीक्षा कर रही हूँ। शाम की चाय का समय हो गया है। जिसे मैं आयुष्मान के साथ ही पीती हूँ। आयुष्मान बस आ ही रहा होगा।

“पत्र-पत्रिकाएँ सनसनी फैलाने के लिए किसी के भी नाम का प्रयोग भद्दे ढंग से कर लेती हैं। उन्हें किसी की भावनाओं से क्या लेना-देना? पत्रिकाएँ बिकनी चाहिए बस।” आयुष्मान आ चुका था और बेसिन में हाथ धोते हुए किसी बात पर नाराजगी व्यक्त कर रहा था। न जाने किस बात पर।

“क्या हुआ...? बताओ तो सही।” थोड़ी ऊँची आवाज में मैंने आयुष्मान से पूछा।

“ये देखिये परमिन्दर जी।” दो प्याली चाय व एक पत्रिका मेरे सामने टेबल पर रखते हुए आयुष्मान ने कहा।

“क्या है इसमें...?” पत्रिका उठाते हुए मैंने कहा।

“देखिये परमिन्दर जी। इस पत्रिका में हमारे बारे

में क्या लिखा है?” आयुष्मान ने कहा।

मैं पत्रिका के पन्ने पलटने लगी। बीच के पृष्ठ पर आकर मेरी दृष्टि ठहर गई। मेरा चित्र के साथ मेरे साहित्य के बारे में तो छपा था ही किंतु उस साक्षात्कार की मुख्य पंक्तियाँ यह थीं कि मेरी रचनाओं के साथ ही साथ मेरे जीवन में भी रंग भरने वाला ख्यातिप्राप्त चित्रकार आयुष्मान है, जो परमिन्दर जी के साथ रहता है।

“तो इसमें गलत क्या है...?” पूरा लेख पढ़े बिना मैंने आयुष्मान से कहा। पत्रिका मेज पर रख दी।

“है परमिन्दर जी, गलत है। मुझसे मिलने से पूर्व ही आप बहुत बड़ी लेखिका थीं। साहित्य के क्षेत्र में एक उच्च स्तर का मुकाम हासिल कर चुकी थीं। मैंने क्या किया...?” आयुष्मान ने पत्रिका पर नाराज होते हुए कहा।

“तुमने मेरे बेरंग जीवन में रंग भरा है, इसमें गलत क्या है?” मेरी बात सुनकर आयुष्मान बस मुस्करा पड़ा। बोला कुछ भी नहीं। आयुष्मान पुनः रसोई में चला गया। कदाचित् भोजन में उसे मेरे लिए कुछ विशेष बनाना था।

मेरी साहित्यिक यात्रा में आयुष्मान का साथ खूबसूरत लम्हों में की भाँति मेरे साथ रहा। मेरी सेवानिवृत्ति के पश्चात् मेरे अकेलेपन को भरने वाला मेरा साहित्य और आयुष्मान ही तो मेरे साथ थे। अब मेरे पास पर्याप्त समय था। मैंने महिलाओं के साथ होने वाले शोषण, उनके अधिकारों के हनन, सामाजिक विषमताओं पर खूब लिखा। इतना ही नहीं प्रेम के रंगों से भी साहित्य को पूर्णता प्रदान की। अब बढ़ती उम्र के साथ अब शारीरिक सक्रियता व साहित्यिक गोष्ठियों में प्रतिभाग कम होता जा रहा था। क्षीण होते जा रहे शारीरिक सौष्ठव, झुर्रीदार चेहरा, सूखती त्वचा, बीमार शरीर व साहित्य की प्रचुर थाती, ये ही तो थे अब मेरे पास।

आयुष्मान ने मेरे खालीपन को भरते हुए सब कुछ

बखूबी सम्हाल लिया। उम्र का प्रभाव मेरे लेखन पर पड़ रहा था। मेरा लेखन कार्य कम होता जा रहा था। यद्यपि आयुष्मान मेरे स्वास्थ्य का भरपूर ख्याल रखता।

जीवन की ढलती साँझ में विगत दिनों की स्मृतियाँ कदाचित् कुछ अधिक ही मुखर हो उठती हैं। अब से कुछ वर्ष पहले जब आयुष्मान मुझसे मिला था। तब वह नवयुवक था और मैं भी चालीस-पैंतालिस वर्ष की महिला थी। उन दिनों उम्र की दूरियाँ हमने कभी अनुभव नहीं की। आयुष्मान अब भी युवा है, और आज मैं ठीक से चल नहीं पा रही हूँ। आज भी मेरे समीप बैठ कर वो पूर्व की ही भाँति मुझे निहारा करता है। न जाने क्या पाता है वो मुझमें या क्या ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है... मैंने कभी उससे पूछा नहीं। कुछ प्रश्न अपने आप से भी मुझे पूछने चाहिए जब... आयुष्मान नहीं आया था मेरे जीवन में। वो समाया था मेरे वजूद में...वो जिसे अब भी मैं एक क्षण को विस्मृत नहीं कर पाती। उसकी स्मृतियाँ...

...ओह... उसकी स्मृतियाँ...? सचमुच ढलती साँझ में विगत स्मृतियाँ कुछ अधिक ही मुखर हो उठती हैं। हाँ... वो एक ख्यातिप्राप्त शायर, कवि, लेखक था। अनेक पहलू थे उसके व्यक्तित्व के। एक सम्पूर्ण व्यक्ति, सम्पूर्ण व्यक्तित्व। मैं उसमें अपना सम्पूर्ण तलाश चुकी थी। किंतु शब्दों की अभिव्यक्ति से कोसों दूर था मेरा उसके साथ लगाव। हृदय की गहराईयों से प्रस्फुटित प्रेम। मैं अपनी भावनायें अभिव्यक्त कर पाती उससे पूर्व ही उसने अपनी भावनायें मेरे समक्ष प्रकट कर दी थीं। उसने कब मुझमें अपना सर्वस्व तलाश लिया था मुझे आभास तक न हुआ। मेरे सपनों को पंख लग गये थे। असमान में उड़ती फिर रही थी, उन दिनों मैं। मेरे साथ उसकी मित्रता के चर्चे प्रबुद्ध वर्ग में ईर्ष्या करते। उसके व्यक्तित्व व गीतों में था ही कुछ ऐसा आकर्षण। उसके लिखे गीत युवाओं में सम्मोहन पैदा करते।

प्रेम व विरह के रंगों से सराबोर उसके गीत में सब भीग जाते। मैंने तो बस अपना वजूद ही उसमें तलाश

लिया था। उसके साथ जीवन व्यतीत करना चाहती थी। अपने रिश्ते को एक सामाजिक नाम देना चाहती थी, विवाह जैसा कुछ। किंतु विवाह की लकीरें तो मेरे हाथों में थीं ही नहीं। माँ ने भी तो मेरा विवाह बिना लकीरों के करा दिया था। धर्म की ऊँची, अभेद्य दीवारें हमारे बीच खड़ी कर दी गयी थीं। जिसे न तो वो तोड़ पाया न मैं। उन ऊँची दीवारों के समक्ष हमारे शब्द कमजोर पड़ गये थे। मेरे पश्चात् ताउम्र वो किसी अन्य से अपनी भावनायें नहीं जोड़ पाया। एक दिन मैंने सुना... संसार की सभी दीवारों को तोड़ता हुआ, सभी बंधनों को यहीं छोड़ता हुआ, किसी अन्य संसार में वो चला गया। मैंने उससे प्रेम किया था...प्रेम...

ढलती साँझ में अब मेरे पास आयुष्मान ही है, जिसे मैं जब चाहूँ तब आवाज दे सकती हूँ। अब तो यदा-कदा ही कोई लेखक मित्र या पत्रकार मुझसे मिलने आते हैं। जब भी वो आते हैं मुझे अपने विगत युवा दिन स्मरण आने लगते हैं। पुराने दिनों की स्मृतियाँ सजीव होने लगती हैं। मैं बस से उतर पड़ती हूँ उन्हीं स्मृतियों के जंगल में। पुरानी बातें हों और आयुष्मान की चर्चा न हो। यह कैसे संभव हो सकता है...आयुष्मान मेरा वर्तमान है।

“जब भी कोई आपसे मिलने आता है आप मेरी इतनी प्रशंसा क्यों करती हैं?” एक दिन आयुष्मान ने मुझसे कहा था।

“तुम्हें याद है उस दिन एक पत्रकार ने मेरे जीवन की कुछ उपलब्धियों के बारे में पूछा था।” मैंने आयुष्मान से कहा था।

“हाँ...हाँ...याद है।”

“तुम भी तो मेरे जीवन की कुछ अच्छी उपलब्धियों में से एक हो।” मेरी बात सुनकर आयुष्मान के चेहरे पर मुस्कुराहट फैल गयी थी।

“पम्मी जी, वह साक्षात्कार पूरा पढ़िये। देखिये क्या छपा है...?” आयुष्मान ने रसोई में से ही मुझसे कहा।

“तुमने पढ़ लिया हो तो तुम्हीं बताओ।” सचमुच मैं पूरा साक्षात्कार आयुष्मान से सुनना चाहती थी।

“नहीं, मैंने पूरा नहीं पढ़ा। मैं बस मुख्य बिंदु पढ़ पाया। पहले आप पढ़ लेंगी तब पढ़ूँगा।” आयुष्मान ने कहा।

आयुष्मान ऐसा ही करता है। कोई भी काम मुझसे पूछे बिना नहीं करता। चाहे मेरी रचनायें पढ़ने का हो या मेरे साक्षात्कार पढ़ने का। पत्रिका उठा कर अपने साक्षात्कार को मैं धीरे-धीरे पढ़ने लगी। मैं धीरे-धीरे साक्षात्कार के एक-एक हर्फ को पढ़ रही थी। जो इस प्रकार था-

“परमिन्दर के जीवन का एक पहलू यह भी है उन्होंने आयुष्मान जैसे प्रतिभाशाली युवक को अपने सौन्दर्य के मोहपाश में बाँध कर रखा है। वह उनके मोहपाश से निकलना चाहता है, किंतु निकल नहीं पाता। परमिन्दर जैसी लेखिका जो आदर्श और सच्चे

प्रेम की बातें बड़ी साफगोई से लिखती हैं, किंतु सच्चाई यह है कि उन्होंने अपने अकेलेपन और वृद्धावस्था में सहारे के लिए एक युवक को प्रेम के मायाजाल में फँसा रखा है।...” मैं पढ़ती जा रही थी और मेरा दिल डूबता जा रहा था। घबराकर मैंने पत्रिका स्टूल पर रख दिया और बालकनी से बाहर आकाश की ओर देखने लगी। नीले आसमान में उन्मुक्त उड़ते चहकते पक्षियों के झुण्ड को देखकर मन को थोड़ा-सा सुकून मिला।

“चाय पी लीजिए पम्मी जी, ठंडी हो रही है।” आयुष्मान के स्वर सुनकर मैं अपनी दुनिया में वापस आ गयी।

“लीजिए पम्मी जी।” वह चाय का प्याला लेकर मेरे सामने खड़ा था। मेरे हाथ काँप रहे थे। काँपते हाथों से मैंने प्याले को पकड़ लिया। अब आयुष्मान ने पढ़ने के लिए पत्रिका स्टूल पर से उठा ली थी। मेरी दृष्टि चाय के प्याले पर झुकी थी।

नीरजालय', 510/75, न्यू हैदराबाद, लखनऊ-07 उ. प्र., मो. 9450362276

## स्वप्नहंता

हरभजन सिंह मेहरोत्रा

धूप तेज थी। बच्चे के लिए तो बिल्कुल असहनीय। सुमिता ने उसे चारों ओर से अंगोछे से ढक रखा था। लेकिन बच्चे की अकुलाहट से साफ जाहिर हो रहा था कि वह बेहद बेचैन है। हालांकि सुमिता की सारी एकाग्रता बच्चे पर ही थी। वह कभी अपने आंचल से उसे हवा देने लगती तो कभी पानी से भरी बोतल में लगा निप्पल उसके मुंह में टूंग देती।

मेरा सारा ध्यान आटो की खोज में गर्क हुआ पड़ा था। बावजूद निगाहें कभी बच्चे तो कभी सुमिता की ओर चली जाती। जब-जब ऐसा होता मन में जमा विषाद और गहरा हो जाता। ऐसा नहीं था कि मैं भूल रहा था, सब कुछ। हाँ भूलने की कोशिशें जरूर हुई थीं जो नाकाम रही थी। आखिर उस घटना का एक पात्र मेरे सामने ही तो मौजूद था। सुमिता जिसका मैं चश्मदीद बना कटधरे में खड़ा था। न जाने क्यों मुझे इस बात पर मलाल भी हुआ। क्या मैं इसी काबिल हूँ। नहीं मुझे तो न्याय करने वाली कुर्सी पर होना चाहिए था और संबंधित घटना के दोनों चरित्रों को एक दूसरे का गवाह। तब कहीं जाकर फैसला हो पाता।

मुझे यहां तक चले आना कचोट गया। लेकिन मेरी भी मजबूरी थी। जल्द ही मेरे अन्तःकरण ने मुझे आश्वस्त करना चाहा। बात सही थी सुमिता को अकेले जाने देना मुझे गवारा नहीं था। हालांकि वह ऐसा नहीं चाहती थी कि मैं उसके साथ चलूँ। मुझसे कैसा बैर। घटना के परिप्रेक्ष्य में तो वे दोनों थे। मेरा प्रयास तो एकांश और सुमिता के बीच बने फासले को मिटा देने तक ही सीमित था। लेकिन दूरियां बढ़ीं तो बढ़ती ही चली गई।

बच्चा रो रहा था। किसी का ध्यान उस पर नहीं जा रहा था। मैं चुपचाप उसे उठाकर बाहर चला आया था।

यह कोई नई बात नहीं थी। न सिर्फ मेरे लिए बल्कि उन दोनों के लिए। लेकिन आज उस घटना की इति थी। किन्हीं अवसरों पर सुमिता बड़बड़ाती जरूर दिखी थी कि वह अब यहां नहीं रह सकती पर ऐसा हुआ नहीं जो घर छोड़ कर चली गई हो।

लौटा था, तो गैर मौजूदगी भरा-सन्नाटा सहमे-सहमे कदमों से घर के अन्दर चहल-कदमी करता दिखा था। सुमिता ने अटैचियाँ तैयार कर लीं थी और वह चल पड़ने को पूरी तरह उद्धत थी। मुझे दाखिल होते देख, छूटते ही उसने कहा था, “पापा जी मैं जा रही हूँ... यहाँ से, इस घर से...।” अन्तिम शब्दों तक आते-आते सुमिता की आवाज में कंपन आ गया था। मैं तरल हुआ उसके पास चला गया था, “नहीं बेटा ऐसे थोड़ी न कोई अपना बसा-बसाया घर छोड़ देता है... यह तो तुम्हारा घर है। भला कोई अपनी जगह छोड़ कर जाता है।”



“नहीं पापा जीSS...।” उसने मेरी बात काट दी थी। मैंने बहुतेरा समझाया था। इस तरह से अलग हो जाने पर उन दोनों के रिश्तों में पड़ने वाले दुष्प्रभाव से भी अवगत कराया था। लेकिन वह तटस्थ बनी रही थी। बल्कि रिश्तों के बिगड़ जाने की बात से यहां तक बोल गई थी, “अब बचा ही क्या है जिसे सहेजूं बहुत सहा है पापा जी... अब नहीं झेल सकती। हाथ उठाने में कभी गुरेज किया नहीं। लेकिन आज तो...।” साड़ी का पल्लू परे सरकाते उसने अपने आपको मेरे आगे कर दिया। पट्टी बंधे देख मैं अवाक रह गया। वह तो आगे नहीं बोल पायी लेकिन एकांश की दरिन्दगी मेरे सामने आ गई।

मैं निढाल हो पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गया था। न बैठता तो लड़खड़ा अवश्य जाता। कुल मिलाकर मैंने अपने आपको बेहद कमजोर पाया। एकांश को कुछ कह न सकने की हिम्मत मुट्ठी से सरकती रेत मानिन्द हो आयी, सुमिता का चले जाना ही बेहतर होगा। बस इतना ही सोच पाया। उसकी हिचकियाँ बंध गई थी। मैंने उसे चुप कराना चाहा पर आश्चर्य मेरे शब्द गूँगे हो गये थे। हालांकि मैं नहीं चाहता था वह जाये। क्योंकि वह अगर घर छोड़ कर गई तो लौटना उसका नामुमकिन होगा।

परिस्थितियों के मद्देनजर मैंने बामुश्किल अपने आपको समेटा। यह जरूरी भी था। मेरे सामने घर को बचाना प्राथमिकता में था। मैंने अपनी दलीले उसके सामने रखी थी। लेकिन सुमिता का रवैया अपनी जगह कायम था। वह गलत नहीं थी। चुप हो जाने के अलावा मेरे पास कोई रास्ता नहीं था।

मुझे काफी मशक्कत करनी पड़ी, आखिरी बार एकांश और उसमें कब खुशगवार माहौल दिखा था। जरूर अभिजीत का होना कोई दुर्घटना का सबब रहा होगा। मुझे पत्नी की याद आयी थी। अगर वह होती तो ऐसी स्थिति न आने देती। आशा बड़ी सयानी थी। मामले को सुलटा लेती थी। उसके न रहने से समस्याएं

बढ़ गई हैं।

बहरहाल मैंने सुमिता को रात को न जाने के लिए कहा था। मन में यह भी था कि हो सकता है सुबह तक उसके अन्दर की गर्मी ठण्डी पड़ जाये। वास्तव में सुमिता के ऐसे तेवर मैंने पहले कभी नहीं देखे थे। उसने मेरे सामने ही एकांश को कोर्ट-कचहरी की धमकी दे डाली थी। मेरा भी ख्याल नहीं किया था उसने। सर्दियों-सी शीत लहर मेरे जिस्म में उतर, रीढ़ में जा समायी थी। आखिर इस शादी का फैसला तो दोनों का ही था। सुमिता ने तो अपने घर में बिना बताये भागकर इस काम को अंजाम दिया था। हां एकांश ने जरूर शादी के एक दिन पहले हम लोगों को फोन पर इत्तला दी थी। आशा ने बहुत समझाया था। समाज की ऊंच-नीच बतायी थी। अपने कोख जाई एकांश के बारे में, उसके स्वाभाव के बारे में सब कुछ बताया था। यहां तक कहने से नहीं चूकी थी कि, “एकांश तो लड़कियों से फ्लर्ट करता है...।” लेकिन सुमिता ने सब एक कान से सुन दूसरे से निकाल दिया था। बाद में आशा ने मुझसे कहा था, “इश्क का भूत दोनों में सवार है... जब तक उतरेगा नहीं... यह पागलपन नहीं धमेगा।”

मुझे इस बात का डर था कहीं लड़की वालों ने कोई बड़ा कदम उठा लिया तो बाहर हमारी अच्छी-खासी फजीहत हो जायेगी। कोई पता नहीं साहबजादे कहीं बड़े घर की हवा न खा लें।

वैसे सुमिता के माँ-बाप ने उसे आज तक माफ नहीं किया है। इतना फर्क जरूर आया कि अभिजीत के होने के बाद जो अबोल उनकी तरफ से पसरा हुआ था, चुप्पी भर ही टूट पाया था। एक बार भी नहीं कहा था कि आकर मिल जाओ।

यहाँ तक कि बच्चे की पहली वर्षगांठ जब मनायी गई थी तो आशा ने सुमिता की माँ को फोन करके कार्यक्रम में आने का निमन्त्रण दिया था। उसके पापा से स्वयं मैंने बात की थी। लेकिन उनका रवैया अपनी बेटी के लिए जस का तस अड़ियल ही बना रहा था।

रक्षा बन्धन में सुमिता ने घर आने की बात की थी तो उसके पापा ने स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया था। उस दिन काफी देर तक सुमिता रोती रही थी। आशा ने ही सहेजा था, उसे अपनी रिश्तेदारी में पड़ने वाले लड़कों को सुमिता से राखी बंधवा दी थी। मुझे आशा की कमी ने फिर से उद्बलित कर दिया। घर गृहस्थी के टण्टे जितनी बाखूबी से औरत निभा ले जाती हैं; पुरुष वहां तक पहुंच ही नहीं पाता।

“पापा-जी आप कहीं छायें में जाकर बैठ जायें!”

“कोई बात नहीं...! तुम रुको, मैं थोड़ा आगे से ऑटो ढूँढ़ कर लाता हूँ।”

उससे अलग होते ही दिमाग में एक टीस सी उठी और सिर में जाकर छितरा गई। बालों को पकड़ कर खींचा जैसे गुच्छम-गुच्छा हो गई शिरायें तरतीब में आ जायें। नसों का अकड़ापन तो नहीं गया अलबत्ता बालों के खिंचाव से सिर में सूईयाँ चुभने लगी। इसी बीच सामने से आता एक ऑटो रिक्शा मेरे बगल से निकल गया। लेकिन सुमिता का ध्यान उस पर पूरी तरह से लगा हुआ था। उसने हाथ के इशारे से उसे रुकने के लिये कहा। ऑटो वाला ठीक उसके पास जाकर खड़ा हो गया। बिखरे बालों को हाथ से संवारते, मैं वापिस हो लिया।

ऑटो वाले से गंतव्य तक जाने के लिये किराया तय हो गया था। तभी सुमिता मेरी ओर देखते हुए छोटी अटैची उठा कर आटो रिक्शा में रखने लगी थी तब तक मैं भी नजदीक आ गया था। बड़ा बैग उठाकर सीट के पीछे रखते हुए जब मैं, दूसरी ओर से जाकर ऑटो में बैठने लगा तो सुमिता ने मुझे टोक दिया,

“पापा जी... मैं यहाँ से चली जाऊँगी।”

“नहीं बेटा...!” मैंने प्रतिवाद किया, “मेरा चलना जरूरी है।”

लेकिन उसने दलील देते हुए कहा, “पापा जी मैं नहीं चाहती आप मेरे पेरेण्ट्स को फेस करें वैसे भी मैं..बिना खबर दिये घर जा रही हूँ। समझ तो जायेंगे

इतना सामान देखकर मेरे आने का कारण। ऐसे में... आपको कुछ उल्टा-सीधा बोला दिया तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा।”

मायूस-सा हुआ, अपने बढ़ाये कदम मैंने वापिस खींचे। सुमिता मुझे गलत नहीं लगी। न जाने सुमिता से किस तरह पेश आएँ उसके माँ-पापा। मैंने अपना डर जताते हुए उससे कहा था कि अगर वे उसके साथ सही बर्ताव नहीं करते तो वह वापिस स्टेशन आ जाये वैसे भी बस दो घण्टे बाद ही मिलने वाली थी।

उसने हल्के से गर्दन हिला दी थी। आश्वस्त तो नहीं हो पाया था। न जाने ऐसी स्थिति में कहां निकल जाये। यह वज्रह थी जो मुझे उसके साथ रहने के लिये बाध्य कर रही थी। स्टेशन तक छोड़ देने का क्या औचित्य।

गुस्से में एकांश ने भी सख्त बोल कह दिये थे, “वापिस आने की जरूरत नहीं... रास्ते में गंगा पड़ती है वहीं डूब मरना। मुझे न तो तुम्हारी जरूरत है न बच्चा चाहिए।”

मैं अपाद मस्तक काँप गया था। अभिजीत वंश-वारिस है। यह बात एकांश अभी सोच नहीं पा रहा। कुछ बुरा घट गया तभी उल्लू के पट्टे का दिमाग ठिकाने आयेगा। आशा होती तो बात इतनी बढ़ने ही न देती। एकांश को बहुत अच्छे से जानती बूझती थी। उसकी बेजा हरकतों और सुमिता को दुत्कारते रहने पर वह उसकी खूब अवे-तवे करती। कु-बोल भी बोल देती बाद में भगवान जी की फोटो के आगे माफी माँगती, मिन्नते करती। आखिर माँ थी। उसका पेट जाई था एकांश।

मैं आशा की मनोस्थिति समझता था। लेकिन एकांश के सामने निरुपाय ही पाता अपने-आपको। आश्रित जो ठहरा उसके। ठीक है सेवामुक्त होने पर एक मुश्त मिली रकम विकल्प जरूर है लेकिन उम्र की नज़ाकत और समय की माँग यह गँवारा नहीं करती जो अलग होकर रह सकें हम लोग। अब तो खैर आशा भी

नहीं रही।

मन में ख्याल आया फिर से एक नई गृहस्थी जमा ली जाये। भाड़ में जाये एकांश और उसकी बीवी। कोई बेवा तो मिल ही जायेगी। नहीं तो आज की संस्कृति के चलते लीव इन रिलेशनशिप में कोई न कोई टकरा जायेगी। अनायास हँसी तिर आयी होंठों पर।

वैसे ख्याल बुरा नहीं है। सोचते हुए पत्थर की बनी बेंच में जाकर टिका दिया अपने-आपको, दीर्घनिश्वास लिया और बेंच की पुश्त से सिर टिका कर आँखें मूँद ली।

आँटों में बैठने से पहले बहू ने पैर छुए थे और समय से अपनी दवाईयाँ लेने की ताकीद भी की थी। मैंने भी मुस्कुराने की जबरन कोशिश में मुण्डी हिला दी थी। आँटों सर्र से आगे सरक गया था।

कदाचित् मेरी आँखों के सामने सुबह का दृश्य गुजर गया था। जब मैं उठा था तो सुमिता मुझे घर की साफ-सफाई करते दिखी थी थोड़ा ढ़ाँढ़स बँधा था। फिर उसने नाश्ता तैयार किया था और एकांश के टिफिन के लिये एक सूखी सब्जी बनाकर चपातियाँ तैयार कर दी थी। लगा था अब सुमिता कहीं नहीं जायेगी। बस नहा धोकर सीधे अपने ऑफिस का ही रुख करेगी। जब शाम को लौटेगी तो बन्द पड़ी अटैचियों से कपड़े-लत्ते निकाल अलमारियों में रख देगी।

चलो एक दुःख भरी क्लेशी रात के गुजर जाने के बाद सुखान्त भरा सवेरा अपनी बाँहें फैलाये झूमता गाता नजर आया था।

यह मेरे लिये संतोष की बात थी और मैं बिना किसी तनाव के खुश मग्न हुआ नाश्ता करने लगा था लेकिन बहुत जल्द ही मेरी गफलत मेरा हाथ छुड़ाकर, चिढ़ाते हुए दूर भाग गई थी। जब सुमिता ने मेरे पास आकर कहा था, 'पापा जी, मैं जा रही हूँ।' मुझे हैरान और सन्न रह जाने की स्थिति तक पहुँचने का मौका भी नहीं दिया था, सुमिता ने। उसकी गोद में नन्हा

इठलाने लगा था। इस समय अक्सर वह मेरे पास ही होता है।

मैंने सुमिता को समझाना चाहा था पर व्यर्थ। उसने अपना जाना तय कर लिया कि सुर के सामने किसी की न सुनने की जैसे कसम खा ली थी। मैंने चुपचाप दोनों अटैचियाँ थाम ली थी, 'अब कुछ नहीं हो सकता।' सोचते हुए बाहर आ गया था।

वैसे भी अब अपने-आपसे ही बातें करते समय गुजारना है। बच्चा था, तो सारा दिन उसी में लगे पता ही नहीं चलता था... कब दिन ढल गया। बेटे-बहू दोनों के आफिस चले जाने के बाद बच्चे का सारा काम मैं ही देखता था। दूध देना, पानी देना। डाइपर बदलना। उसके साथ खेलना। उसकी चेष्टाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते उससे बतियाना या बाहर अमराई की छईया में टहलना। व्यस्त करके रखा था, अभि ने। अब तो पल-पल भारी जान पड़ेगा। भाँये-भाँये करता घर भी बच्चे-बहू की अनुपस्थिति में गुहार लगाता फिरेगा।

कोई काम वाली ढूँढ़नी पड़ेगी जो घर का सारा काम निपटाये। मुझे एकांश के वेतन का ख्याल हो आया। पहले तो बहू की तनख्वाह भी घर के खर्च में लगती थी। अब अकेले एकांश के वेतन से घर का खर्चा नहीं चल सकेगा। जाहिर है अब मेरी जमा पूंजी में सेंधकारी होगी। मेरे अन्दर क्लेश आ गया। औलाद सही होती तो आज यह दिन न देखने को मिलता। वैसे भी जब देखो नौकरी छोड़कर बैठा रहता है। सोचता होगा बाप जिस धन पर सर्प बना कुण्डली मार कर बैठा है वो किस दिन काम आयेगा। जबकि इसे पोते के भविष्य के वास्ते संजो कर रखा था। हाँ मेरे न रहने पर एकांश इस धन का उपयोग कैसे करता यह तो वही समझे। जहाँ आँखे मूंदी नहीं कि सभी चिन्ताओं से मुक्त हो गये। यह बात और है कि जब तक हैं सोचना तो लाजमी है।

इसी बीच लगा कोई मेरे पास आया है, 'बहू' फट से आँखें खोली। एक आदमी बेंच के कोने में बैठता

दिखा। दीर्घ उच्छ्वास छोड़ते ध्यान फिर से सुमिता की ओर चला गया।

‘हो सकता है सुमिता वापिस आ जाये।’ शायद उसके माँ-बाप की नाराजगी उसकी मौजूदगी को न सहन कर पाये। कहीं कोई अनहोनी न घट जाये। विचार थे जो थमने का नाम ही नहीं ले रहे थे।

“क्या पता अपने नाती को देखकर उन लोगों का मन बदल जाये। मुझे यह ख्याल ज्यादा पुख्ता लगा। मैं मायूस हो गया। लेकिन यह सोच कर जरूर तसल्ली हुई माँ-बेटा सुरक्षित तो रहेंगे।

अन्यमनस्क सी नजरें पास ही खड़े एक ठेले पर चली गई। ठेले वाला चाय छान रहा था। चाय की भीनी-भीनी उठ रही महक से चाय पीने को मन कर आया। उठा और चाय का गिलास हाथ में थामे, मैं फिर बेंच में आकर बैठ गया। ‘गर्मी को गर्मी काटे।’ सोचते हुए चाय का घूंट अन्दर किया। तीखे मीठे से लगा चाय नहीं शीरा उड़ेल लिया हो मुंह में। लेकिन इलाईची की खुशबू से मिठास का अवगुण छिप गया। इधर-उधर देखने लगा। एक बस आकर रुकी थी। सवारियों का रेला बस से यूँ बाहर निकला जैसे कोई ठेल रहा हो, उन्हें। पिछली सीट पर बैठी कोई नवविवाहिता खिड़की के बाहर मुंह करके कै कर रही थी। जल्दी से उसकी तरफ से नजरें हटाई। लेकिन आंखों ने जो नजारा देख लिया था, वह स्थाई भाव से मस्तिष्क में जाकर बैठ गया था। चाय फेंक देने का मन हुआ। उतर रहे यात्रियों की ओर निगाहें फिर से जा टिकीं। छत से सामान उतारते उनकी आवाजों का कोलाहल हवा में थिरक रहा था। बस में चढ़ने के लिए लोगों की लाइन भी लग गई थी। उनके चेहरों पर उतर रहे यात्रियों को

ठेल कर चढ़ने की आतुरता स्पष्ट दीख रही थी। यह तो बस का कंडक्टर था जो किनारे की तरफ से दरवाजा छैंक कर खड़ा था।

घूंट-घूंट चाय अन्दर करते मेरी निगाहें फिर से पीछे की तरफ उलटी कर रही युवती की तरफ चली गई। वह, वहां से गायब हो चुकी थी। थोड़ा इत्मीनान मिला और गिलास चाय वाले को वापिस देकर जैसे ही मुड़ा। फोन की घंटी टुनटुनाने लगी। पतलून की जेब में पड़े मोबाईल को निकालने के लिये मुझे थोड़ी मेहनत करनी पड़ी। पिछले बरस ही सुमिता ने बड़ा-सा फोन मेरे जन्मदिन पर उपहार स्वरूप दिया था। याद मात्र से अन्दर टीस-सी उठी। ज्यादा नहीं सोच पाया। सारी तवज्जों फोन पर जो लगी थी। किसका हो सकता है फोन। कहीं एकांश ने ही हालात की जानकारी लेने के उद्देश्य से फोन कर दिया हो! बहू घर छोड़कर चली गई है। शायद यह खबर उसे आहत करे। फोन के डिसप्ले पर सुमिता का नाम चमक रहा था। एकाएक लगा जैसे लू भरी दोपहरिया में अचानक बारिश की फुहार ने तन-मन अन्दर तक ठण्डा कर दिया हो।

मैंने ‘हैलो’ कहा तो उधर से उसकी आवाज कानों में गूंजी, “पापा जी कहाँ है...।” “आखिर लौट आयी।” मुझे लगा अभी तो वह घर तक भी नहीं पहुंची होगी। बेताबी भरी बेसब्री से मैंने कहा, “यही अन्दर बैठा हूँ...।”

“मैं घर की चाबी अपने साथ ले आयी थी...जरा आकर ले लीजिए... प्लीज।” लगा छाती में किसी ने धौल जमा दी हो। मेरा अन्दाज़ा कभी ठीक जगह लगा भी है तो आज सही साबित होता। बेचारगी से कदम उठाते मैं बाहर की ओर चल पड़ा।

390/3, शास्त्री नगर, कानपुर-208005,

मो. नं. - 9839101647, ईमेल :-harbhajankp@yahoo.com

## कथनी और करनी

डॉ. पंकज साहा

महाकवि तुलसीदास महान युगद्रष्टा थे। अपने समय के समाज का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया था। निश्चित रूप से उनका पाला समाज के भाँति-भाँति के लोगों से पड़ा था। तभी तो उन्होंने लिखा है—‘तुलसी इस संसार में भाँति-भाँति के लोग....।’

मेरा पाला भी समाज के ऐसे-ऐसे लोगों से पड़ चुका है, जिनकी कथनी और करनी में भारी अंतर है। मेरे एक मित्र को परामर्श देने की आदत है।

एक बार मुझे जुकाम हो गया। उसने कांता सम्मित उपदेश दिया, ‘होम्योपैथिक ट्रीटमेंट कराओ। रोग एकदम जड़ से खत्म हो जायेगा। आयुर्वेद में भी जा सकते हो, परंतु खबरदार! भूलकर भी ऐलोपैथ की ओर मत जाना। ऐलोपैथिक दवा रोग को दबा देती है, खत्म नहीं करती, फलस्वरूप रोग फिर वापस आ जाता है।’

मैंने मित्रता का मान रखा और होम्योपैथी की दवा ले आया। दवा लेने के बाद जुकाम और बढ़ गया। तुरंत उस चिकित्सक से मिला। उन्होंने कहा, ‘होम्योपैथिक दवा की यह तासीर है कि यह पहले रोग को थोड़ा बढ़ाती है, फिर अपना काम करती है।’

होम्योपैथी पर मुझे पूरा विश्वास है, परंतु मुझे एक बारात में जाना था, सो धैर्य-धारण न कर सका और एक ऐलोपैथिक डाक्टर की शरण में जाकर तत्काल जुकाम से निस्तार पाया।

कुछ दिनों बाद वह मित्र मेरे घर आया। हाल-चाल लेने के बाद बोला, ‘तुमने जुकाम की जो ऐलोपैथ वाली दवा ली थी, जरा उसकी पर्ची देना।’

मैंने पूछा, ‘तुम्हें उसका क्या काम?’

वह बोला, ‘मेरी पत्नी को जुकाम हो गया है। होम्योपैथी की दवा बहुत समय लेती है।’

मैंने कहा, ‘डाक्टर दिखा लो।’

वह बोला, ‘खामखाह भारी फीस देनी पड़ जायेगी।’

मेरे एक अन्य मित्र को प्राइवेट प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टरों से भारी चिढ़ है। ऐसे डॉक्टरों को वह समाज का लुटेरा कहता है। उसका वश चले तो वह उनकी निजी दुकानों में सर्वदा के लिए ताला लगवा दे, उन डॉक्टरों को जेल भेजवा दे। एकदिन उसका फोन आया, ‘डॉ. सेन के असिस्टेंट से तुम्हारी जान-पहचान है न?’

मैंने कहा, ‘है तो, पर बात क्या है?’

‘अरे क्या बतायें, मेरी पत्नी को कई दिनों से बुखार आ रहा है। सरकारी अस्पताल

में इलाज करवा रहा हूँ। आज सात दिन हो गये।  
बुखार उतर नहीं रहा है।’

डॉ. सेन नामी जेनरल फिजिशियन हैं। उनकी  
क्लिनिक में बड़ी भीड़ होती है। रोगी भोर से ही नंबर  
लगाने आ जाते हैं। कभी-कभी तो दो-तीन दिन बाद  
का नंबर मिलता है। मैंने कहा, ‘उनकी तो फीस बहुत  
अधिक है और तुम तो प्राइवेट प्रैक्टिस करने वाले  
डॉक्टरों के विरोधी हो न?’

उसने कहा, ‘विरोध जारी रहेगा, लेकिन पहले मुझे  
परिवार-धर्म का पालन करना है। उस डॉक्टर के  
असिस्टेंट से कहकर आज ही नंबर लगवा दो न।  
तुम्हारा बहुत अहसान मानूँगा।’

मेरा एक मित्र हिंदी का बहुत बड़ा हिमायती है।  
उसका हिंदी-प्रेम आपादमस्तक टपकता है। एक बार  
हिंदी-दिवस के अवसर पर उसने बड़ा ओजस्वी भाषण

दिया। उसकी एक बात की लोगों ने बड़ी तारीफ की,  
वह थी-‘अगर हम सचमुच हिंदी का कल्याण करना  
चाहते हैं, तो हमें संकल्प लेना चाहिए कि हम अपने  
बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में नहीं पढ़ायेंगे।’

कुछ दिनों के बाद मैंने उसे शहर के एक प्रसिद्ध  
कान्वेंट स्कूल के गेट से बाहर निकलकर अपनी  
मोटरसाइकिल पर सवार होते हुए देखा, तो पूछ लिया,  
‘यहाँ कैसे?’

वह बोला, ‘छोटी का नर्सरी में एडमिशन करवाना  
था।’ मैंने पूछा, ‘हुआ एडमिशन?’

वह बोला, ‘हाँ हुआ, पर पचास हजार रुपये  
डोनेशन देना पड़ा।’

मैंने पूछना चाहा-हिंदी का कल्याण अब कैसे होगा?  
लेकिन वह मोटरसाइकिल स्टार्ट कर आगे बढ़ चुका  
था।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज,  
खड़गपुर-721305(प. बंगाल), मोबाइल नं. 9434894190

### सूचनार्थः

‘शोधार्थी की कलम से’ स्तंभ के अंतर्गत शोध पत्र प्रकाशित करवाने के लिए  
अपने निदेशक द्वारा जारी प्रणाम-पत्र भी संलग्न करें।

## राम प्रवेश रजक

### अंग्रेजी का प्रभाव

ट्रेन के सफर में मुखर्जी परिवार अपने बीबी-बच्चों के साथ गर्मी की छुट्टियों में कश्मीर जा रहे थे। मुखर्जी परिवार कोई बहुत बड़ा रईस परिवार भी नहीं था। स्लीपर क्लास में ही रिजर्वेशन था। अगले बर्थ पर उनसे भी साधारण परिवार के यात्री की सीट थी। उनका स्वभाव और बातें देख सुन कर थोड़ा गंवईपन झलक रहा था। मुखर्जी साहब उन्हें हीन भाव से हर बार ऊपर से नीचे देखते। चूँकि यात्रा लंबी थी, चुप भी नहीं रहा जा सकता था। बात करना अनिवार्य हो गया। मुखर्जी साहब ने उनसे पूछा-आप क्या करते हैं? अगले ने जवाब दिया, मैं प्राथमिक विद्यालय में हिंदी का शिक्षक हूँ। मुखर्जी साहब ने अच्छा कहके मुँह घुमा लिया। यह जान कि वह हिंदी के शिक्षक हैं बात-बात में अंग्रेजी का प्रयोग और ज्यादा करने लगे। शिक्षक के पूछने पर, कि आप क्या करते हैं तो उन्होंने जवाब दिया मैं रिटायर्ड सब-इंस्पेक्टर हूँ। देश-सेवक, देश-भक्त हूँ। देश सेवा के लिए मुझे मेडल मिला है।

ट्रेन अगले स्टेशन पर रुकी। डेली पैसेन्जर यात्रियों की भीड़ जमा हो गई। जो भी आता, मुखर्जी साहब से बैठने के लिए थोड़ी जगह माँगता, वह पैर फैलाकर बैठ जाते। कहते पैर में दर्द है, बैठने में असुविधा हो रही है। यहाँ तक कि एक वृद्ध महिला को भी बैठने नहीं दिया। तभी एक यात्री अच्छे लिबास में सूट-बूट, टाई लगाये हुये आया और मुखर्जी साहब से कहा, अंकल 'में आई सीट हियर' साइड प्लीज। मुखर्जी साहब उसकी अंग्रेजी से प्रभावित होकर उसे बैठने की जगह दे दी। शिक्षक यात्री ने जवाब दिया- जो आदमी अपनी 'राष्ट्रभाषा' का सम्मान नहीं कर सकता वह देश की क्या सेवा करता होगा? शिक्षक की बात सुनकर मुखर्जी साहब को कुछ बोलते न बना।

### खुमारी

आदिल, प्रशांत, विक्रांत और गगन चारों की नई नौकरी लगी थी। चारों लंबे समय के बाद एकत्रित हुए थे। साल भर गुजरने पर भी उनमें नौकरी की खुमारी उतरी नहीं थी। उनके पहनावे और फैशन को देखकर लगता नहीं था कि उनके अंदर पैसे बचत करने की कोई गुंजाइश है।

बेफिक्र होकर चारों इधर-उधर घुमते। कल की कोई चिंता न करते हुए आज में ही जी रहे थे। चारों एक दिन एक 'बार' से बाहर निकले नशे में धुत चारों को अपने शरीर की सुध नहीं थी। 'बार' के बाहर कुछ दूरी पर एक भिखारी था। उसे चारों से भीख मांगी। चारों को शराब के साथ-साथ पैसे का नशा तो था ही। उन्होंने भिखारी के साथ गलत व्यवहार करना शुरू कर दिया। आदिल, प्रशांत, विक्रांत और गगन ने भिखारी का कॉलर पकड़ लिया और बोला- तुमने जीवन भर क्या किया? क्यों नहीं नौकरी की? क्यों नहीं पढ़ाई की? भीख मांगता है...सा...। भिखारी ने कहा- मैंने पढ़ाई भी की, नौकरी भी की और जो कर रहे हैं वो भी किया। इसलिए आज मेरा यह हाल है।

सहायक प्राध्यापक, कलकत्ता विश्वविद्यालय

87/1, आशुतोष बिल्डिंग, कॉलेज स्ट्रीट, कोलकाता-700073



## प्रवासी कवि पद्मेश गुप्त से एक मुलाकात

पूनम सिन्हा

“हिंदी भारत की भाषा है लेकिन केवल भारत की नहीं, पिछले कुछ समय से वह दुनिया के अलग-अलग क्षेत्रों में फैलती गयी है और यह विस्तार आज भी जारी है। लंदन में हिंदीवासी बड़ी संख्या में हैं और हिंदी बोलते भी हैं। यद्यपि अंग्रेजी का वर्चस्व थोड़ा बढ़ा है पर पिछले अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि कुछ क्षेत्रों में खासतौर से यू.के. हिंदी समिति व वातायन के प्रयास से हिंदी न सिर्फ बढ़ी है बल्कि अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनी है। गोष्ठियाँ होती हैं, पत्रिकाएँ निकलती हैं और ये सब कुछ जिस एक व्यक्ति का प्रयास है उसे मैं सीधे-सीधे उसके नाम से याद करूँगा ‘श्री पद्मेश गुप्त’।” (केदारनाथ सिंह, डॉ. पद्मेश गुप्त के कविता - संग्रह, ‘प्रवासी पुत्र’ के ब्लर्ब से)

पद्मेश गुप्त 2007 से ऑक्सफोर्ड में ऑक्सफोर्ड कॉलेज के निदेशक के रूप में कार्यरत हैं। अब तक पद्मेश के तीन काव्य-संग्रह ‘आति’, ‘सागर का पंक्षी’ एवं ‘प्रवासी पुत्र’ तथा यू.के. हिंदी कवियों का संग्रह ‘दूर बाग में सोंधी मिट्टी’ प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी कविताओं को पढ़ते हुए तीन दशक से अधिक के ब्रिटेन में हिंदी साहित्य के परिदृश्य को समझा जा सकता है। ‘उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को जानना प्रवासी साहित्य और आंदोलन की मूल प्रेरणाओं को आत्मसात करना और उसके मर्म को समझना है।’ 1990 के दशक से हिंदी के जिन नये रचनाकारों की पहचान ब्रिटेन में बनी उन्हें मंच देने, पत्रिका देने, प्रोत्साहन एवं परिवेश देने का काम पद्मेश गुप्त ने किया है। पद्मेश गुप्त ने यू.के. में हिंदी की एकमात्र साहित्यिक पत्रिका ‘पुरवाई’ का अठारह वर्षों तक संपादन एवं प्रकाशन किया तथा ‘प्रवासी टुडे’ पत्रिका का आठ वर्षों तक संपादन किया। इन्होंने लंदन में यू.के. की हिंदी समिति की स्थापना 1990 में की। पद्मेश 1993 से 2013 तक प्रतिवर्ष लंदन में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी कवि सम्मेलन का संयोजन करते रहे हैं। 2001 से 2014 तक पूरे ब्रिटेन एवं यूरोप में होने वाली हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता का संयोजन पद्मेश ने सफलतापूर्वक किया है। ये हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू एवं फ्रेंच भाषाओं के जानकार हैं। पद्मेश गुप्त राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक सम्मानों से विभूषित हो चुके हैं। हिंदी के वैश्विक विकास और प्रवासी साहित्य में उनके योगदान को देखते हुए भारत सरकार ने वर्ष 2007 में न्यूयार्क के विश्व हिंदी सम्मेलन में उन्हें विश्व हिंदी सम्मान और वर्ष 2017 में केन्द्रीय हिंदी संस्थान द्वारा उन्हें पद्मभूषण डॉ. मोटूरि सत्यनारायण सम्मान से सम्मानित किया।

‘उनकी कविताओं में प्रवास की पीड़ा है, विस्थापन का दर्द है, रिश्तों की दरकती ज़मीन है, जन्मभूमि के यूरोपियन चित्र और यथार्थ का अन्तर है, कर्मभूमि के संघर्ष हैं, विडम्बनाएँ हैं, दोनों से न्याय करने की ज़िद है। पद्मेश गुप्त से निम्नलिखित साक्षात्कार 21-06-2019 को ऑक्सफोर्ड में उनके द्वारा संचालित ऑक्सफोर्ड बिजनेस कॉलेज में पूनम सिन्हा के द्वारा लिया गया है।

**पूनम सिन्हा** - आप हिंदी के कवि हैं। यू.के. में हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित हैं। साथ ही ऑक्सफोर्ड बिजनेस स्कूल को भी आप सफलतापूर्वक चला रहे हैं। इनमें संतुलन बनाने में आप कठिनाई नहीं महसूस करते हैं?

**पद्मेश गुप्त** - मैंने हिंदी समिति की स्थापना 1950 में पच्चीस वर्ष की उम्र में की। मैं अब बिजनेस

कॉलेज चाहता हूँ। हिंदी-सेवा मेरा पैशन है, बिजनेस कॉलेज चलाना प्रोफेशन। इस प्रोफेशन के माध्यम से भी मैं हिंदी की अहमियत को समझ रहा हूँ। मैं ऑक्सफोर्ड बिजनेस कॉलेज का निदेशक हूँ और अंग्रेजी के अनेक प्रकार के कोर्सेज चला रहा हूँ। और, इसीलिए पूरे अधिकार के साथ कहता हूँ कि हमारे यहाँ ऑक्सफोर्ड में, जहाँ चालीस से अधिक देशों से छात्र सिर्फ अंग्रेजी पढ़ने आते हैं, किसी को अंग्रेजी या फिर इंग्लैंड से कोई प्रेम नहीं है। वे भौतिक प्रगति के लिए, व्यापार करने के लिए, काम करने के लिए अंग्रेजी पढ़ना चाहते हैं। लेकिन दूसरी तरफ आज जो भी व्यक्ति हिंदी पढ़ रहा है, विश्व के किसी कोने में ही क्यों न हो, उसे भारत से प्रेम है, हिंदी में उसे आत्मिक संतोष की प्राप्ति दिखती है, इसलिए वह हिंदी पढ़ रहा है। इस रूप में मुझे हिंदी की संभावना विश्व में अव्वल नजर आती है। मेरा जो कॉलेज है वह व्यापार है, किंतु एकेडमी से जुड़ा है, इसमें रचनात्मकता है। इसमें मेरी, रचनात्मकता मँजती है और इससे जो मैं सीखता हूँ वह हिंदी के लिए उपयोगी है। साथ ही इस व्यवसाय से प्राप्त आर्थिक संसाधनों का उपयोग कर हिंदी-संस्थाएँ, सम्मेलन चलाता हूँ। पिछले साल मैंने हिंदी महोत्सव करवाया जिसमें इस कॉलेज के कारण सहयोग मिला।

**पूनम सिन्हा** - हिंदी भाषा के विकास में अपने सक्रिय योगदान के विषय में बताएँ।

**पद्मेश गुप्त** - मैं लखनऊ के एक साहित्यिक परिवार से हूँ। मैं जब यहाँ आया तो मुझे लगा कि यहाँ हिंदी को लेकर गैप है। इसके लिए कुछ होना चाहिए। फिर इस दिशा में मैंने प्रयास किया। मैंने लंदन में कुछ हिंदी भाषी परिवारों के साथ मिलकर समूह तैयार करना शुरू किया। वह समूह आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा। जो लोग बी.बी.सी. की हिंदी सेवा में थे वे भी हमसे जुड़े। यहाँ लोगों के मन में हिंदी की बढ़ोत्तरी के लिए अकुलाहट थी। 1990 में यू.के. हिंदी समिति की स्थापना के साथ ही मैं लंदन में 'हिंदी' नाम से एक पत्र

निकालने लगा, जो पाँच वर्षों तक प्रकाशित हुआ। आरंभ में इसे भारत से छपवाता फिर अपने कम्प्यूटर पर निकालने लगा। 1997 में मैंने, 'पुरवाई' पत्रिका का प्रकाशन और संपादन शुरू किया जिसे मैंने अठारह वर्षों तक निरंतर प्रकाशित किया। इस पत्रिका के माध्यम से ब्रिटेन, भारत और विश्व के अनेक प्रयत्नशील लेखकों के साथ-साथ स्थापित लेखकों को मंच मिला। 1994 से हिंदी समिति ने ब्रिटेन में अन्तर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन की परंपरा शुरू की। यह परंपरा लंदन और मेनचेस्टर दो महानगरों से प्रारंभ हुई। और अब ब्रिटेन के 13 शहरों में फैल चुकी है। प्रति वर्ष इनके आयोजन हो रहे हैं। 1997 में हमने लंदन में अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया। अब तक हिंदी समिति समय-समय पर पाँच अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन, 1999 में छठा विश्व हिंदी सम्मेलन के सफल आयोजन कर चुकी है। इसके अलावा हम हिंदी की सैकड़ों गोष्ठियाँ और अनेक हिंदी अध्यापकों के अधिवेशन और शिविर भी आयोजित कर चुके हैं। मैं इन सभी आयोजनों का संयोजक रहा। इन सभी आयोजनों से यू.के. में हिंदी का सशक्त वातावरण बना और विश्व में हिंदी के मानचित्र पर यू.के. मुख्य केन्द्र बना।

**पूनम सिन्हा** - हिंदी भाषा के साथ भारत की कला, संस्कृति एवं परंपरा के विकास में प्रवासी लेखन की क्या भूमिका है?

**पद्मेश गुप्त** - कला, संस्कृति, परंपरा और भाषा के साथ-साथ भारत के समस्त साहित्य का वैश्वीकरण कर रहा है प्रवासी साहित्य। प्रवासी लेखक भारतीय संस्कृति और परंपराओं को अपने लेखन के माध्यम से दुनिया भर में विस्तार दे ही रहा है, साथ ही जिस देश में वह रहता है, वहाँ की संस्कृति को भी भारत से जोड़ने का कार्य कर रहा है। हिंदी का प्रवासी लेखक जब अपने विदेशी मित्रों के साथ उठता-बैठता है, तो अक्सर अपनी कृति का अनुवाद उन्हें सुनाता है, और वहीं दूसरी ओर जब उसे कोई विदेशी बात भाती

है तो वह अपने साहित्य में उल्लेख कर उसे हिंदी पाठकों तक पहुँचाता है। प्रवासी लेखक वैश्वीकरण के इस युग में सम्पूर्ण विश्व को हिंदी भाषा, संस्कृति एवं परंपरा से अपने साहित्य के माध्यम से जोड़ने का काम कर रहा है। प्रवासी भारतीय विरासत के रूप में अपने बच्चों को भारतीय भाषा, कला एवं संस्कृति का ज्ञान दे रहे हैं। इसके अभाव में भारत एक समृद्ध पीढ़ी खो देगी। भारतीय दृष्टिकोण खो जाएगा।

अपनी भाषा, कला एवं संस्कृति के विकास के लिए हम प्रवासी लेखक के भीतर एक आग है। विश्व के कोने-कोने में बैठे हिंदी भाषी लोग वहाँ की बातें हिंदी में लिख रहे हैं। हिंदी साहित्य का सच्चे रूप में वैश्वीकरण करने का श्रेय प्रवासी लेखकों को सबसे अधिक जाता है। आज विश्व भर के अनुभवों से हिंदी साहित्य को समृद्ध करने वाले प्रवासी हिंदी लेखक ही तो हैं। हिंदी भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि विश्व में कितने लोग हिंदी बोलते हैं, कितने देश हिंदी बोलते हैं, परन्तु सोचिये, अगर आज से सौ-दो सौ साल बाद अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, यूरोप के लोगों को यह जानना हो कि सौ दो सौ साल पहले उनकी दुनिया, उनका समाज, उनके लोग कैसे थे, और उन्हें यह पता लगे कि यह जानने के लिए उन्हें हिंदी साहित्य पढ़ना पड़ेगा, तब मैं मानता हूँ कि हिंदी का सच्चा वैश्वीकरण हुआ है। यह सिर्फ प्रवासी लेखक कर रहे हैं। प्रवासी लेखक आज दुनिया भर में फैले हुए हैं। वहाँ जो कुछ हो रहा है, उन अनुभवों को हिंदी में लिख रहे हैं और हिंदी साहित्य को वैश्विक स्तर पर समृद्ध कर रहे हैं।

**पूनम सिन्हा** - आपकी दृष्टि में प्रवासी साहित्य की परिभाषा क्या है?

**पद्मेश गुप्त** - विदेशों में चार प्रकार के हिंदी लेखक हैं जो हिंदी साहित्य का सृजन कर रहे हैं। पहले जो भारतीय मूल के विदेश में जन्मे, दूसरे जो युवावस्था में भारत छोड़कर विदेश में आकर बस गये, तीसरे जो

हिंदी के रोजगार से जुड़े रहे जैसे अध्यापक या पत्रकार और चौथे वह जो भारत में हिंदी साहित्य से जुड़े रहे और 30-35 वर्ष की आयु के बाद विदेश आये। भाषा और शिल्प की दृष्टि से आप सब में अंतर पायेंगी परन्तु भाव, अहसास, अनुभवों और विषयों में आपको समानता मिलेगी।

प्रवासी भाव, प्रवासी अनुभव, प्रवासी पीड़ा, संघर्ष और उपलब्धियाँ अपने शहर-गाँव में रहने वालों के मुकाबले दूर देश में रहने पर स्वाभाविक रूप से अलग होती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण मैं मानता हूँ रामायण के इस संदर्भ को जब लंका जीतने के बाद लक्ष्मण ने राम से कहा कि 'यह स्वर्णपुरी, सोने की लंका, जीतने के बाद, इसे छोड़कर हम वापस चलें?' तब राम ने कहा कि 'हे लक्ष्मण! तुम इस स्वर्णपुरी पर आकर्षित मत हो, अपनी जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर होती है।'

'नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥'

जब प्रवासी साहित्य की बात उठती है तो मुझे संभवतः पहली और सबसे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट रचना राम की यही उक्ति लगती है।

**पूनम सिन्हा** - भारत सरकार से प्रवासी भारतीयों की क्या अपेक्षाएँ हैं?

**पद्मेश गुप्त** - भारत सरकार की नीतियाँ प्रवासी भारतीयों के लिए अच्छी हैं। पिछले 15-20 सालों में बहुत से ऐसे बदलाव आये हैं जैसे प्रवासी भारतीय मंत्रालय, प्रवासी भारतीय दिवस OCI कार्ड वगैरह की सुविधा। हमारी अपेक्षा है कि भारत सरकार प्रवासी भारतीयों को सिर्फ निवेशक के रूप में नहीं बल्कि भारत के सांस्कृतिक राजदूत के रूप में देखे जो भारत का सच्चा वैश्वीकरण कर रहे हैं।

**पूनम सिन्हा** - हिंदी को लेकर आप आम भारतीय और प्रवासी भारतीय के दृष्टिकोण में क्या अंतर पाते हैं?

**पद्मेश गुप्त** - आम भारतीय के लिए हिंदी आम है और प्रवासी भारतीय के लिए विदेशों में हिंदी की कमी उसके लिए हिंदी को खास बना देती है। यह तो मनुष्य की प्रवृत्ति है कि उसके लिए वही चीज खास होती है जिसकी कमी हो। जैसे विदेशों में भारतीय भोजन, विदेशों में भारतीय सिनेमा और गीत-संगीत।

मैं अंग्रेजी माध्यम से पढ़ा, घर में पिताजी के कारण हिंदी साहित्य का वातावरण और संस्कार मिला। लेकिन सच्चे रूप में हिंदी के महत्त्व और हिंदी से प्रेम का अहसास फ्रांस जाकर हुआ। फ्रांस में मैंने केमिकल इंजीनियरिंग का अध्ययन तथा कास्मेटिक इन्डस्ट्रीज पर शोध किया। मैंने देखा कि फ्रांसीसी लोग अंग्रेजी को नीची निगाह से देखते हैं और अपनी भाषा को सर्वोच्च मानते हैं। वे अक्सर फ्रांसीसी भाषा के शब्दों के अर्थ हिंदी में बताने का आग्रह करते थे। मुझसे अंग्रेजी में 'थैंक्यू' की जगह 'धन्यवाद' कहलाना पसंद करते थे। तब हिंदी के प्रति सम्मान को लेकर मेरी सच्चे मायने में आँखें खुलीं मुझे लगा कि अंग्रेजी को ऊँचे तबके और क्लास की भाषा समझने की कितनी बड़ी भूल मैं कर रहा था।

**पूनम सिन्हा** - पहले जो लोग विदेश जाते थे वे पुनः भारत लौट आते थे। लौट नहीं पाने की स्थिति में भी उनके मन में यह बात बैठी रहती थी कि हमें अपने देश में वापस लौटना है। यहाँ आप से या अन्य जितने लोगों से मिली हूँ उनमें से किसी ने भी पुनः भारत लौट आने की इच्छा जाहिर नहीं की है। क्या कारण है?

**पद्मेश गुप्त** - पीढ़ी-दर-पीढ़ी फर्क (Generation Gap) आता है। अन्तराल को मापा जाय तो वैश्वीकरण का अन्तर आया है। अब मन भीगता है तो तुरंत भारत में परिवार से बात हो जाती है। लंदन भारत का विस्तार' (एक्स्टेंशन) लगता है। भारत में रहने वाले अपने अन्य भाइयों की तुलना में मैं लंदन में रहते हुए भी लखनऊ अपने घर ज्यादा जाता हूँ। अगर ट्रेन से मुंबई से अपने शहर जाना पड़े तो ज्यादा समय

लगता है। 'दूर देश चले आये' ऐसा भाव कभी नहीं लगता है। हम एक जगह बैठे-बैठे स्काइव पर विभिन्न लोगों से परिचर्चा कर लेते हैं। अब तीस-चालीस साल पहले वाली बात नहीं रही कि 'विदेश में अकेलापन लगता है', 'भारत में रह रहे अपने परिवार से दूरी है, अतः भारत लौट जाया जाय।' वैसे वहाँ का पारिवारिक, उत्सवी एवं साहित्यिक वातावरण तो याद आता ही है। भारत की स्मृतियाँ हमारे भीतर रची-बसी हैं। इसके बिना प्रवासी लेखन संभव नहीं। आज प्रवासी लेखक अपने आस-पास होने वाली घटनाओं को हिंदी की हर विधा में लिख रहा है। अपने अनुभवों से हिंदी साहित्य को समृद्ध कर रहा है।

**पूनम सिन्हा** - पुरस्कार, सम्मान आदि को लेकर क्या प्रवासी साहित्यकारों के बीच भी जोड़-तोड़ की राजनीति होने लगी है?

**पद्मेश गुप्त** - जी हाँ, परन्तु बहुत कम। सम्मान पाने की इच्छा किसकी नहीं होती, परन्तु जब इच्छा महत्वाकांक्षा में बदल जाती है, तो कहीं न कहीं राजनीति स्वाभाविक हो जाती है, जिसका मुझे बहुत दुख और खेद है। मेरा मानना है कि किसी भी काम का परिणाम जब मेरिट्स पर मिलता है तो असली मजा होता है, आत्मसंतोष मिलता है। जुगाड़ की राजनीति से पुरस्कार का मिलना उसी तरह लगता है जैसे परीक्षा को नकल करके पास करना। मैं मानता हूँ कि 'जब आप बोलते हैं, तो लोग सुनते हैं; लेकिन जब काम बोलता है, तो लोग बोलते हैं और कायनात सुनती है, इतिहास बनता है।' प्रवासी साहित्य के मूल्यांकन के विषय में भी मैं अपनी राय देना चाहता हूँ। जब हमारे हिंदी साहित्य के विशेषज्ञ प्रवासी साहित्य का मूल्यांकन करते हैं, तो मेरा विनम्र निवेदन है कि आप उसे भाषा या शिल्प के तराजू से नहीं तौलें, बल्कि विषय वस्तु और मौलिकता के आधार पर तौलें। भाषा में यदि त्रुटि है या कमजोरी है; उससे वास्तविकता नहीं बदल जाती है। हिंदी और हिंदी साहित्य के वातावरण से बहुत दूर नये परिवेश में

मासूम और मौलिक लेखन कर रहे साहित्यकारों को प्रेरणा और मार्गदर्शन की जरूरत है। प्रवासी लेखन को परीक्षक के रूप में नहीं शिक्षक के रूप में देखिये और उसे प्रेरणा और मार्गदर्शन दीजिए। साहित्य-संसार में स्थान नहीं देने की जगह उसे अपने प्रयासशील विद्यार्थियों

की तरह पनाह दीजिए। विदेशों में रह रहे प्रवासी लेखकों को हिंदी परिवेश नहीं मिला है फिर भी वे लगातार लिख रहे हैं। लेकिन उनके शब्दों का खजाना निरन्तर कम हो रहा है। उन्हें भाषायी तराजू पर न तोला जाय।

### कवि पद्मेश गुप्त की कविता

#### घड़ी, छड़ी और ऐनक

दे कर  
माँ की आँखों में  
प्रतीक्षा की झपकियाँ  
आया था परदेस में  
ले कर  
पीठ पर पिता की  
दुआओं की थपकियाँ  
कुछ ही वर्षों में  
हो गया वह सब कुछ हासिल  
जो पर्याप्त था।  
पर्याप्त था  
चार पहियों के वाहन के लिए  
मार्बल के आंगन के लिए।  
मैंने भेजा माँ को  
एक नया ऐनक  
पिता के लिए छड़ी,  
एक नई घड़ी।  
शायद उसी ऐनक को पहन कर  
लिखा था माँ ने, देख सकती हूँ  
तुम्हारी तस्वीर मैं  
बिना इस ऐनक के भी  
और हमारे यहाँ

पिता की छड़ी  
लकड़ी की नहीं  
लड़के की होती है।  
तुमने भेजी है  
एक घड़ी, बढ़ियाँ  
किंतु यहाँ तो  
लम्हें लम्हें आती है  
प्रतीक्षा की  
कितनी ही घड़ियाँ।  
इससे पहले कि  
रोम रोम मेरे हृदय का  
बाँध पाता  
निर्णय की कोई डोर,  
करने लगा  
इशारा मस्तिष्क  
मेरे पुत्र के  
नन्हें, साफ-सुथरे  
पैरों की ओर।  
छोड़ आया हूँ  
एक नगर से  
दूसरे नगर में  
अपने सफर में  
संघर्ष के जो छाले

फिर उगेंगे वह  
इन पैरों पर  
मेरे लौटने पर।  
मैंने रख दिया  
किसी कोने में  
स्वदेश लौटने का इरादा  
माँ को दिया हुआ  
वह खामोश वायदा।  
मुझे याद है  
एक बार फिर  
लिखा था माँ ने, अब तो  
कहने लगी है  
पड़ोसन भी  
अपने बेटे से,  
इतने भी ना लाना अंक  
परीक्षा में कि करनी पड़े  
मेरी चिता को तुम्हारी प्रतीक्षा।  
एक बार फिर  
मैंने मुड़ कर देखा था  
पूरब का गाँव लेकिन  
पहने हुए पश्चिम के जूते  
मेरे पाँव बढ़ने लगे,  
चढ़ने लगे

पकड़ कर अँगुलियाँ  
नई पीढ़ी की नई सीढ़ी पर।  
आज मेरा पुत्र  
किसी और देश के  
किसी और शहर में  
बना रहा है नए रास्ते  
अपने पुत्र के लिए।  
और मैं, देख रहा हूँ  
सामने दीवार पर  
टँगी हुई एक नई छड़ी  
मेज पर रखी हुई  
एक नई घड़ी  
अपनी माँ के ऐनक से।  
पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ  
सीढ़ियाँ दर सीढ़ियाँ  
वही छड़ी, वही घड़ी  
वही ऐनक।  
उम्र ही नहीं है  
कुछ और भी है, जो देता है  
चेहरों को झुरियाँ  
यह छड़ी, यह घड़ी  
यह ऐनक।

**पूनम सिन्हा :-** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, विश्वविद्यालय  
हिन्दी-विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,  
मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार)। मो.-09470444376

**पद्मेश गुप्त :-** ऑक्सफोर्ड बिजनेस कॉलेज, 65,  
जार्ज स्ट्रीट, आक्सफोर्ड, लंदन, मो.-00447956562805  
ईमेल :- padmeshgupta@hotmail.com

## यह है 'नई शुरुआत'

कौशल किशोर

कविता ने कब मेरे अन्दर जन्म लिया, उसके अंकुर कब फूटे? हां, स्मृतियों पर पड़े धूल-गर्द को झाड़ने पर याद आता है कि पहली कविता बनारस से निकलने वाले दैनिक समाचार पत्र 'आज' में छपी थी। वह नक्सलवाड़ी किसान आंदोलन का दौर था। किसानों का यह विद्रोह सूखे जंगल में चिन्गारी की तरह था। मेरे लिए तो यह अन्तर्मन की आग को धधकाने वाला आवेजक बन गया। स्मृति के पन्ने को और खोलता हूं तो यह भी याद आता है कि सार्वजनिक रूप से बेगूसराय(बिहार) के जीडी कॉलेज के प्रांगण में आयोजित कवि सम्मेलन में कविता पढ़ने का पहली बार मौका मिला। उस सम्मेलन की अध्यक्षता राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर कर रहे थे। सबसे कम उम्र का होने की वजह से कवि सम्मेलन की शुरुआत मेरे कविता-पाठ से हुई। दिनकर जी ने मेरी पीठ ठोकी तथा आशीर्वाद दिया। वह मेरे जैसे नवोदित के लिए किसी सम्मान से कम नहीं था। इसके बाद तो सृजन की धारा बह निकली।

कविता की यह यात्रा पांच दशक पूरी कर चुकी है। यह गढ़हरा (बरौनी, बेगूसराय) से शुरू हुई और सुरेनपुर (बलिया) से होते हुए लखनऊ पहुंची। यह बड़े उतार-चढ़ाव का, राजनीतिक व सामाजिक रूप से उथल-पुथल भरा समय रहा है। इस दौरान अपने को अभिव्यक्त करने के माध्यम के बतौर कविताएं लिखीं और खूब लिखीं। कुछ पन्नों पर तो कुछ कॉपियों में दर्ज हुई। किसी संपादक ने मांग लिया या कोई पत्रिका पसन्द आई तो भेज दिया। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में छपीं तो उससे अधिक अप्रकाशित रह गईं। इन्हें संभालने-सहेजने के प्रति लापरवाह बना रहा। कभी सोचा ही नहीं कि इन्हें संग्रहित करना है। गढ़हरा और बलिया से जब लखनऊ आया तो कम ही किताबें व कॉपियां साथ आ पाईं। वे वहीं रह गईं। गांव में आई बाढ़ ने उन्हें अपना आहार बना लिया। लखनऊ में कुछ सीलन की भेंट चढ़ गई तो कुछ डायरियों के पन्नों को दीमक ने चाट लिया। जो बच गईं, उन्हीं से यह है 'नई शुरुआत'।

इस संग्रह में 1969 से लेकर 1976 तक की कविताएं शामिल हैं। बहुत कच्चापन मिलेगा इनमें, पर यह कवि के बनने का दौर है। वैसे बनना, संवरना और सीखना तो सारी जिन्दगी है। समय, समाज और जीवन से बड़ा कोई शिक्षक नहीं। 1974 में लखनऊ से प्रकाशित पत्रिका 'दिशावाहक' (अंक-3, अप्रैल-जून 1974)

ने विशिष्ट कवि के बतौर आत्मकथ्य के साथ कविताएं प्रकाशित की थीं। वे कविताएं इस संग्रह में शामिल हैं। उस वक्त के वक्तव्य 'मैं लेखन और कर्म स्तर पर जीना चाहता हूँ' इस संग्रह की भूमिका है। यह मेरे कवि का बयान या ऐसा घोषणा पत्र है जिसके आधार पर अपने को हमेशा जांचता व परखता हूँ।

'मैं लेखन और कर्म के स्तर पर जीना चाहता हूँ' हमारे देश की सबसे बड़ी विडम्बना है कि कला और साहित्य को ड्राइंग रूम की सजावट और सुन्दरता की वस्तु में तब्दील कर देने का पुरजोर प्रयास किया जा रहा है तथा पूंजीवादी व्यवस्था के कलात्मक व साहित्यिक प्रतिमानों को ही सच्चा और वास्तविक प्रतिमान बताया जा रहा है। यह किसी साजिश से कम नहीं है। ऐसा करना साहित्य को सामाजिक दायित्व और उसकी जनवादी भूमिका से काट देना है। फिर भी तमाम चीख-पुकार, हो-हल्ला और षडयन्त्रों के बावजूद साहित्य की प्रासंगिकता और उसकी भूमिका को कम नहीं किया जा सका है। साहित्यकार को संरक्षण और लोभ-लालच-प्रलोभन का सम्मोहन दिखाकर अपनी व्यवस्था का पक्षधर व प्रवक्ता या चारण बनाकर रखने का प्रयास व्यवस्था द्वारा किया जाता रहा है। वहीं, दायित्व और भूमिका लेखक को आम जनता से जुड़ने और सच के पक्ष में खड़ा होने के लिए प्रेरित करता रहता है। इसीलिए जब भी कविता का रुख और तेवर व्यवस्था विरोध का होने लगता है, इस व्यवस्था के चाकर इसे राजनीतिक या गैर साहित्यिक सामग्री बताकर नकारने लगते हैं। आज हिन्दी साहित्य में लघु पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आ रही जनवादी कविता के आक्रामक रुख को देख व्यवस्था के दलाल लेखकों की कतार में खलबली का मचना इसका ताजा उदाहरण है।

वास्तविकता तो यह है कि प्रयोगवाद और नई कविता के माध्यम से जो पुरानी पीढ़ी साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय थी, वह सातवें दशक के अन्त तथा आठवें दशक का आरम्भ आते-आते स्वप्न-भंग और मोह-भंग

की स्थिति में आ पहुंची। लेकिन मेरे साथ जो बिल्कुल नई और नितान्त युवा पीढ़ी साहित्य के क्षेत्र में आई, उसने अपने हृदय में न तो कोई सपना ही संजोया था और न किसी प्रकार का मोह या भ्रम ही पाल रखा था। हमारी पीढ़ी ने बेकारी, महंगाई, भ्रष्टाचार, नौकरशाही, पुलिसशाही, धूर्त राजनीति, आपा-धापी, कश-म-कश, यंत्रणाओं, शोषण-दमन आदि-इत्यादि की त्रासद स्थितियों से अपने को घिरा हुआ पाया है। गरीबी, भूखमरी और अकाल के पहाड़ के नाचे पिसती जनता के अन्तर की छटपटाहट तथा इन स्थितियों को पार कर जाने की ललक, घेराव, आंदोलन, हड़ताल, विद्रोह और व्यवस्था-बदलाव की तीव्र आकांक्षा के बीच इस नई पीढ़ी की कविता यात्रा - 'अब अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे/ तोड़ने होंगे गढ़ और मठ सब' (मुक्तिबोध), 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी/ यही राय हुई है जवाहर लाल की' (नागार्जुन), 'तब/144-धारा के दायरे में जन्म लेती है/ मजदूरों की चट्टानी एकता/ और एक कविता' (निरंजन) से प्रेरित होती आगे बढ़ी।

निःसन्देह प्रयोगवाद, नई कविता तथा रंग-बिरंगी कविता आंदोलन के माध्यम से जिस कविता-महल की नींव रखी गई थी, वह अब ढहने लगा है। प्रतीकवादी, बिम्बवादी, कलावादी, अबोधगम्य भाषा और उसकी दुरुहता को नकार आज की कविता हल और हथौड़ा चलाने वालों से अपना रों मेटेरियल (कच्चा माल) ग्रहण कर रही है - 'यह कविता नहीं/ गोली दागने की समझ है/ जो हर कविता लिखने वालों को/ हल चलाने वालों से मिल रही है' (आलोक धन्वा)। सड़कों, फुटपाथों मिलों-कारखानों, खेतों-खलिहानों, खानों-खादानों में जीते और संघर्ष करते आम आदमी का दर्द, उसकी पीड़ा और छटपटाहट ही आज की कविता में प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसलिए मानवीय दर्द का अहसास व अनुभूति तथा मुक्ति की कलात्मक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आज की कविता है। यह कविता मौजूदा व्यवस्था द्वारा मानव-मूल्यों पर किए जा रहे चौतरफा हमले के



बीच पैदा हुई है, पली है और बढ़ रही है। अतः इसका स्वर और भाषा आक्रामक, सटीक, साफ, तेज, नुकीली है और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समाज के सबसे उपेक्षित, अवहेलित, शोषित, पीड़ित वर्ग के संघर्ष और जद्दोजहद को शब्दबद्ध किया गया है और किया जा रहा है।

सही लेखन, सही समझ, सही विचार-प्रणाली का ईमानदारी और सच्चाई से निर्वाह करने वाली आज की कविता इतनी विशेषताओं के उपरान्त भी अभिजात्य अहमन्यता और अबोधगम्यता से पूर्णतया मुक्त हो गई है - कहना बहुत बड़ी गलती होगी। जन-कविता के लिए बहुत आवश्यक है कि वह जनता की भाषा और समझ के स्तर पर लिखी जाय, उसकी व्यापक अपील हो अन्यथा बौद्धिकों तथा ड्राईंग रूम की सामग्री में

बदल जाने का खतरा पैदा हो सकता है। हम जिस देश में रहते हैं, वहां का जनजीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीतमय है। अतः जनता को आन्दोलित करने हेतु कविता की लयात्मक शैली बहुत आवश्यक है। इस आधार पर अपनी कविताओं को देखते हुए महसूस होता है कि परिवर्तन की क्रान्तिकारी इच्छा-आकांक्षा को रचती ये कविताएं भाषागत संस्कारों से ग्रसित और प्रयोगवादी, नई कवितावादी शिल्प से प्रभावित है। यह स्वीकार करने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं। वैसे इन कविताओं को कहने के लिए प्रतीक या बिम्ब का सहारा न लेकर साफ और सहज लहजे में अपनी बात अभिव्यक्त करने का प्रयास मैंने किया है। बावजूद इसके जनकला के मानदण्डों के अनुरूप अपनी कविता को परिवर्तित करने हेतु मैं सदैव प्रयत्नशील हूं क्योंकि मैं कर्म और लेखन के स्तर पर जीना चाहता हूं।

**परिचय :** कवि, समीक्षक, संस्कृतिकर्मी व पत्रकार

**जन्म :** सुरेनपुर (बलिया, उत्तर प्रदेश), 01 जनवरी 1954, स्कूल के प्रमाण पत्र में।

वैसे जन्म 25 दिसम्बर 1951।

**संपर्क :** एफ-3144, राजाजीपुरम, लखनऊ-226017, मो - 8400208031

**ईमेल :** kaushalsil.2008@gmail.com

‘युवालेखन’ (1972 से 74) ‘परिपत्र’ (1975 से 78) तथा ‘जन संस्कृति’ (1983 से 90) का संपादन। दैनिक जनसंदेश टाइम्स के साहित्यिक पृष्ठ ‘सृजन’ में संपादन सहयोग (2014 से 2017)

**संप्रति :** लखनऊ से प्रकाशित त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका ‘रेवान्त’ के प्रधान संपादक।

**प्रकाशित कृतियां :** दो कविता संग्रह ‘वह औरत नहीं महानद थी’ तथा ‘नयी शुरुआत’। वैचारिक व सांस्कृतिक लेखों का संग्रह ‘प्रतिरोध की संस्कृति’ तथा ‘शहीद भगत सिंह और पाश-अंधियारे का उजाला’ प्रकाशित। 2015 के बाद की कविताओं का संकलन ‘उम्मीद चिन्गारी की तरह’ तथा समकालीन कविता पर आलोचना पुस्तक की पाण्डुलिपियां प्रकाशन के लिए तैयार। कुछ कविताओं का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद।

पहल, उत्तरार्द्ध, युग परिबोध, कथाक्रम, उत्तरगाथा, मुक्तांचल, समकालीन जनमत, कथन, वर्तमान साहित्य, पुरुष, अन्ततः, कविता, हंस, कथादेश, समावर्तन, इसलिए, आइना, चिन्तन दिशा, परिकथा, कृति ओर, गांव के लोग, रविवार, प्रारूप, युवा, शरर, निष्कर्ष, पतहर, लहक, भोर, शब्दिता, जनसत्ता, अमृत प्रभात, रविवार, हिन्दुस्तान, अमर उजाला, दैनिक ट्रिब्यून, हरिभूमि, जनवाणी, आज, जनसंदेश टाइम्स, श्री टाइम्स, दुनिया इन दिनों, राष्ट्रीय सहारा, डेली न्यूज, छपते छपते आदि अनगिनत पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित।

## सामाजिक जीवन का जीवंत दस्तावेज : कौशल किशोर की कविताएँ

अनिल कुमार पाण्डेय

कौशल किशोर जैसे कवि को पढ़ना रोमानियत में भर कर झूमना नहीं है अपितु सामाजिकता के कंकड़ीले पथ पर विचरण करते हुए अपने स्वप्न-संसार को प्राप्त करना है। स्वप्न अस्थायी होते हैं जबकि जीवन स्थायित्व मांगता है। यह भी सच है कि भटकते रहते हैं हम स्थायित्व की खोज में और एक दिन चले जाते हैं अचानक। प्राप्त सभी प्रकार की स्थितियाँ हमारी अपनी नहीं रह जातीं लेकिन ऐसा सोचकर कर्म करने की जरूरत से हम स्वयं को रोक भी नहीं सकते। कारण कि वर्तमान मात्र के लिए जीना हमें मनुष्यता की परिधि से बाहर रखता है। वर्तमान से अधिक भविष्य की जहाँ चिंता हो उस जीवन-भूमि पर स्थायित्व के लिए संघर्षरत होना पड़ता है। संघर्ष के लिए प्रेरणा की जरूरत है। हमारे परिवेश की बनावट-बुनावट कुछ इस तरह है कि यातना तो सहज मिल सकती है लेकिन प्रेरणा के लिए एक अलग प्रकार के श्रम की जरूरत होती है। कमी विकल्प की नहीं है दृष्टि का अभाव जरूर खटकता है। विस्तृत मन-भाग पर फैले हुए विभिन्न विषयों में से चुनाव का तरीका एक कारगर विचार हो सकता है जिसके माध्यम से सहायक प्रेरणात्मक प्रवृत्तियों को तलाशा जा सके, लेकिन समस्या वही है कि श्रम की अनिवार्यता को बरकरार रखा कैसे जाए?

इस प्रश्न के लिए यदि हम कौशल किशोर के यहाँ चलते हैं तो पता चलता है कि कविता की सृजन प्रक्रिया इसी स्थायित्व को प्राप्त करने से जुड़ी हुई है। यहाँ अनुभव उस संचित धन के समान कार्य करता है जिसे गाढ़े दिनों में प्रयोग किया जा सके। कौशल किशोर का मानना है कि “जीवन कम है/ काम बहुत है/ सुदूर है मंजिल हमें पहुँचना/ ...कठिन है राह/ अदम्य है चाह/ अनंत है यात्रा” और इस अनंत यात्रा में ‘वह औरत नहीं महानद थी’ में संचित अनुभवों को सहेजते हुए ‘नई शुरुआत’ के माध्यम से अनुभूति की सघनता को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस सघनता में हम वह सब कुछ ढूँढ़ सकते हैं जिससे सामाजिक सहभागिता की अनिवार्यता लक्षित होती है।

सामाजिक सहभागिता की बात करें तो कौशल किशोर देश में घटित होने वाली ऐसी बहुत-सी घटनाओं के चश्मदीद हैं जिसने जन-समाज की दशा-दिशा-परिवर्तन

में बड़ी भूमिका निभाई है। उनके सामने 1962 और 1971 की लड़ाइयाँ लड़ी गयीं हैं। आपातकाल जैसी भयंकर स्थिति को उन्होंने जवानी के दिनों में झेला है। सत्ता की उन्माद और मदान्धता की स्थिति में किस तरह आम आदमी हताहत होता है, यह खुली आँखों से देखा है उन्होंने। उनके सक्रिय दिनों में 1984 और 1992 के दंगे हुए हैं। वह जानता है कि किस तरह घर से बेघर होकर एक ठीक-ठीक प्रकार का आदमी जानवरों से भी बदतर हालात में पहुँच जाता है। बद-से-बदतर हालात में पहुँच चुके परिवेश की यथास्थिति का वर्णन कुछ इस तरह करता है कि अतीत का यथार्थ वर्तमान का रूप धारण करके हमारे सामने साकार हो उठता है - 'सड़क की पटरी छोड़ गली में उतरते ही/ मेरा पाँव कीचड़ में धंस जाता है/ किसी मरे जानवर की गंध/ नाक में समाती चली जाती है' जो इतना पीड़ादायक है कि आज भी इसका सफल हल नहीं खोजा जा सका है। आज भी ऐसी बस्तियाँ हैं जहाँ पहुँचने के बाद सहसा विश्वास नहीं होता कि वहीं पहुँचा गया जहाँ मनुष्य जैसा कोई रहता है।

इन्हीं बस्तियों से ताल्लुकात रखने वाले और देश-दुनिया को सुंदर ढांचे में ढालने वाले मजदूरों की जिन्दगी कोई जिन्दगी नहीं होती। घर-परिवार और स्वयं की चिंता से उसे बेखबर रहना होता है। उसका एकमात्र कर्तव्य सायरन की आवाज पर दौड़ पड़ना और मालिक के इशारों पर चलते रहना होता है। "इधर बजता है सायरन/ उधर हमारे कदम पहुँच जाते हैं/ अपनी-अपनी मशीनों पर/ अंगुलियाँ स्विच बटन पर/ और नजरें नक्शे पर" ताकि किसी तरह से दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। यहाँ मेहनतकश आदमी को सब भूल जाता है और याद रहता है तो मशीनी क्लोन की तरह महज अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करना- "सायरन बजता है/ शीत-घाम सबको रौंदते आते हैं हमारे कदम/ थोड़ी देर पहले जहाँ नीरवता थी/ भर जाता है यंत्रों का शोर/ और होती

है नए दिन की शुरुआत।" अब जिसके नये दिन की शुरुआत ही यंत्रों के शोर से हो तो यह विचारणीय है कि कितना समय वह अपने अतीत को याद करने में खर्च करता होगा और कितना समय अपने भविष्य को सुनहरा बनाने के लिए 'स्वप्न' को देता होगा? दरअसल न तो इनका कोई अतीत होता है जो इन्हें बल प्रदान करे संघर्ष करने के लिए और भविष्य तो जैसे होता ही नहीं। 'स्वप्न' के स्थान पर यथार्थ वर्तमान को जीना इनकी बड़ी मजबूरी होती है। इनके लिए दिन, मौसम, ऋतुओं का परिवर्तित होना कोई मायने नहीं रखता। मायने रखता है तो बदलते दिनों के अनुसार अपनी 'कैलेंडर' की प्रतिच्छाया में इच्छा-अनिच्छा को मन-मोसोस कर देखना :- "वर्ष के अंत में/ वह कमरे के तमाम/ पुराने कैलेंडरों की जगह रंग-बिरंग के नये वर्ष के/ नये कैलेंडर टांग दिया करता है/ मगर/ अपने जीवन के साथ जुड़े/ असंतोष/ घृणा/ उपेक्षा व क्षोभ के/ किसी कैलेंडर को नहीं हटा पाता/ और सांस बन्द किये/ असमर्थता/ बेकारी/ लाचारी के तमाम कैलेंडरों को/ दिन रात निहारता रहता/ देर तक/ इसमें कभी पत्नी के पिचके गालों के चित्र/ कभी बच्चों की सूखी मुस्कान/ 'खों खों' पिता की दर्दनाक आवाज/ और कभी बनिये धोबी कपड़ेवाले.../ ऐसे ही अनेक में एक/ और एक में अनेक चेहरे उभरते रहते।"

इन 'उभरने' वाले चेहरों में 'असंख्य' ऐसे हैं जहाँ तक कल्पना भी पहुँचने में असमर्थता व्यक्त करती है। इन्हीं में से अब भी कवि को दिखाई देता है कि "हमारे देश में भिखमंगों की लम्बी कतारें/ जुटी हैं फेंके गये पत्तलों पर/ चिपके जूठन के लिए/ कुत्तों, कौवों और गिद्धों के साथ" जिन्हें रोटी के आगे दूसरी किसी समस्या से कोई लेना-देना नहीं है। कवि जिस समय के चित्र को प्रस्तुत करता है उससे भी दयनीय स्थिति आज के समय की है। आम आदमी 'अपने जीवन के साथ जुड़े/ असंतोष/ घृणा/ उपेक्षा व क्षोभ' को आज भी हटा नहीं सकता। भूखों मरना और मरते हुए

अपनों को देखना उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया का रूप ले लिया है। झेलना तो कभी उसकी मजबूरी होती थी अब नियति बन गयी है।

नियति की दशा को जितनी बेतरतीबी से स्त्रियों ने जिया है कोई क्या जिया होगा। कौशल किशोर का कवि-हृदय उस समय का भी साक्षी है जब परिवेश में स्त्रियों को हँसने तक की मनाही होती थी। आज भी देश के विविध अंचलों में स्त्रियों को लेकर विभिन्न दृष्टिकोण हैं। हिन्दू धर्म और मुस्लिम सम्प्रदाय का तो पूरा का पूरा अस्तित्व ही स्त्रियों की यथास्थिति पर निर्भर करता है। अन्य सम्प्रदायों में भी स्त्री को लेकर स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। कवि का यह कहना नितांत सच और स्पष्ट है कि “स्वात घाटी हो/ या खाप पंचायतें/ यह दुनिया भरी है/ उस पर गोली चलाने वालों से/ कहाँ नहीं हैं/ फतवा/ और फरमान जारी करने वाले/ मलाला/ फिर खड़ी है/ सवालियों की तरह।” मलाला को उत्तर नहीं दिया जाता है। दिया भी नहीं जा सकता है। उसे सवालियों के घेरे में पुनः लाकर खड़ा जरूर कर दिया जाता है। सवालियों से बेखबर हो कर चलने वालों में और उलझनों का सामना करते हुए निखरने वालों में इक्कीसवीं सदी की “ऐसी है वह/ स्त्री है वह।” इस सदी की स्त्रियों ने न सिर्फ अपनी स्थिति में सुधार किया है अपितु लोग उसके विषय में क्या सोचें इसके लिए प्रेरित भी किया है।

राजनीति अपनी तरह का विधान रचती है जहाँ सरकारें हर समय किसी भी रूप में सत्ता में बनी रहना चाहती हैं। समकालीन कवि सरकारों के व्यवहार से अच्छी तरह परिचित है। कौशल किशोर की बात करें तो उनकी अधिकांश कविताएँ मुख्यतः राजनीतिक परिवेश की कविताएँ हैं। यह सच है कि जिस परिवेश में कवि रहता है उसी प्रकार के परिवेश की यथास्थिति का वर्णन वह करता है। आम जीवन के अधिकारों को प्रमुखता देने में सक्रिय जुलूसों, नारों और झंडों के साथ अनवरत सक्रिय रहने वाले कौशल किशोर राजनीतिक

जलसों की सक्रिय राजनीति को सत्तर के दशक से गंभीरतापूर्वक परख रहे हैं। जिस जनता द्वारा सरकारें चुनी जाती हैं उस जनता की क्या स्थिति है इससे कोई अनजान नहीं है। एक बार सरकार चुन लेने के बाद महज ‘इन्तजार’ ही उसके हिस्से रह जाता है जिसके प्रति जवाबदेह न तो दल होते हैं और न ही तो नेता। ‘जनता’ कविता की ये स्पष्टता भारतीय राजनीति के यथार्थ रूप की तरह ली जानी चाहिए :- “जनता/ मेरे शहर की/ सबसे ऊँची दीवार की तरह है/ जिसकी सपाट पीठ पर/ हरेक चुनाव से पहले/ लिख दी जाती हैं/ रंगीन बातें/ उसकी आँखों के रुपहले परदे पर/ हसीन सपने/ और चुनाव के बाद/ गुम हो जाता है सब/ न जाने किस तहखाने में/ जनता के हाथ कुछ नहीं आता/ हाँ, आता है अगले चुनाव तक/ इन्तजार/ बस इन्तजार।”

यह इंतजार गरीब के घर आई समस्याओं की तरह बढ़ता जाता है। इस इंतजार में नेताओं का कुछ भी नहीं जाता लेकिन आम जनमानस का बहुत कुछ बचता भी नहीं है। घर-गृहस्थी के जंजाल में उलझी जनता जिन सुविधाओं की आस राजनीतिक दलों से करती है, उन सुविधाओं का प्रयोग वे अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में करते हैं। रोजगार, शिक्षा, पेंशन आदि स्थितियों से दर-ब-दर की जा चुकी आम जनता के पास इतने भी अधिकार नहीं हैं कि वह सरकारों से पूछ सके कि उनका चुनाव किया किस लिए गया है? सही अर्थों में जाना जाए तो आम आदमी के लिए अधिकार जैसा कुछ है भी नहीं। उसका अस्तित्व महज ‘स्वीकार’ में है और आदेश सारे आयातित होते हैं सरकारों से। यहाँ जब कवि यह स्पष्ट करता है कि “सच है/ इस देश में/ आदमी के लिए कानून नहीं बना/ कानून के लिए आदमी बना है” तो सरकारों के वर्चस्व का पता चल जाता है।

इनकी कविताएँ गहराई के साथ राजनीतिक क्षेत्र के काले चिह्नों को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। लोगों

को पार्टी और दलों में विश्वास हो तो हो लेकिन कवि को नहीं है। कवि उनका दरबारी नहीं बन सकता। लठैत बन उनकी कुनीतियों का प्रचारक और आम जनमानस की आशाओं-आकांक्षाओं का हत्यारा नहीं हो सकता वह। वह भूखों रह लेगा, बेरोजगारी के दंश को झेल लेगा लेकिन सामझौता नहीं करेगा। कवि प्रमाण देता है कि-“*मैं भी देने गया था/ शहर के रोजगार दतर में/ अपने धंसे पेट की माप/ मगर, वह सरकारी आदमी/ मेरी बेतरतीब हड्डियों को चटखाते हुए/ मुझे नायोग्य घोषित कर दिया/ यह कहकर कि मैं नहीं बन सकता/ उनके पुराने किले का मजबूत रक्षक*” जो स्वाभिमानी होगा वह रक्षक बनेगा ही क्योंकि आखिर? कवि मानता है कि सत्तासीन सरकारें हमारे अपने अस्तित्व के लिए खतरा हो गयी हैं। इन पार्टियों की सच्चाई को समझना है तो-“*केंचुल निकाल कर बाहर आओ/ फिर तुम इस मौसम की नग्नता/ साफ-साफ देख सकते हो-/ कि व्यवस्था कितनी क्रूरता के साथ/ आदमी और परिवार में दरारें पैदा कर रहा है।*” ये दरारें इतनी भयानक होती जा रही हैं कि भाई-भाई का गला काटने के लिए तैयार होने लगा है। गाँव की चौपालें बंटने लगी हैं। सार्वजनिक स्थल जो कभी संवाद के माध्यम हुआ करते थे आज ईर्ष्या और विद्वेष के ठिकानों में परिवर्तित होने लगे हैं। कवि दृष्टि में यह सब इसी का परिणाम है कि “*आज हर रिश्ते/ फालतूफन की हद पार गए हैं/ आदमी और आदमी के बीच/ प्यार या सहानुभूति नहीं/ चांदी के कुछ ठिकरे भर रह गये हैं/ यही वह बिंदु है/ जहाँ आदमी को निर्णय के दौर से गुजरना पड़ता है/ कि आखिरकार वह मशीन का पुर्जा है/ या उसका मालिक।*”

मनुष्य व्यावहारिक होता है लेकिन उसे मशीनी पुर्जे के रूप में ढालने का कार्य सरकारें करती हैं। कांग्रेस के शासनकाल से दुखी होने वाले जो लोग विकल्प की तलाश में थे उन्हें सम्पूर्ण क्रांति के बाद यह विश्वास-सा हुआ था कि राज-समाज बदल चुका है

लेकिन कवि-दृष्टि में अवसर साधने के माध्यम बदले थे, शासन-प्रशासन के तौर-तरीके और जन-जीवन की यथास्थिति पूर्ववत् ही थी। कवि जिस यथार्थ स्थिति की बात करता है वह कुछ इस तरह है-“*पहले की तरह अब भी/ मेरे पड़ोस के बच्चे/ पेट दबाये सो जाते हैं/ और गृहस्थी का मालिक/ यंत्रों की कातिलाना नीयत के बीच/ दिन काटने के बाद लौटता है/ पहले की तरह ही/ अपनी घरऊँ वकत को/ बड़े-बड़े नारों/ वक्त के रंगीन नक्शों में/ रह जाता है टटोलता-पटोलता*”। ‘पहले की तरह’ आज भी साधारण जन की यही स्थिति है। आज भी सुबह होती है लेकिन शाम कब आ जाती है यह पता नहीं चल पाता। विभिन्न मोर्चों पर लड़ने वाला साधारण जन भूख से दम तोड़ रहा है आज भी। आज भी उसे षड्यंत्रों का माध्यम बना दिया जाता है। सत्ता के इस खेल को समझने की बजाय लोग उसके समर्थन में कसीदे पढ़ते हैं। समर्थन करने वाला पुरस्कृत होता है और जो उसके खिलाफ आवाज उठाता है उसे ‘जयचंद’ और ‘देशद्रोही’ के तमगे से विभूषित कर हवालात की जंजीरों में जकड़ दिया जाता है - “*पागल मत बनो/ अधिकार की मांग मत करो/ नहीं तो/ देश की इस संकटकालीन स्थिति में/ तुम पर मीरजाफर/ या जयचंद का ठप्पा लगा/ तुम्हारी इज्जत को/ किसी चौमुहानी पर उलटा टांग/ तुम्हारे खिलाफ/ अदालत में राजद्रोह का मुकदमा चलाया जायेगा।*” फिर सत्ता-संघर्ष तो दूर की बात रही जीवन को बचा पाना दुर्लभ हो जाएगा। यह भी सच है कि जीवन-यापन के जो संसाधन हैं उनका प्रयोग जनहित में किया भी नहीं गया और न ही तो किया जा रहा है। सत्ता परिवर्तन के बाद समाजवाद का जो नारा बुलंद किया जा रहा था वह यहीं से आयातित होकर आया था :- “*वे चाहते हैं/ मुझे देना/ नारे, भाषण, आश्वासन.../ मैं नहीं चाहता/ इनमें से कुछ भी लेना/ इस साल रिकार्ड उत्पादन हुआ/ भरी जा सकती हैं उनसे/ भूखों की अतड़ियाँ/ पर भरी जा रही हैं उनसे/ धन्नासेठों की*

तिजोरियाँ/ यही तो है समाजवाद/ नारा भी है कितना मोहक/ हटाओ गरीबी/ लाओ समाजवाद।”

समाजवाद की आड़ में जिस तरीके से आम जीवन को ढाल बनाया गया वह सब कवि ने अपने समय में भोगा है। उसके अपने समय में कैसे एक भोले-भाले मनुष्य को ‘खूँखार’ भेड़िये के भेष में परिवर्तित करने के खेल खेले जाते हैं यह भी उसने अपने सक्रिय दिनों में ठीक से देखा-परखा है। परिवेश को निर्जन जंगल के रूप में ढालने का पूरा प्रयास हुआ। संवाद की सभी सम्भावनाओं को षड्यंत्रकारियों द्वारा नष्टप्राय किया गया। सम्वाद-प्रिय लोगों को चुन-चुनकर ‘विलुप्त’ होने के लिए विवश किया गया। कवि की इस कविता को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जायेगा कि “चिड़ियों को मारा गया/ इसलिए कि/ उनके पंखों के पास था विस्तृत आसमान/ नीचे घूमती हुई पृथ्वी/ और वे/ इन सबको लांघ जाना चाहती थीं/ आदमियों को मारा गया/ इसलिए कि/ वे चिड़ियों की तरह उड़ना चाहते थे उन्मुक्त/ हवा की तरह बहना चाहते थे स्वच्छंद/ जल श्रोतों की तरह अपना तल/ स्वयं तलाश रहे थे/ चिड़ियों के लिए/ मौसम ने आँसू बहाये/ आदमियों के लिए आँसू बहाने वाले/ गिरफ्तार कर लिए गये।” ये गिरफ्तारियाँ अनवरत चालू हैं। आदमी के पक्ष में बोलने वाले हरेक मनुष्य को दलाल बनने को बाध्य किया जा रहा है या फिर राष्ट्रद्रोही। इस भय से जो सामाजिक हैं जिन्हें समता और बंधुत्व प्रिय है वे चुप नहीं हो जाते। वे सही अर्थों में नई परम्परा की शुरुआत करते हैं। लोगों के बीच पहुँच कर उनसे सीधे संवाद करते हैं।

यह समय या कोई भी समय कभी ऐसा नहीं रहा है कि आप चुप और शांत रहें और वह आपको समृद्धि के मार्ग तक पहुँचा दे। यहाँ तक पहुँचने के लिए संघर्ष करना होता है। अपने अधिकारों के लिए लोगों को जोड़ना होता है। अपनी पूरी समझ के साथ जुलूसों में शामिल होना होता है। यह अक्सर लोग कहते हैं कि

जुलूसों में भागीदारी करना गलत है। “नारे और झंडे/ उत्सुकता/ और कई बार मनोरंजन के करीब/ बहुत-बहुत करीब हुआ करते हैं/ किन्तु जब आदमी और भूख के बीच/ कोई गैप नहीं रह जाता/ तब नारे और झण्डे/ जिन्दगी के सवालों का जवाब देने लगते हैं।” ये झंडे सबके बस की बात नहीं हैं। नारे सबके हिम्मत की बात नहीं हैं। इनके लिए निःस्वार्थता चाहिए। किसी और के लिए मर मिटने की खाहिश जहाँ प्रबल होगी वहीं ‘नारे और झंडे/ जिन्दगी के सवालों का जवाब’ देने में सक्षम होंगे। कवि ऐसे लोगों को चिह्नित करने की कोशिश करता है जो सत्तासीन दल के नहीं जनता का प्रतिनिधित्व स्वीकारते हैं। कवि-दृष्टि में “कुछ लोग हैं जो सरकार को काम नहीं करने देते/ भोली-भाली जनता को परेशान करते हैं/ वे जनता को जगाने की बात करते हैं/ वे भूख की बात करते हैं/ वे गरीबी की बात करते हैं/ वे मेंहगाई की बात करते हैं/ और तो और/ सबसे बड़ी बात कि/ वे सरकार बदल देने की बात करते हैं/ और इस तरह वे सरकार की नींद हराम कर देते हैं।” क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक सरकार की नींद हराम नहीं होगी तब वंचितों और उपेक्षितों के साथ न्याय नहीं हो सकेगा।

कवि जानता है कि देश का अतीत विभिन्न दृष्टि से खंडित और विभाजित रहा है। सामाजिकता की भावना तब तक साकार नहीं हो सकती जब तक कविता की ‘जरूरत’ को सही अर्थों में नहीं पहचाना जायेगा। कौशल किशोर कहते हैं “आओ/ दे दें अपनी कविताएँ/ उनके हाथों में/ जिनके लिए सही अर्थों में/ कविताएँ होनी चाहिए।” कविता का मुख्य कार्य है समय की मूल जरूरत को पहचानना, सोई प्रतिभावों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना। कवि महसूस करता है कि सृजन के कारवाँ को ले चलने में वे सफल नहीं सिद्ध हो सकते जो सुविधाओं की दुनिया में पले-बढ़े हैं। जिन्होंने अभावों के दंश को झेला है वे वक्त का महत्त्व तो पहचानते ही हैं यह भी जानते हैं



कि सही समय और सार्थक जगहों पर 'श्रम' का प्रयोग करने में ही 'संघर्ष' की सार्थकता है। कवि स्वयं सृजन-संघर्ष से प्राप्त परिणाम का उद्घोष करता हुआ कहता है कि "श्रम नहीं बिकेगा/ कोठियों के हाथों/ नहीं रहेगा गुलाम/ जोतेदारों की ड्योढ़ियों में/ वह स्वतंत्र हो/ पूँजी के महल को/ नस्तनावृत कर/ करेगा नव सृजन/ बनायेगा नयी दुनिया।" कवि की आशानुरूप श्रमिक पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बनने की बजाय जिस नई दुनिया का सृजन करेगा उसमें सबसे अलग जो चीज होगी वह साहस के साथ खड़े होने की निर्भीकता होगी। यह नई दुनिया का कवि ही है जो विसंगतियों का रोना रोने की बजाय स्पष्ट संदेश देता है :- "जी हाँ, मैं भूख नहीं/ भूख का इलाज हूँ/ मैं बीमारी नहीं/ बीमार का डॉक्टर हूँ/ मैं विकट परिस्थितियों से हार कर/ भाग कर/ आत्महत्या का निष्कर्ष नहीं हूँ/ जो लोग पूरी दुनिया में/ भूख, बीमारी/ और आत्महत्या का सौदा करते हैं/ उन्हीं के खिलाफ एक आवाज हूँ मैं/ इन्कलाब हूँ मैं।"

कविता में यदि 'हत्यारों के खिलाफ' आवाज उठाने और स्वतंत्रता के समर्थन में इन्कलाब होने का दमखम नहीं रखती तो उसे समकालीन हिंदी कविता के दायरे में नहीं रखना चाहिए। समकालीन हिंदी कविता की मुख्य चिंता सबके लिए समान रूप से मानवीय अवसरों की उपलब्धता कराना है। जो है वह सबके पास हो और जो नहीं है उसके लिए सभी मिल कर प्रयास करें। यह विडंबना है कि देश-समाज में वर्तमान जीवन-संसाधनों की उपलब्धता बहुत कम लोगों के हाथों में कैद हो कर रह गयी है। देश की बहुसंख्यक या तो भूखे रहने के लिए अभिशप्त है या फिर सीमित संसाधनों की उपलब्धता में जीवन-यात्रा को समाप्त करने के लिए विवश। एक जागरूक व्यक्तित्व के लिए ये दोनों स्थितियाँ किसी बड़ी घटना से कम नहीं हैं। समस्याओं का निवारण होना जरूरी है और उससे भी जरूरी है उन समस्याओं का चिह्नित किया जाना,

जिनके दायरे में मानवीय सम्भावनाओं का कत्ल किया जा रहा है। कौशल किशोर की कविताएँ अपने समय की इन समस्याओं को चिह्नित करने में निश्चित ही गंभीर हैं। कौशल किशोर के यहाँ बंधी-बंधाई लकीर पर चलने की मजबूरी नहीं है इसलिए वह अपने यहाँ 'कविता का नया आदमी' सृजित करता है :- "मेरी कविता में पैदा हो रहा है/ एक नया आदमी/ और वह/ इस धरती पर पैदा हो रहे/ हर नये आदमी को करता है सलाम/ लाल सलाम!/ वह जीता है जेल में/ जंजीरों-हथकड़ियों के बीच/ पर वह पैदा करता है/ मेरी कविता में अटूट विश्वास/ कि क्रांति जारी रहेगी/ यह कितना जघन्य अपराध है/ कि मेरी कविता के नए आदमी के जन्मते ही/ इस देश में उसके खिलाफ हर रोज/ षड्यंत्रों के नये-नये जाल रचे जा रहे हैं/ फिर भी, कविता का नया आदमी/ इस सत्य से भिन्न है/ कि खूनी दरिंदों की नंगी संगीनों के खिलाफ/ लड़ाई चाहे शब्दों से लड़ी जाये/ या सड़क पर/ उसे ही, सिर्फ उसे ही विजयी होना है।"

'विजयी होना' का निश्चिन्त भाव कवि का घमंड या आत्मालाप नहीं है अपितु यही समकालीन हिंदी कविता की शक्ति है जो हर हाल में आम आदमी का पक्ष लेकर चलती है। समकालीन हिंदी कविता की मुख्य चिंता सबके लिए समान रूप से मानवीय अवसरों की उपलब्धता कराना है। जो है वह सबके पास हो और जो नहीं है उसके लिए सभी मिल कर प्रयास करें। यह विडंबना है कि देश-समाज में वर्तमान जीवन-संसाधनों की उपलब्धता बहुत कम लोगों के हाथों में कैद हो कर रह गयी है। देश की बहुसंख्यक या तो भूखे रहने के लिए अभिशप्त है या फिर सीमित संसाधनों की उपलब्धता में जीवन-यात्रा को समाप्त करने के लिए विवश। एक जागरूक व्यक्तित्व के लिए ये दोनों स्थितियाँ किसी बड़ी घटना से कम नहीं हैं। समस्याओं का निवारण होना जरूरी है और उससे भी जरूरी है उन समस्याओं का चिह्नित किया जाना, जिनके दायरे में मानवीय



संभावनाओं का कल किया जा रहा है। कौशल किशोर की कविताएँ अपने समय की इन समस्याओं को चिन्हित करने में निश्चित ही गंभीर हैं।

कौशल किशोर के यहाँ आस्था-अनास्था के पारंपरिक प्रश्नों में उलझाव नहीं है अपितु वैज्ञानिक सोच के दायरे में बढ़ते रहने की जिद है। यह जिद निरा लोक की जिद है जिसमें बार-बार क्षत-विक्षत, लहू-लुहान होने के बाद भी आम जनमानस न तो जिन्दगी जीने की संघर्षधर्मिता से पीछे मुड़ता है और न ही तो शोषण और दमन के आगे विवश होकर अपना हथियार डालता है। कविता के रास्ते कवि को बाल मनोविज्ञान की गहरी समझ है। कहानी के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचंद का 'हमीद' जहाँ बालमन के आदर्श की प्रेरणा है वहीं कौशल किशोर का बाल-मन सामाजिक संभावनाओं की तलाश का एक विशेष माध्यम है। 'कागज का पन्ना' अधिकांश बच्चों के लिए खेलने और मनोरंजन का साधन हुआ करता है। आज भी बच्चे जिन कागज के पन्नों से नाव बनाते हैं उन्हें पानी में तैराकर खुश हो लेते हैं उन्हीं बच्चों के अन्दर छिपी प्रतिभा की शिनाख्त करते हुए कौशल किशोर दावा करते हैं कि "इससे वे बना सकते हैं नाव/ उस पर सवार/ इरादों के पाल के सहारे/ वे पहुँच जायेंगे/ उन लोगों के पास/ जो धिरे हैं बाढ़ से/ कट गयी है उनकी जिंदगी सबसे/ बच्चे लायेंगे उन्हें/ जिन्दगी में वापस।" कवि को बड़ा

कहे जाने वालों से उम्मीदें नहीं हैं। वह जानता है कि बड़े दिखाई देने वाले और कहे जाने वाले लोग मानसिक रूप से अपरिपक्व और सामाजिक बोध से अनभिज्ञ लोग होते हैं। इनके अन्दर जाति-पांति, धर्म-सम्प्रदाय की विषाक्तता कूट-कूट कर भरी होती है। पढ़ाई-लिखाई-अनुभव के भार से बोझिल मानसिकता वालों की अपेक्षा कम-बुद्धि, नासमझ और नादान समझे जाने वाले "बच्चे अच्छे होते हैं/ इसलिए कि वे सबसे सच्चे होते हैं/ बच्चे जानते नहीं/ वे मानते नहीं/ धर्म और जाति की व्यवस्था/ बच्चे चाहते नहीं/ खांचों में बंटना/ उनमें सिमटना" क्योंकि दुनिया-व्यापार को वे समझे नहीं होते। वे अपने समय में यह नहीं जाने होते हैं कि लोगों को मनुष्य नहीं उसकी जाति और रुतबे से प्रेम है।

'वह औरत नहीं महानद थी' से होते हुए 'नयी शुरुआत' की दहलीज पर पहुँचना एक भरे-पूरे अनुभव जगत को प्राप्त करना है। इन दोनों संग्रहों में कौशल किशोर ने अपने जीवन-अनुभव को जितनी गहराई के साथ प्रस्तुत किया है, बहुत कम कवियों के यहाँ सम्भव हो पाता है। यह सम्भवतः इसलिए भी मुश्किल होती है कि कवि भी अवसर देखकर अपनी कविता की शक्ति निर्धारित करते हैं लेकिन कौशल किशोर के यहाँ एक-सी प्रतिबद्धता अनवरत देखने को मिलती है और वह है आम जनमानस के पक्ष में खड़े होने का साहस।

सहायक प्रध्यापक, हिंदी-विभाग, समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय,  
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, पंजाब, मो-8528833317

## अनाहत शब्द और जीवन-मूल्यों के कवि : त्रिलोचन

भैरव सिंह

आधुनिक हिन्दी कविता में त्रिलोचन एक प्रगतिशील कवि के रूप में विख्यात हैं। प्रगतिशील कवि महान मानवीय मूल्यों और मनुष्यता की खोज का कवि होता है। मनुष्य की 'जययात्रा' को सफल और सार्थक बनाने के लिए जितने भी तत्व आवश्यक होते हैं, वह सब उसकी कविताओं में निहित होते हैं। मसलन प्रेम, करुणा, संघर्ष, श्रम, साहस, आस्था, सौंदर्य, प्रकृति, मनुष्यता, सत्य, न्याय, जिजीविषा आदि। इन मूल्यों को वह मानव-जीवन व समाज में वैसे ही रोपने की कोशिश करता है, जैसे एक किसान अपने खेतों में बड़े ही संयमित और सधे रूप में धान की रोपाई करता चलता है। प्रगतिशील कवि रचनाकर्म को एक गंभीर सामाजिक दायित्व के रूप में लेता है। कविता उसके लिए केवल आत्मशोध या आत्मतुष्टि (आनंद) का माध्यम मात्र नहीं होती, बल्कि जीवन को रचने और सँवारने का पर्याय बन जाती है। केदार ने लिखा—'कि जब मरूँ संसार को संवारते-संवारते मरूँ, संवारने का सुख भोगते-भोगते मरूँ।' उसकी चिन्ता का केंद्र 'कविता' नहीं बल्कि 'जीवन' है—'धूप सुंदर/ धूप में जग रूप सुंदर/ ...सोचता हूँ क्या कभी/ मैं पा सकूँगा/ इस तरह/ इतना तरंगी/ और निर्मल/ आदमी का रूप सुंदर।' 'शब्द साधना' उसके लिए कवि-व्यक्तित्व और कविता को चमकाने का कारण नहीं बल्कि जीवन से कुछ बेहतरीन खोज लेने, पाने और फिर उसे बाँट देने के लिए है। लेकिन लेन-देन की यह प्रक्रिया तभी सफल और सार्थक होगी जब रचनाकार का 'लोकजीवन से गहरा जुड़ाव' होगा। अन्यथा नहीं। यह जुड़ाव ही उसके भीतर की जड़ता, निराशा, कुंठा आदि को समाप्त कर उसे नई आशा, दृढ़ संकल्प, साहस और ओज से भरकर जीवन व संसार को नए सिरे से बदलने की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया के लिए उत्साहित और प्रेरित करती है। त्रिलोचन ने रचनाकर्म के इस मूलमंत्र को जान लिया था—'मुझमें जीवन की लय जागी/ मैं धरती का हूँ अनुरागी/ जड़ीभूत करती थी मुझको/ वह संपूर्ण निराशा त्यागी/ मैं निर्भय संघर्ष-निरत हो/ बदल रहा संसार तुम्हारा।' प्रगतिशील कवि और उसकी कविता की यह अपनी विशेषता है कि आप उसे जहाँ से भी टटोलने या पकड़ने की कोशिश करें एक चीज जो आपको समान रूप से सर्वत्र मिलेगी वह है—जीवन के प्रति उसका झुकाव। यह झुकाव ही उसे सहजता की उस भूमि पर ले जाता है जहाँ उसका सृजनकर्म 'जीवन सौंदर्य' का कारण बन जाता है।

नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की त्रयी हिन्दी में प्रगतिशील कविता की धुरी मानी जाती हैं। रचनात्मक उद्देश्य की एकता होने के बावजूद यहाँ 'हर एक का अपना अनुभव है, अपनी दृष्टि है और अपना मत' है। नागार्जुन और केदार की कविताओं का स्वर बहुत कुछ एक-सा है, लेकिन त्रिलोचन के यहाँ जीवन के धूप-छाँही झिलमिल की आभा और उसको अभिव्यक्त करने का ढंग तनिक जुदा है। प्रगतिशील कविता की यथार्थवादी धारा के विकास में त्रिलोचन की अलग भूमिका पर विचार

करते हुए मैनेजर पांडे ने लिखा-“त्रिलोचन का यथार्थवाद दूसरे कवियों के यथार्थवाद से कुछ अलग है। उसमें न कहीं भावुकता है, न झूठा आशावाद; न काल्पनिक संघर्षों के अमूर्त चित्र हैं, न मारो-मारो, काटो-काटो की ललकार है। वहाँ जनशक्ति में आस्था है, संघर्ष के लिए आह्वान है, मुक्ति आंदोलन के गीत भी हैं, लेकिन यह चेतावनी है कि-‘सोच समझकर चलना होगा।’ उनकी कविता का मुख्य स्वर यह है-‘भाव उन्हीं का सबका है जो थे अभावमय/ पर अभाव से दबे नहीं, जागे स्वभावमय।’ जो लोग जन जीवन की कविता में केवल आशा और उल्लास देखना चाहते हैं, उनको लक्ष्य करके त्रिलोचन ने लिखा-‘अगर न हो हरियाली/ कहाँ दिखा सकता हूँ? फिर आँखों पर मेरी चश्मा हरा नहीं है। यह नवीन ऐयारी/ मुझे पसंद नहीं है/ जो इसकी तैयारी करते हों वे करें/ अगर कोठरी अंधेरी है तो उसे अंधेरी समझने-कहने का मुझको है अधिकार।” अगर जनता के जीवन में संघर्ष और दुःख है तो उस वास्तविकता को झुठलाना गलत है। लेकिन वह यह भी जानते हैं कि ‘दुख के तम में जीवन-ज्योति जला करती है।’ वे किसान-जीवन की करुण कहानी नहीं कहते, उसके स्वाभिमान की रक्षा को महत्व देते हैं। उनकी कविता में किसान-जीवन का यथार्थ सच्चे और खरे रूप में है, न वह भावुकता के उच्छ्वास में डूबा है, न विचारधारा के आग्रह से ढँका है। त्रिलोचन इसी सजग किसान-दृष्टि से समाज, प्रकृति और विश्व को देखते हैं।”

त्रिलोचन की कविताओं में जीवन की वास्तविकताएँ बड़े ही सहज रूप में सामने आती हैं। जीवन का सहज, स्वभाविक, शांत किन्तु गतिशील चित्र बिना किसी तामझाम और शोर-शराबे के। जीवन के यही शांत, सहज, स्वभाविक चित्र उनकी कविताओं में सौंदर्य का आधार बनते हैं। कुछ-एक कविताओं को उदाहरण स्वरूप देख लें। ‘धरती’ संग्रह में संकलित उनकी एक प्रसिद्ध कविता है-‘चम्पा काले काले अच्छर नहीं चीन्हती।’ चम्पा सुंदर ग्वाला की अच्छी, चंचल, उधम मचानेवाली

लड़की है, जो पढ़ने-लिखने की उम्र में चौपायों को लेकर चरवाही करने जाती है। कवि उसे यह सीख देता है कि-‘तुम भी पढ़ लो/ हारे-गाढ़े काम सरेगा।’ गाँधी जी की भी यही इच्छा है कि-‘सब जन पढ़ना-लिखना सीखें।’ जीवन में पढ़ने-लिखने के महत्व को समझाते हुए कवि चम्पा से कहता है-‘पढ़ लेना अच्छा है/ ब्याह तुम्हारा होगा, तुम गौने जाओगी/ कुछ दिन बालम संग-साथ रह चला जाएगा जब कलकत्ता/ कैसे उसे सँदेसा दोगी/ कैसे उसके पत्र पढ़ोगी।’ गाँव की यह चंचला जिस निपट गंवई सयानेपन के साथ कवि को जवाब देती है, वह हमें कई दृष्टिकोण से सोचने व समझने को विवश करता है-‘तुम कितने झूठे हो, देखा,/ हाय राम; तुम पढ़-लिखकर इतने झूठे हो/ मैं तो ब्याह कभी न करूँगी/ और कहीं जो ब्याह हो गया/ तो मैं अपने बालम को संग-साथ रखूँगी/ कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी/ कलकत्ता पर बजर गिरे।” यहाँ दो पंक्तियाँ गौर करने लायक हैं। पहली ‘तुम पढ़-लिखकर इतने झूठे हो।’ यह पंक्ति पढ़े-लिखे समाज पर कटाक्ष है, जिसकी जीवन शैली सहज, स्वभाविक न होकर दिखावे और जटिलता की ओर बढ़ती जा रही है। आवश्यकता से अधिक समझदारी, धूर्तता कहलाती है। गंवई समाज में अक्षर ज्ञान से ज्यादा जीवन से प्राप्त अनुभव का ज्ञान बोलता है। इसी अनुभव के आधार पर चम्पा कहती है-‘कलकत्ता पर बजर गिरे।’ यह पंक्ति हमारे मन में कई सवाल पैदा करती है। मसलन चम्पा क्यों कहती है कि कलकत्ते पर बजर गिरे? क्यों वह विवाह के बाद गाँव में ही अपने बालम के साथ सुखमय वैवाहिक जीवन को नहीं जी सकती? क्यों उसका बालम कलकत्ते जाने को विवश है? इन सारे सवालों का एक ही जवाब है-‘पूँजी’। आज के पूँजीवादी समाज में ‘पूँजी’ ही सुखमय जीवन का आधार है। लेकिन पूँजी के स्रोत का आधारभूत ढाँचा गंवई जीवन से बहुत दूर शहरों में विकसित होता जा रहा है। आजादी के बाद जितना विकास शहरों में दिखाई

पड़ता है उतना गाँवों में नहीं। इसीलिए उत्तर भारत के अधिकतर परिवारों में युवा अपना घर-परिवार छोड़कर बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए शहर की तरफ भागता है और न जाने कितनी चंपाओं को अकेले ही गाँवों में गुजर बसर करना होता है। यह कविता 'पूँजी के विरुद्ध प्रेम के प्रतिरोध' की कविता है।

त्रिलोचन की ऐसी ही एक कविता है- 'परदेशी के नाम पत्र', जिसमें आर्थिक तंगी की वजह से गाँव का खेतिहर शहर जाकर मेहनत-मजदूरी करता है और उसकी पत्नी गाँव में अकेले रह जाती है। पति और पत्नी दोनों की जीवनदशा और मनोदशा का बड़ा ही सटीक चित्रण त्रिलोचन ने इस कविता में किया है। लंबे समय तक पति की कोई खबर न मिलने पर पत्नी घर का हालचाल बताती हुई शिकायत भरे लहजे में पति को पत्र में लिखती है- 'और वह बछिया कोराती है/ यहाँ जो तुम होते/ देखो कब ब्याती है।' ...तुम्हें गाँव की क्या कभी याद नहीं आती है/ आती तो आ जाते/ मुझको विश्वास है/ थोड़ा लिखा समझना बहुत/ समझदार के लिए इशारा ही काफी है।' पति पत्र के जवाब में लिखता है- 'सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आई/ झूठ क्या कहूँ/ पूरे दिन मशीन पर खटना/ बासे पर आकर पड़ जाना और कमाई/ का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना/ इस-उस पर मन दौड़ाना, फिर उठकर रोटी करना, कभी नमक से कभी साग से खाना/ ...धीरे धीरे आज कल करते तब आऊँगा/ जब देखूँगा अपना घर कुछ कर पाऊँगा।' यह कवि कल्पना नहीं बल्कि खेतिहर-मजदूरों के जीवन की वह त्रासद सच्चाई है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। जीवन के इस कठिन रूप को जिस कुशलता से चित्रित किया गया है, वह यथार्थवादी कला की देन है। ऐसी त्रासद जीवन-स्थितियों से गहरा परिचय होने के कारण ही कवि पूछ बैठता है- 'हाथों के दिन कब आएँगे/ कब तक आएँगे, यह कोई नहीं बतलाता।'

'धरती' संग्रह में एक कविता है- 'भोरई केवट के घर'। भोरई जिस गाँव का निवासी है वह रेल-तार से बहुत दूर है। अनपढ़ देहाती होने के नाते 'राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति, पूँजीपतियों की चालें' वह नहीं समझ पाता लेकिन जीवन के अनुभव से उसने इतना अवश्य जान लिया है कि जिस 'महँगाई' ने उसका जीवन तबाह कर दिया उसका कारण है 'लड़ाई' यानी दूसरा विश्वयुद्ध। वह कहता है- 'बाबू, इस महंगी के मारे किसी तरह अब तो/ और नहीं जिया जाता/ और कब तक चलेगी लड़ाई यह।' <sup>6</sup>

त्रिलोचन के काव्य-संसार में हमें भोरई केवट, चम्पा, नगई, महारा, लखमनी, भिखरिया जैसे ग्रामीण परिवेश से संबंधित चरित्रों की सृष्टि ही अधिक मिलती है। इन चरित्रों को माध्यम बनाकर कवि 'ठोस अनुभवों की उस दुनिया' से हमारा परिचय कराता है जैसा 'प्रेमचंद के कथा-साहित्य' में मिलता है। त्रिलोचन की कविता के केंद्र में वह मनुष्य है। जिनकी साँसों को आराम नहीं, जिन्होंने सारा जीवन समाज की कल्मष धोने में लगा दिया और जो अपने जीवन की बाजी लगाकर आगामी मनुष्यता का पथ तैयार करने को तत्पर हैं। लेकिन जब यही मनुष्य शासन व सत्ता द्वारा छला जाता है, देश के नेताओं व नौकरशाहों के द्वारा पूँजीपतियों के शोषण का माध्यम-मात्र बना दिया जाता है तब उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए कवि को आवाज उठानी ही पड़ती है। प्रगतिशील कवि जीवन के इस लड़ाई को कविताओं में लड़ता है। क्योंकि उसके लिए कविता जीवन से अलग या ऊपर की चीज नहीं है। कविता की सार्थकता जीवन की सार्थकता से जुड़ने में ही है।

देश के लाखों-करोड़ों लोगों ने एक साथ मिलकर 'आजाद भारत' के सपनों की लड़ाई लड़ी। देश आजाद भी हुआ। लेकिन इस आजाद भारत में नगई महारा, भोरई केवट, चम्पा, अवतरिया, भिखरिया, लखमनी जैसे न जाने कितने लोग हैं जिनके सपनों को आज

तक उड़ान नहीं मिली। देश के पहले आम चुनाव से लेकर आज तक के चुनाव के मूलभूत मुद्दों (रोटी, कपड़ा, मकान, बेरोजगारी) में कोई बदलाव नहीं आया है। जियावन ने चुनाव में नेहरू जी को बोलते हुए सुना था- 'रोटी कपड़ा सबको किसी तरह देना है/ नाव पड़ी है लहरों में, उसको खेना है/ सब कुछ नया करेंगे/ यह खाली भंडार भरेंगे, विपद हरेंगे।' लेकिन हुआ क्या- 'वे नेहरू जो अपनों को भरते हैं गिन गिन।' कथनी और करनी का यह फर्क जियावन में यह विश्वास पैदा करता है कि- 'पंख लगाकर कौवा फिर मोर न होगा।' भोली-भाली जनता को देश के नेताओं ने बड़े-बड़े सपने दिखाए, झूठे वादे किए और जनता इनकी सारी करतूतों की मूक दर्शक बन बैठी- 'जिसने भोगा है वह तो गूंगी जनता है जिसे जवाहर/ जय प्रकाश गोलवलकर फुसलाया करते हैं/ स्वर्ग तुम्हें हम दिखलाएंगे।' आजाद भारत में गाँधी ने रामराज्य का सपना लोगों के सामने रखा। भारत के आम लोगों के लिए रामराज्य आया की नहीं यह तो पता नहीं लेकिन देश के नेताओं, पूंजीपतियों और नौकरशाहों के लिए अवश्य ही रामराज यहाँ स्थापित हो गया। रामराज्य की असल तस्वीर को दिखलाते हुए त्रिलोचन ने लिखा- 'भीषण कमी अन्न की, बलात्कार की अनुदिन/ बढ़ने वाली गाथाएँ, हत्याएँ, डाके/ चोरी, रिश्वतखोरी, कोई बुरा न ताके/ रामराज्य है।' इस व्यवस्था में- 'अच्छाई इन दिनों बुराई के घर पानी/ भरती है, क्या ठाट बुराई ने बाँधे हैं/ बड़े-बड़े अड़ियल भी हार गए... कहीं किसी ने भौंहें तानी/ उसको निबटाया।' इसीलिए केदार ने लिखा- 'आग लगे इस रामराज में।'।

त्रिलोचन के कवि-व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है- उसका सधा-संयमित स्वर। कवि प्रायः उद्विग्न नहीं होता। वह चाहे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विद्रूपताओं पर व्यंग्य कर रहा हो, चाहे अपनी देखी-भोगी गरीबी का बयान कर रहा हो अथवा मुक्ति का आह्वान, कहीं भी तीव्र भावाकुल आवेग, प्रहार या ललकार की

मुद्रा नहीं अपनाता। आवेगों की राग तनी रहती है, वह उन्हें उन्मुक्त नहीं छोड़ता। दरअसल त्रिलोचन घटनाओं के प्रभाव में आकर तीव्र आवेगों की तुरत प्रतिक्रिया करने वाले कवियों में नहीं हैं, बल्कि उन घटनाओं के मूल में स्थित जीवन-संवेगों के स्थिर आवेगों के कवि हैं। यही वजह है कि हिन्दी का सामान्य पाठक आसानी से स्वयं को उनकी कविताओं से जोड़ नहीं पाता बल्कि पहले-पहल पढ़ते ही बिदकने लगता है। इस संदर्भ में अपनी राय रखते हुए मैनेजर पांडे ने लिखा- 'त्रिलोचन घटनाओं के कवि नहीं हैं। वे मूल्यों के कवि हैं। उनकी कविताओं में सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का चित्रण-वर्णन बहुत कम है, मानव-जीवन की दशाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति अधिक है। वे मानवीय अनुभवों और जीवन दशाओं की अभिव्यक्ति करते हुए संघर्ष, आस्था, जिजीविषा, प्रेम, न्याय और स्वतंत्रता जैसे जीवन-मूल्यों की व्यंजना करते हैं। ...घटनाओं की कविता हमारे सामने की वास्तविकता का बोध कराती है, इसलिए वह जल्दी मन को छूती है। मूल्यों की कविता सतह के नीचे छिपी सच्चाईयों को पहचानने की अंतर्दृष्टि देती है, इसलिए वह पाठकों से धैर्य की माँग करती है, धीरे-धीरे विवेक को प्रभावित करती है। यही कारण है कि त्रिलोचन की कविता कुछ देर से पाठकों को प्रभावित करती है, मन में जगह पाती है।'।<sup>9</sup>

दरअसल अपनी कविताओं के लिए त्रिलोचन का प्रयास 'अनाहत शब्दों' की ओर रहा- 'कैसे और कहाँ से शब्द अनाहत पाऊँ।' अनाहत शब्द से उनका आशय- 'वह शब्द जो कहीं से आहात (विशेषकर राजनीति) न हुआ हो।' शायद इसीलिए 'ठेठ राजनीतिक कविता' की ओर उनका झुकाव थोड़ा कम ही देखने को मिलता है। इसकी वजह से उन्हें अपने कवि-मित्रों की उपेक्षा, डांट-डपट सबकुछ सहना पड़ा। कवि और उसकी कविताओं को वह लोकप्रियता न मिली जिसका वह हकदार था। लेकिन त्रिलोचन ठहरे 'शास्त्री'। उन्होंने न स्वयं को बदला और न अपनी कविताओं

को। नामवर जी ने इस प्रसंग को विस्तार से समझाया है-‘नागार्जुन की स्पष्ट राय है कि कविता में स्पष्ट राजनीति के अभाव ने त्रिलोचन को काफी नुकसान पहुँचाया। नुकसान से आशय यदि नामयिक लोकप्रियता से है तो नागार्जुन की बात ठीक है। त्रिलोचन को नागार्जुन जैसी लोकप्रियता तो निश्चय ही न मिली। लेकिन यदि काव्य के स्तर पर देखें तो स्पष्ट राजनीति के प्रभाव से नुकसान तो नागार्जुन को ही हुआ है, त्रिलोचन से अधिक बल्कि त्रिलोचन बहुत कुछ बच गए हैं। फिर भी हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक कविताएँ अगर किसी ने लिखी हैं तो नागार्जुन ने ही। नागार्जुन की तरह यदि त्रिलोचन की स्पष्ट पक्षधरता हर क्षण प्रकट नहीं होती और वे गुस्सा करने के अवसर पर गुस्सा पी जाते हैं तो एक तरह से वे भारतीय किसान के अधिक निकट हैं। इस मामले में वे प्रेमचंद के होरी की परंपरा में हैं। सहिष्णुता और धैर्य के आगार। करुणा उनका स्थायी भाव है। संघर्ष के गहरे अनुभव से ही यह पीड़ा बोध, यह त्रासद चेतना उपलब्ध होती है।<sup>10</sup> यही वजह है कि नामवर जी उनकी कविताओं को देखने-समझने के लिए एक अलग ‘काव्य-दृष्टि’ की माँग करते हैं।

छायावाद के बाद हिन्दी में प्रगतिशील कविता (प्रगतिवाद) का दौर आया। प्रगतिशील कविता अपनी वैचारिक खुराक ‘मार्क्सवाद’ से ग्रहण करती है। मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन है, जो जीवन के साथ-साथ साहित्य के अवलोकन-मूल्यांकन के लिए भी दृष्टि देती है। लेकिन दिक्कत तब होती है जब कोई रचनाकार या आलोचक जीवन से बड़ा ‘दर्शन’ को समझने लगता है। दर्शन जीवन के लिए है, जीवन दर्शन के लिए नहीं। कोई भी विचार, सिद्धांत, दर्शन, कला ‘जीवन’ से बढ़कर नहीं। सब जीवन के कारण है। इनके कारण जीवन नहीं। जो लोग अपने आप को मार्क्सवादी कहने का दंभ भरते हैं वह कविताओं में केवल सामाजिक-राजनीतिक अंतर्विरोधों की छवियों

को उकेरते हैं या ऐसे विषयों को देखना पसंद करते हैं और अपने को कलावादी कहलाने का शौक रखते हैं वे कविताओं को जीवन से अलग ‘शुद्ध कला’ का विषय बताते हैं। लेकिन कविता जीवन से जुड़कर अपना घेरा इतना व्यापक और असीम कर लेती है कि कोई भी सिद्धांत, विचार, दर्शन उसे बांध नहीं पाता। कविता जीवन से जुड़कर ही उसके विविध रंगों को बिखेरती है। एकरस, निष्प्राण होने से बचती है। प्रगतिशील कवि (नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार) जीवन और कविता के इस अन्तःसंबंध को जानता है। इसीलिए यहाँ कविता का एकरस, एकरंग रूप आपको नहीं मिलेगा। रूप, रस, गंध, ध्वनि, स्पर्श से भरी कविता जीवन के उत्सव का गान बनकर यहाँ आती है। प्रगतिशील कविता जीवन में संघर्ष और कर्म करने की प्रेरणा देती है-‘तुम नष्ट करो सब भेदभाव/ तुम भरो निखिल जग के अभाव/ सब बाधा हर/ होकर तत्पर/ नव साहस भर/ तुम विजयी बन कर अपना नियमन आप करो/ जीवन की संचित व्याकुलता सब ताप हरो/ जग-जीवन तुम पर निर्भर/ तुम अपने बल पर निर्भर।’<sup>11</sup> संघर्ष की इस लड़ाई में जब अकेलापन बढ़ जाता है तो उसे अपनी प्राणप्रिया पत्नी की याद आती है-‘बांह गहे कोई, लहरों में साथ रहे कोई।’ प्रेम का यह उदात्त रूप उसमें ‘जीवन का लय’ पैदा करता है, जगत-जीवन का प्रेमी बनाता है। एकांत की ओर नहीं ले जाता-‘मुझे जगत-जीवन का प्रेमी/ बना रहा है प्यार तुम्हारा।’

प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में प्रगतिवाद पर गंभीर आरोप लगाए गए। मसलन प्रगतिवादी कविता ‘साहित्य का संकीर्णतावादी आंदोलन है, जिसमें रचनाकार की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है और प्रगतिवाद विषय-वस्तु पर अत्यधिक बल देकर विचारधारा की नारेबाजी का फार्मूला अपनाता है। इससे साहित्य की ‘कलात्मकता’ और ‘रूपविधान’ की भयंकर उपेक्षा होती है। प्रगतिशील साहित्य में ‘साहित्येतर मूल्यों’ को स्थान मिला किन्तु प्रयोगवाद कविता को



केवल 'काव्यात्मक मूल्यों' तक ही सीमित रखना चाहता था। इन आरोपों को पूरी तरह से सही नहीं माना जा सकता। यह सबकुछ एक सुनियोजित अभियान के तहत किया गया। प्रातिशील कवियों को यह समझने में देर न लगी कि 'शुद्ध कविता' की बात करना, 'शुद्ध व्यक्तित्व' की बात करना उन्हें 'जनपथ' से हटाने का एक तरीका है। उनकी चालों की कलई खोलते हुए त्रिलोचन ने लिखा- 'प्रतिभा नहीं चाहिए, मेरे गुट में आओ/ इधर-उधर मत भटको/ देखो स्वयं जमाना/ बहुत बुरा है, बेकारी छाया है। जाना/ सुना तथ्य है/ जाओ वहाँ जहाँ सुख पाओ/ अपना है रेडियो, वहाँ बोलो या गाओ/ जगह-जगह शाखाएँ हैं, अब नाम कमाना/ और डूबाना अपनी इच्छा पर है। आना/ चाहो आ जाओ, या चूको फिर पछताओ।' लेकिन प्रगतिशील कवियों के लिए 'जन' की प्रतिबद्धता, व्यापक जन जीवन की खुशी ही सर्वोपरि है- 'धन की उतनी नहीं मुझे जन की परवा है।' जीवन में कोई भी प्रलोभन, पद उसे इस सिद्धान्त से डिगा नहीं सकता। इसीलिए वह 'जनकवि' कहलाता है। यह थाती उसे जीवन में सबसे अधिक प्रिय है, जिसके लिए वह कोई भी मूल्य चुका जाता है- 'बिस्तरा है न चारपाई है। जिंदगी हमने खूब पाई है। ठोकरें दर-ब-दर की थीं, हम थे, कम नहीं हमने मुंह की खाई है।'<sup>12</sup>

त्रिलोचन की कविता में न आपको 'समाजवाद' की हुंकार मिलेगी और न ही शिल्प और रूप की चमक-दमक। इन दोनों के बीच जहाँ कहीं 'जीवन' उपस्थित होता है त्रिलोचन की कविता आपको वहीं मिलेगी। त्रिलोचन 'जीवन के चित्रकार' हैं, जो समाज में उठने वाली ध्वनियों को ग्रहण कर उसका चित्र बना देने की कला में माहिर हैं। उन्हें यह बात भली-भाँति पता है कि- 'जीवन जिस धरती का है, कविता भी

उसकी', वह चाय की चुस्की और सिगरेट के धुओं के साथ पूरा किया जाने वाला कोई शगल नहीं बल्कि जीवन-साधना और तप है। कविता को रचने की प्रक्रिया जीवन को रचने की प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई है। 'धरती' का यह कवि जीवन के समक्ष विनत है। 'शब्द-साधना' उसके लिए 'जीवन की खोज' ही है। भाव, विचार, अनुभूति, शैली की स्पष्टता और सरलता उसकी कविता की आत्मा है। साधारण में भी अनिवार्य रूप से 'असाधारण' खोज लेना उसकी प्रतिभा है और जीवन की लय को कविता की लय बनाकर 'समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक' बनाने का संकल्प उसकी कविता का उद्देश्य है। कुल मिला-जुलाकर यही त्रिलोचन हैं और यही उनकी कविता का शास्त्र है।

#### संदर्भ सूची :-

1. केदारनाथ सिंह, संपादक, प्रतिनिधि कविताएं त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृष्ठ सं. 80
2. रवि रंजन, संपादक, लोकचेतना वार्ता, अंक 8-9, वर्ष 2018, पृष्ठ सं. 255
3. केदारनाथ सिंह, संपादक, प्रतिनिधि कविताएं त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृष्ठ सं. 14
4. वही, पृष्ठ सं. 58
5. गोविंद प्रसाद, संपादक, त्रिलोचन के बारे में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1994, पृष्ठ सं. 153
6. केदारनाथ सिंह, संपादक, प्रतिनिधि कविताएं त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृष्ठ सं. 65
7. रवि रंजन, संपादक, लोकचेतना वार्ता, अंक 8-9, वर्ष 2018, पृष्ठ सं. 197
8. वही, पृष्ठ सं. 198
9. गोविंद प्रसाद, संपादक, त्रिलोचन के बारे में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1994, पृष्ठ सं. 157-58
10. वही, पृष्ठ सं. 88
11. वही, पृष्ठ सं. 138
12. केदारनाथ सिंह, संपादक, प्रतिनिधि कविताएं त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृष्ठ सं. 21

प्रो. एम. एन. तिवारी, हिंदी भवन, विश्वभारती, जिला-वीरभूम, पिन : 731235, मो. 6296802087



## केदारनाथ सिंह एवं धूमिल की कविताओं में बिंब-विधान

पिंकी झा

बिंब कविता का एक अनिवार्य तत्त्व है। प्रारंभ से ही कवि अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा कविता में बिंब निर्माण करते आए हैं। काव्य के विभिन्न तत्त्वों की जब चर्चा की जाती है, तब बिंब की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'बिंब' के द्वारा कवि अपने अमूर्त भावों एवं विचारों को चित्रभाषा के माध्यम से मूर्त रूप देकर पाठक तक संप्रेषित करने का प्रयास करता है। कवि उनको इस प्रकार व्यक्त करता है कि कोई भी संवेदनशील पाठक उनको प्रत्यक्षवत अनुभव करने लगता है। बिंब-विधान एक ओर जहाँ कवि की प्रतिभा को उजागर करता है, वहीं दूसरी ओर भाषा की सृजनात्मक शक्ति को भी बढ़ाता है। बिंब-विधान कविता को संश्लिष्ट एवं संप्रेषणीय बनाता है। 'बिंब' मूलतः एक आधुनिक प्रयोग है। इससे पहले काव्य में 'चित्रात्मकता' शब्द का ही प्रचलन था। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पाश्चात्य देशों में बिंबवाद आंदोलन चल पड़ा, जिसके प्रस्तुतकर्ता टी. ई. ह्यूम एवं एफ. आर. फ्लिट थे। इस आंदोलन के तहत कविता का मूल्यांकन बिंब के आधार पर किया जाने लगा और बिंब को ही कविकर्म की चरम उपलब्धि माना गया। इसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पड़ा और कवि अपनी कविताओं में नए-नए बिंबों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। प्रयोगवाद में कवियों ने बिंब-निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया है। अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर, धूमिल आदि कवियों ने अपनी कविताओं में उत्कृष्ट बिंबों का निर्माण कर हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

बिंब की चर्चा सर्वप्रथम पाश्चात्य काव्यशास्त्र में हुई, परंतु इस संबंध में सभी पाश्चात्य विद्वान एकमत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों ने बिंब के भिन्न-भिन्न पक्षों पर बल दिया है। कुछ विद्वानों ने ऐन्द्रियता पर बल दिया तो कुछ ने भाव पर। कुछ विद्वानों ने तुलना पर बल दिया तो कुछ ने समायोजन पर। कुल मिलाकर देखा जाए तो आरंभ में बिंब की दृश्यता पर बल दिया गया, परंतु बाद में उसे श्रवण, घ्राण, स्पर्श और स्वाद से भी संबद्ध माना गया। हिंदी में भी 'बिंब' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द के पर्याय के रूप में होता है। परंतु बिंब को केवल 'इमेज' से जोड़कर देखना उसे संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करना है, जो सर्वथा अनुचित है। आचार्य शुक्ल बिंब को नितांत दृश्य मानने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है-“काव्य का काम है 'कल्पना' में बिंब या 'मूर्त भावना' उपस्थित करना।”

अर्थात् उन्होंने बिंब को केवल दृश्य नहीं बल्कि कल्पना का भी विषय माना है। उन्होंने काव्य में अर्थग्रहण के साथ-साथ बिंबग्रहण को भी अपेक्षित माना है। अर्थात् वे 'बिंब' को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। 'आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान' में बिंब के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए केदारनाथ सिंह कहते हैं- "ऐन्द्रियता बिंब का प्रथम गुण है। हम न हवा का निर्माण करते हैं, न फूल का, न अन्न का और न धरती का 'हम केवल उस बिंब का निर्माण करते हैं जो हमें इन सभी वस्तुओं के संबंध से प्राप्त होता है। अतः वह व्यक्ति जिसकी संवेदनाएं कुंठित या निस्पंद हो गई हैं, कभी भी एक सफल बिंब को जन्म नहीं दे सकता। जिसका जीवन और जगत् के बृहत्तर यथार्थ से जितना गहरा रागात्मक संबंध होगा, वह उतने सफल बिंबों का निर्माण कर सकेगा।"

और आगे चलकर बिंब की परिभाषा इस प्रकार देते हैं- "बिंब वह शब्दचित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।"

इस प्रकार केदार जी स्पष्ट कर देते हैं कि 'बिंब' एक प्रकार का शब्दचित्र है जिसका निर्माण कल्पना के द्वारा होता है। और जिसके लिए ऐन्द्रिय अनुभव के आधार का होना अत्यंत आवश्यक है। प्रस्तुत आलेख में कवि केदारनाथ सिंह एवं धूमिल की कविताओं में बिंब-विधान का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

नयी कविता से अपनी काव्य-यात्रा प्रारंभ करने वाले कवि केदारनाथ सिंह समकालीन हिंदी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। सर्वप्रथम उनकी कविताएँ तीसरा सप्तक(1959) में व्यवस्थित रूप से प्रकाशित हुईं। इसके बाद 'अभी बिल्कुल अभी'(1960), 'जमीन पक रही है'(1980), 'यहां से देखो'(1983), 'अकाल में सारस'(1988), 'उत्तर कबीर' तथा अन्य कविताएँ (1995), 'बाघ'(1996), 'तालस्ताय और साइकिल' (2005), 'सृष्टि पर पहरा' (2014), 'मतदान केंद्र पर

झपकी' (2018) आदि उनकी महत्वपूर्ण प्रकाशित काव्य-कृतियां हैं।

केदार जी की साहित्य-यात्रा सन् 1952-53 से प्रारंभ होकर सन् 2018 मृत्यु पर्यंत चलती है। इस दौरान साहित्य में कितने ही आंदोलन चले और कितने ही खत्म हुए, उन सबको केदार जी ने देखा एवं महसूस किया है। उन आंदोलनों से प्रभावित हुए भी और प्रभावित किया भी है। केदार जी ने आरंभ में कुछ गीत लिखे परंतु आगे चलकर कविता को ही अपनी मूल विधा के रूप में स्वीकार किया। केदार जी की कविताएँ बिंब की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण हैं। 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही उनकी कविताएँ अपने ताजे-टटके बिंबों के कारण आलोचकों के आकर्षण का केंद्र बन गए। उन्होंने प्रकृति के छोटे-छोटे संवेदनात्मक चित्रों को बिंब के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जैसे 'तीसरा सप्तक' में प्रकाशित 'बसंत गीत' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं- "यह कैसा वातास/ कि मन को नयन-नयन कर दिया/ गीत को चुप्पी से भर दिया।"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने मूर्त के माध्यम से अमूर्त भावों को अभिव्यक्त कर दिया है। 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में केदार जी अपनी कविताओं में बिंब की स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं- "कविता में सबसे ध्यान देता हूं बिंब-विधान पर। बिंब-विधान का संबंध जितना काव्य की विषय वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।"

स्पष्टतः केदार जी का मानना है कि बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों और बिंबों की सहायता के मानव अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असंभव है। केदार जी किसी भी भाव को उसकी सूक्ष्मतम स्थिति में पकड़ लेते हैं और बिंब द्वारा शब्दबद्ध कर देते हैं। एक शिशु के मनोभावों का बिंब 'इंद्रधनुष' में देखा जा सकता है- "छत पर आकाश/ आकाश में/ रखी हुई/ सतरंगी बांस की टेढ़ी सी-कुर्सी / कुर्सी में/ मैं हूँ।"

केदारजी की कविताओं में अनुभव की सच्चाई है। वे अपनी कविताओं में जीवन और जगत के दृश्यों के ऐसे बिंब प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के सामने मूर्त हो उठता है। ‘शामें बेच दी हैं’ कविता में कवि ने शाम के विभिन्न दृश्यों के माध्यम से लोकजीवन को मूर्त कर दिया है- ‘शामें बेच दी हैं’/ वो मिट्टी के दिन, वो घरों/ दा की शाम/ वो तन मन में बिजली की कौंधों की शाम/ मदरसों की छुट्टी वे छंदों की शाम/ वो घर-भर में गोरस के गन्धों की शाम/ वो दिन भर का पढ़ना, वो भूलों की शाम।’

इसी प्रकार ‘धानों के गीत’, ‘पात नये आ गए’ और ‘बादल ओ’, ‘विदा-गीत’ कविताओं में प्रकृति के साथ-साथ लोकजीवन को भी बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। ‘दुपहरिया’ शीर्षक कविता में कवि ने दोपहर के वातावरण के चित्रण के माध्यम से अपने मन की उदासी को व्यक्त किया है- “झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की/ उड़ने लगी बूझे एक खेतों से/ झुर झुर सरसों की रंगिनी,/ धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों/ सुधियों की चादर अनिबीनी,/ दिन के इस सुनसान पहर में रुक-सी गई प्रगति जीवन की।”

उपर्युक्त पंक्तियों में हम देख सकते हैं कि कवि ने अपने मन के भावों को किस प्रकार वातावरण पर आरोपित किया है। दोपहर का यह चित्र कवि के मन की उदासी को और अधिक बढ़ाने वाला है।

केदारनाथ सिंह एक साथ ही गांव एवं शहर दोनों के कवि हैं। केदार जी का आरंभिक जीवन गांव में बीता, बाद का दिल्ली जैसे महानगर में। केदार जी के पिता किसान थे। इसीलिए उन में किसानी संस्कार दिखाई पड़ते हैं। ‘बादल ओ’ कविता में धान के छोटे-छोटे पौधों को बच्चों के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा नवीन प्रयोग है। यहाँ कवि प्रकृति का मानवीकरण कर नवीन बिंब की सृष्टि करता है- “हम नये-नये धानों के बच्चे/ तुम्हें पुकार रहे हैं/ बादलो ओ! बादलो ओ!

बादलो ओ!”

धान के खेत का ऐसा बिंब प्रस्तुत करना वस्तुतः किसानी संस्कार की देन है। केदार जी की कविताओं में बिंब के सभी रूप यथा दृश्य बिंब, स्पर्श बिंब, ग्राण बिंब आदि सभी के दर्शन होते हैं। ‘बीमारी के बाद’ कविता में स्पर्श बिंब का एक उदाहरण देखा जा सकता है- “कई दिनों बाद मैं फिर खड़ा हूँ/ फिर चल रहा हूँ मैं/ मेरे तलुओ में पृथ्वी फिर महसूस हो रही है।”

केदार जी के बाद की कविताओं में जैसे-जैसे संवेदनाएं तीक्ष्ण होती गई हैं वैसे-वैसे उनके बिंबों में भी तीक्ष्णता आयी है। उनमें अब रूमानीयत की अपेक्षा प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। जैसे ‘हाथ’ शीर्षक छोटी-सी कविता को देखा जा सकता है- “उसका हाथ/ अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा/ दुनिया को/ हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए।”

केदारनाथ सिंह आरंभ में बिंब पर सर्वाधिक बल देते हैं। उनकी आरंभिक छवि रोमांटिक कवि की रही है, पर आज वे एकमात्र ऐसे कवि हैं जो एक साथ ही जनवादी कवि भी हैं और रूपवादी भी। कविता के रूप को लेकर अत्यंत सजग रहने वाले कवि हैं। वे कहते हैं कि मैं ऐसा कतई नहीं मानता कि बिंब प्रधान कविता प्रगति-विरोधी या जन-विरोधी है। यदि ऐसा मान ले तो नेरुदा और हिंदी में शमशेर जी की असंख्य कविताओं को प्रगतिशील दायरे से खारिज कर देना पड़ेगा। ‘तीसरा सप्तक’ के प्रकाशन से पूर्व ही कवि(1959) के पहले अंक में नामवर सिंह केदार जी के बारे में कहते हैं- “चित्र नई कविता की कसौटी है और इनके जरिए किसी कवि की अनुभूतियों के क्षेत्र और साथ-साथ उसकी कला शक्ति का पता चल सकता है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि चित्र-चयन और चित्र-रचना अर्थात् चित्रों द्वारा उपयुक्त रागबोध के ‘पैटर्न’ का निर्माण की जैसी क्षमता केदारनाथ सिंह में है वैसी आज किसी में नहीं।”

केदारनाथ सिंह अपनी कविताओं में जीवन और

जगत के दृश्यों के बिंब इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के सामने मूर्त हो जाता है। 'यहाँ से देखो' संग्रह की कविता 'ऊँचाई' में कवि ने ऊँचाई के बिंब के माध्यम से शहरी जीवन को स्पष्ट उजागर कर दिया है। कवि को वह ऊँचाई पसंद नहीं जिसमें जन से कोई सरोकार न हो- "मैं वहाँ पहुँचा/ और डर गया/ मेरे शहर के लोगों/ यह कितना भयानक है/ कि शहर की सारी सीढ़ियाँ मिलकर/ जिस महान ऊँचाई तक जाती है/ वहाँ कोई नहीं रहता।"

'अकाल में सारस' संग्रह का मूल स्वर जिजीविषा है। मानव की इसी दुर्घर्ष जिजीविषा को कवि ने 'दूब' के बिंब के माध्यम से उजागर किया है- "लांघता हूँ कुएँ के पास की/ सुखी नाली/ कि अचानक मुझे दिख जाती है/ शीशे के बिखरे हुए टुकड़ों के बीच/ एक हरी पत्ती / दूब है/ हाँ-हाँ दूब है/ पहचानता हूँ/ लौटकर या खबर देता हूँ पिता को/ अंधेरे में भी दमक उठता है उनका चेहरा/ है-अभी बहुत कुछ है/ अगर बची है दूब/ बुदबुदाते हैं वे।"

केदार जी ने केवल सुंदर एवं मनोरम दृश्यों के ही बिंब प्रस्तुत नहीं किए बल्कि भयावह सामाजिक यथार्थ को भी प्रस्तुत किया है। 'चुनाव की पूर्व संध्या' में वे कहते हैं- "भेड़िये से फिर कहा गया है/ अपने जबरो को खुला रखे/ यह सारा देश/ उसमें झाँककर देखना चाहता है/ अपना चेहरा/ अपनी आँखें/ अपना ललाट।"

केदारनाथ सिंह स्वयं कहते हैं कि चित्र(image) उनकी संवेदना का पहला तत्त्व है। वे किसी भी दृश्य को एक चित्र के समान देखते हैं। उन में रंग भरते हैं। 'पर्व-स्नान' कविता में रंग और ध्वनि बिंब की सुन्दर सृष्टि की गई है :- "एक लाल क्रौंच/ चोंच से खुजला रहा था/ अपनी भूरी गर्दन/ एक काली स्त्री/ अर्घ्य देने के बाद अपने बाल सुखा रही थी/ ऊपर कौवे मंडरा रहे थे/ और नीचे/ कांपते हुए जल में/ अमरता की छपाछप होड़ मची थी।"

केदार जी की कविताओं पर बिंबवादी होने का

आरोप लगाया जाता रहा है। परंतु उनके लिए बिंब साध्य नहीं साधन है। वे स्वयं अपने साक्षात्कारों में यह स्पष्ट कर चुके हैं। वे 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "उस अवधि में बिंब का सवाल मेरे दिमाग पर काफी हद तक हावी था। इसलिए बिंब को अतिरिक्त महत्व देते हुए मैंने वह बात कही थी, जो एक अर्धपरिपक्व मन का वक्तव्य था.. .। पर यह जरूर है कि बिंब कविता का सब कुछ नहीं है और मैंने अपने उस वक्तव्य में एक बात तो स्पष्ट रूप से कही थी कि बिंब केवल रूप से संबंध नहीं रखता, वह स्वयं विषय वस्तु से भी उतना ही जुड़ा हुआ है।"

धूमिल साठोत्तरी कविता के महत्वपूर्ण कवि है। नई कविता में जहाँ हर बात प्रतीकों, बिंबों के माध्यम से कहने की कोशिश की जा रही थी, वहीं साठोत्तरी पीढ़ी के कवि ने उसे बेलाग, प्रत्यक्ष और आक्रामक भाषा के रूप में अभिव्यक्त किया है। धूमिल के काव्य की मूल प्रवृत्ति विद्रोहमूलक है।

'बांसुरी जल गयी' धूमिल की फुटकर शुरुआती गीतों का संग्रह है जो आज उपलब्ध नहीं है। धूमिल के मूलतः तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें से प्रथम 'संसद से सड़क तक'(1972) का प्रकाशन उनके जीवनकाल में ही हुआ। बाकी दो 'कल सुनना मुझे' (1977) और 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' का प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ। धूमिल गँवई अनुभव और किसानों संस्कार के कवि हैं। नई कविता में बिंबों के नए-नए प्रयोग किए गए। कवियों ने एक से बढ़कर एक प्रयोग किए और नवीन-नवीन बिंबों की उद्भावना की है। इसका प्रभाव यह हुआ कि धूमिल, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा आदि जैसे कवि जो अपनी बात को सीधे कहने में अधिक विश्वास रखते थे, अपने भावों को बिंबों के माध्यम से व्यक्त करने लगे। धूमिल ने 'मोचीराम' कविता में बसंत का बिंब प्रस्तुत किया है जिसने अधिकांश आलोचकों का ध्यान अपनी ओर

आकृष्ट किया है-“अब आप इस बसंत को ही लो/ यह दिन को तांत की तरह तांतता है/ पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले/ धूप में, सीझने के लिए/ लटकाता है।”

उपर्युक्त पंक्तियों में मोचीराम ने वस्तुजगत को बसंत पर आरोपित कर दोनों के भाव जगत को एक कर दिया है।

धूमिल अपनी कविताओं में वास्तविकता के आधार पर बिंब विधान करते हैं। उनके बिंब वास्तविकता को और अधिक संश्लिष्ट और सघन बनाते हैं। जनतंत्र में चुनाव की व्यवस्था है परंतु उसमें किस हद तक विभत्सता आ गई है, कवि ने इसे निम्न बिंब के माध्यम से प्रस्तुत किया है-“चुनाव है/ लेकिन मुझे लगा एक विशाल दलदल के किनारे/ बहुत बड़ा अधमरा पशु पड़ा हुआ है/ उसकी नाभि में एक सड़ा हुआ घाव है/ जिससे लगातार भयानक बदबूदार मवाद/ बह रहा है/ उसमें जाति और धर्म और संप्रदाय और/ पेशा और पूंजी के असंख्य कीड़े/ किलबिला रहे हैं और अंधकार में/ डूबी हुई पृथ्वी/ इस भीषण सरांध को चुपचाप सह रही है।”

उपर्युक्त पंक्तियां दृश्य एवं घ्राण बिंब का भी एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

धूमिल की कविताओं में सादृश्य के आधार पर भी बिंब निर्माण किया गया है। उनकी सांकेतिकता अत्यंत शक्तिशाली है। जनता के बारे में धूमिल कहते हैं-“जनता क्या है/ एक भेड़ है/ जो दूसरों के ठंड के लिए/ अपनी पीठ पर/ ऊन की फसल ढो रही है।”

यहां कवि ऊन की फसल ढो रहे भेड़ के दृश्य के माध्यम से जनता की स्थिति को उजागर किया है। यह पंक्तियां साधारण जनता के शोषण का चित्र प्रस्तुत करती हैं। किस प्रकार स्वार्थलोलुप सत्ताधारियों के हाथों जनता का शोषण होता है इसे दर्शाया गया है। समय-समय पर दिए गए धूमिल के वक्तव्यों के आधार पर यह सिद्ध किया जाता रहा है कि धूमिल सपाटबयानी

के कवि हैं। वे कविता में बिंबों, प्रतीकों को महत्व नहीं देते। धूमिल अपने लेख ‘कविता पर एक वक्तव्य’ में कहते हैं- “कभी-कभी या अधिकांशतः प्रतीकों और बिंबों के कारण कविता की स्थिति उस औरत जैसी हास्यास्पद हो जाती है जिसके आगे एक बच्चा हो, गोद में एक बच्चा हो और एक बच्चा पेट में हो।”

परंतु नंदकिशोर नवल जी इस उक्ति को ‘बिंबवाद’ का विरोध मानते हैं, बिंब का नहीं। धूमिल ‘बिंब’ को कविता का पर्याय नहीं मानते, परंतु बिंब के बिना वे चल भी नहीं सकते। वे काव्य में बिंबों की अधिकता के खिलाफ थे, बिंब के नहीं। धूमिल शौकिया चित्रकार भी थे इसलिए अपनी बात को बिंबों के माध्यम से कहते हैं, परंतु उनका ध्यान हमेशा कथ्य पर केंद्रित रहता है। धूमिल के काव्य में बिंब विधान की चर्चा करते हुए कुमार कृष्ण कहते हैं-“धूमिल की लंबी कविता ‘पटकथा’ एक विराट फलक पर स्वाधीन भारत की व्यथा-कथा ज्वलंत बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत करने वाली रचना कही जा सकती है।”

धूमिल की कविताओं की मूल चिंता स्वाधीन भारत में आम आदमी और उसकी दुर्दशा की चिंता है। वे अपने चारों ओर की स्थिति से अत्यंत आहत थे और उसके खिलाफ आवाज उठाते हैं। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में जनतंत्र के खोखलेपन को उजागर किया है। कवि ने मोहभंग की स्थिति को शीशे के बिंब के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है-“मैंने भी इस देश को/ एक जवान आदमी की/ रंगीन इच्छाओं की पूरी गहराई से/ प्यार किया था/ मगर अब, अतीत में चेहरा/ देखने के लिए/ शीशे की धूल झाड़ना बेकार है/ उसकी पॉलिश उतर चुकी है/ अब उसके दोनों, ओर सिर्फ दीवार है।”

धूमिल की कविताओं में कितनी सपाटबयानी है इसे स्पष्ट करते हुए कुमार कृष्ण कहते हैं-“धूमिल की कविता की भाषा में जो सपाटबयानी आई है वह पूरी तरह से बिंबों से रहित है, यह नहीं कहा जा सकता।

बल्कि यह कहना उचित होगा कि इस बदली हुई भंगिमा में अच्छी सपाटबयानी बिंबों को इस तरह से अपने में समाहित करती है कि बिंबों की उसमें अलग से चमकने वाली सत्ता नहीं होती।”

अर्थात् धूमिल की सपाटबयानी में एक गति है, लय है जो कथ्य को पुष्टि देती है।

धूमिल एक ऐसे कवि हैं जो ग्रामीण जीवन से अभिन्न रूप से जुड़े रहे। इसी के फलस्वरूप उनकी कविताओं में ग्रामीण-जीवन के बिंब बहुत बार आए हैं। ‘गांव में कीर्तन’ कविता में गांव का एक बिंब द्रष्टव्य है—“भरे गांव में हर रोज ऐसा ही होता है/ नफरत की आड़ में/ चीजें अपना चेहरा उतार कर रख देती हैं/ वक्त के फालतू हिस्सों में/ खेतों के भदे इशारे गुंजते हैं/ ग्राम सभा की लालटेन का शीशा टूट चुका है/ नलकूपों की नालियां झरना हो गई है/ उनमें अब लाठियां बहती हैं और पानी की जगह/ आदमी का खून रिसता है।”

इन पंक्तियों के माध्यम से देखा जा सकता है कि जिस समय हिंदी कविता में विदेशी बिंबो एवं प्रतीकों की भरमार हो रही थी, उस समय धूमिल ठेठ देहात से बिंब चुनकर अपनी अलग पहचान बना रहे थे।

केदारनाथ सिंह और धूमिल की कविताओं का बिंब की दृष्टि से तुलना की जाए तो दोनों कवियों में काफी समानता दिखती है। दोनों ही लगभग समकालीन कवि हैं और दोनों की संवेदना मूलतः ग्रामीण है। केदारनाथ सिंह एवं धूमिल दोनों ने आरंभ में कुछ गीत लिखे परंतु बाद में कविता को अपनी मुख्य विधा के रूप में स्वीकार किया। केदारनाथ सिंह कहते हैं कि चित्र उनकी संवेदना का पहला तत्व है, वहीं धूमिल भी चित्रकार थे। दोनों ने अपनी कविताओं के माध्यम से ग्रामीण प्रकृति के बिंब प्रस्तुत किए। केदारनाथ सिंह

एवं धूमिल दोनों की कविताओं में स्पर्श बिंब, घ्राण बिंब, दृश्य बिंब आदि का सफल प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार निष्कर्षतः हम देखते हैं कि काव्य-बिंब मूलतः एक मानस छवि है और केदारनाथ सिंह एवं धूमिल दोनों के काव्य में बिंब का महत्वपूर्ण स्थान है। कवि केदारनाथ सिंह आरंभ में बिंब निर्माण की दिशा में अधिक सक्रिय जरूर थे, परंतु परवर्ती दौर की उनकी कविताओं में बिंब संयोजन की प्रक्रिया क्रमशः संतुलित होती गई है। केदार जी की बाद की कविताओं में जैसे-जैसे तीक्ष्णता आई है उनके बिंबों में भी तीक्ष्णता दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर धूमिल की कविताओं से गुजरने के पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता कि उनकी कविताओं में बिंब नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि उन्होंने काव्य के रूप पर, कथ्य के मुकाबले कम ध्यान दिया है। केदारनाथ सिंह एवं धूमिल दोनों ने अपने काव्य में उत्कृष्ट बिंबों की सृष्टि कर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है।

### सन्दर्भ सूची :-

1. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब विधान, केदारनाथ सिंह
2. तीसरा सप्तक, सं-अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ
3. अभी बिल्कुल अभी, केदारनाथ सिंह
4. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह
5. केदारनाथ सिंह और उनका समय, निरंजन सहाय
6. यहाँ से देखो, केदारनाथ सिंह
7. अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह
8. नयी कविता की भाषिक संरचना, सरिता वैद्य
9. कविता की समकालीनता, बलि सिंह
10. समकालीन कविता का बीजगणित, कुमार कृष्ण
11. समकालीन काव्य-यात्रा, नन्दकिशोर नवल

## गद्य वद्य कुछ : एक स्वाधीन आलोचना

डॉ. ऋषिभूषण चौबे

‘गद्य वद्य कुछ’ में हिन्दी के लगभग पचास नए-पुराने कवियों और उनकी दो-एक कविताओं पर खुले मन से अपनी बात कही गई है; समीक्षित कवि विशेष के कद, (अ)पहचान तथा पुरस्कार-प्रतिष्ठा जनित छवियों से बिना सहमे, दुविधा में पड़े हुए! और यह बात मेरे जैसे एक साधारण पाठक को अपनी ओर सबसे पहले खिंचती है। नये आलोचक के प्रति आदर जगाती है। यहाँ यह कह देना उचित जान पड़ता है, इस आलोचना पुस्तक को आलोचना के एक नए विद्यार्थी की नजर से पढ़ने की कोशिश इन पंक्तियों के लेखक ने की है। अतः यहाँ कोई बड़ी या एकदम नई बात और भी कायदे से शायद ही मिले, क्योंकि कविता और आलोचना के बुनियादी एलेमेंट्स की जानकारी तथा इन्हें मूल्यांकित करने के लिए जरूरी टूल्स से लैश हुए बिना ही इस किताब को बस सहज मन से पढ़ा गया है।

नील कमल की हिन्दी-आलोचना की स्थिति पर की गई इस टिप्पणी से हम में से बहुत सतर्क असहमत हो सकते हैं कि “हिन्दी में स्वस्थ आलोचना की संस्कृति ही अभी तक विकसित नहीं हो पाई है।” पर समकालीन आलोचना की स्थिति के लिहाज से, यह राय एकदम से गलत भी नहीं ठहराई जा सकती। समीक्षक को खटकती है कि “समकालीन हिन्दी कविता में आलोचना अपने पहले चरण (कवि केंद्रित) में ही सुखी और प्रसन्न रहती आई है। और यह अनायास नहीं हुआ होगा।” इसी तरह ‘युवा कविता’ की आलोचना का उद्देश्य नील बताते हैं-“अपने समय की रचनाशीलता की समस्त संभावनाओं को एक्सप्लोर करना भी होता है।” नील पुरस्कृत कविताओं पर एक पाठक के नाते सवाल करते हैं-“इन कविताओं में कौन-सी संभावनाएं देखी गई थीं और आगे जाकर उन संभावनाओं का क्या हुआ।”

अपने समय के कवियों को धैर्य का पाठ भी पढ़ाते हुए, ठीक ही नील कहते हैं कि हमें नहीं भूलना चाहिए कि-“कबीर और मुक्तिबोध ने युगों की प्रतीक्षा के बाद अपना आलोचक पाया।” आलोचक अपूर्वानंद एक जगह लिखते हैं-“आलोचना का असली काम उन कलात्मक समस्याओं को चिन्हित करना है जो किसी रचना प्रवृत्ति से उभरती दिखाई देती है।” इस कथन को नील के इस विचार के साथ रखकर पढ़ें तो बात और आगे की ओर बढ़ती हुई और स्पष्ट होती हुई जान पड़ेगी-“कविता का एक जरूरी काम यह भी है कि वह अपने आलोचक तैयार करें।



...कविता को एक सतत् सांस्कृतिक संवाद कायम करना होता है।”

नील कमल ने इस पुस्तक में शामिल अपनी कई समीक्षाओं में विज्ञान के एक विद्यार्थी वाली तटस्थता, तथ्यात्मकता और तार्किकता से युक्त काव्य विवेक का परिचय दिया है। हिन्दी के बड़े कवियों केदारनाथ सिंह, अरुण कमल, अनामिका आदि की एक-दो कविताओं की तो इन्होंने नए तरीके से पाठ किया है। हिन्दी कविता संसार में चर्चित इन कविताओं पर आलोचक ‘विज्ञान-विवेक’ का अभाव और एक तरह की ‘अतार्किकता/ आधारहीनता’ का आरोप लगाता है। आलोचक के ही शब्द हैं-“इस प्रारूप की कविताएँ (कुछ सूत्र जो एक किसान बाप ने बेटे को दिए-केदारनाथ सिंह) हिंदी कविता की क्रांतिक बीमारी है। हरा पत्ता कभी मत तोड़ना। क्यों? कारण नहीं बताया गया है। पूरी की पूरी कृषि सभ्यता पर सवाल है यह एक पंक्ति। हरा पत्ता मनुष्य सहित बहुतेरे जीवों का आहार है, जो शाकाहारी हैं। दूसरी बात, कि तोड़ना तो ऐसे कि पेड़ को जरा भी पीड़ा न हो। वह कैसे? यह एक प्रमाणित सत्य है कि पेड़ भी सजीव है। तो पीड़ा तो होगी, यह अवधारित है।” अपने हस्तक्षेप को आगे बढ़ाते हुए कवि अरुण कमल की कविता पर नील कमल लिखते हैं-“कविता में हम कैसे प्रतीक चुनते हैं यह कई बार हमारा पक्ष भी तय करता हुआ दिखता है। कवि को यह छूट नहीं दी जाती कि उसके लिखे को उसी अर्थ और प्रसंग के साथ पढ़ा जाए जिसे वह स्थापित करना चाहता है। लिखे जाने और प्रकाशित होने के बाद कविता स्वतंत्र व्याख्या के लिए खुली होती है।” ‘उर्वर प्रदेश’ नामक कविता के इस अंश (‘फैला है सामने निर्जन प्रांत का उर्वर प्रदेश/ सामने है पोखर अपनी छाती पर/ जलकुंभियों का घना संसार भरे’) पर आलोचक की टिप्पणी है-“जलकुंभियों के विस्तार में जीवन के लिए गम्भीर खतरे हैं। पोखर के भीतर के समाज के लिए सतह की जलकुंभियाँ साम्राज्यवादी

आग्रासन की तरह हैं। धीरे-धीरे तालाब की मौत हो जाती है। इसलिए कवि के लिए दृश्य से अधिक महत्व दृष्टि का होता है।”

नील ने कवि त्रिलोचन की काव्य-भाषा पर बड़ी खूबसूरती से विचार किया है-“त्रिलोचन के यहाँ शब्द ध्वनि में रूपांतरित होते हुए एक जादुई प्रभाव पैदा करते हैं यदि आप ‘भाषा की लहरें’ कविता को देखें तो आप पायेंगे कि-‘सबकुछ पाया शब्दों में, देखा सबकुछ ध्वनि रूप हो गया।’ भाषा इस कवि के लिए वह टूल है जिससे वह मानव हृदय को छू जाता है।”-“त्रिलोचन की कविता का जादू यही है कि यहाँ शब्द ध्वनियों में रूपांतरित होते हैं-‘ध्वनिग्राहक हूँ मैं, समाज में उठनेवाली ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ।’” मुक्तिबोध पर हिंदी के लगभग हर बड़े आलोचक ने विचार किया है, विशेषकर उनकी ‘अंधरे में’ कविता के असाधारण काव्य-दृष्टि पर। कवि ने स्वयं को भी उतनी ही निर्ममता से समझना चाहा है जैसे ‘समस्त अन्य’ को। नील ने यहाँ लिखा है “वे कहते हैं कि शक्ति ही नहीं यह तो ठीक है परंतु ‘यह भी तो सही है कि/ कमजोरियों से ही मोह है मुझको।’ ‘अंधरे में’ कविता व्यक्ति अथवा लोक के आत्मसंघर्ष की महागाथा है।” अज्ञेय आधुनिक हिन्दी कविता के अद्वितीय कवि हैं। मुक्तिबोध से अलग पर कद समान। नील ने उनकी बहुचर्चित असाध्यवीणा को अपेक्षित गहराई से और एक तरह से नया पाठ किया है-“लोक के प्रति पूर्ण आस्था और समर्पण की अनन्य कविता है अज्ञेय की ‘असाध्य-वीणा’।-असाध्यवीणा मनुष्य और प्रकृति के सह-अवस्थान और अपने लोक के प्रति अगाध कृतज्ञता बोध की विलक्षण गाथा है।” विनोद कुमार शुक्ल हमारे समय के बड़े रचनाकार हैं। अपनी महीन दृष्टि और अनूठे गद्य-भाषा के लिए हिन्दी साहित्य की दुनिया में विख्यात एक नाम! आलोचक नील ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में उनकी भाषा की अपूर्वता को रेखांकित किया है-“बाघ की सुनहरी खाल पर काले

धब्बों सी विशिष्ट और प्रकट है विनोद जी की काव्य भाषा। इस भाषा में एक अपूर्व आस्वाद है। भाषा का यह आस्वाद शुक्ल जी की कविता का पता कैसे ही देता है जैसे धुआँ आग का पता देता है।” पर कविता में यह महीन कात कवि का अर्जित किया हुआ वैभव है।”- “रायपुर विलासपुर संभाग” इतिहास बोध से शुरू होकर भविष्य के महास्वप्न पर विराम लेती कविता है और इसलिए मूल्यवान भी।” कवि ज्ञानेंद्रपति की खासियत और उनके काव्य के प्रति की गई आलोचकीय उपेक्षा दोनों को नील ने गहरी संवेदनशीलता से उद्घाटित किया है-“वह भारतीय कविता के परिप्रेक्ष्य में उस जेनुइन का प्रतीक है जिसे हर हाल में अप्रासंगिक बनाने के लिए कलावंत गुणवंत प्रभु वर्ग सक्रिय है और जिसका मारा जाना तय हो चुका है। ‘यह है निश्चित/ कि देसी और दुब्बर खेसाड़ी दाल की तरह निदित/ उखाड़कर फेंक दिया जाऊँगा/ भारतीय कविता के क्षेत्र से’।” इस प्रसंग में नील यह अपने आक्रोश को भी नहीं छिपाते हैं-“कौन नहीं जानता कि कवि होना और कवि बनना दो अलग-अलग मुआमले हैं।” अष्टभुजा शुक्ल के भाषिक पक्ष पर नील ठीक ही लिखते हैं कि “अष्टभुजा शुक्ल भाषा के ठेठ इलाके कवि हैं। इनकी कविताओं में ठेठ भाषा का ठाट भी खूब दिखता है।” कवि के सामाजिक-पारिवारिक मूल्यबोध को कवि के ही शब्दों में आलोचक ने अभिव्यक्त किया है - “वह चाहता है कि बेटे परेशानी में पड़े हुए न दिखें बल्कि परेशानी से निकलते हुए दिखें। कोई उनसे प्रेम न भी करे तो वे स्वयं को उसके प्रेम के लायक बनाएँ। यह जीवन को साध लेना है।”

हमारे समय के चर्चित कवियों में कवि आलोकधन्वा का नाम भी बड़े आदर से लिया जाता है। इनकी एक कविता के आधार पर नील की थोड़ी कड़ी टिप्पणी है- “मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि कवि की वैचारिकता में नक्सलबाड़ी आन्दोलन की रूमानियत अतिरिक्त मात्रा में मौजूद है। यह उस दौर की कविता का बहुत

जाना पहचाना स्वर है। देश के संसदीय जनतंत्र के रेंज से बाहर जाती हुई यह कविता मुक्ति का एक प्रिस्क्राइब्ड सलूशन ले कर हाजिर है। इसलिए इसकी व्यावहारिक सफलता संदिग्ध है।” पर अपने अगले आलेख में कवि राजेश जोशी की कविता ‘आखिरी पत्ती’ पर नील खुश हैं। लेख का शीर्षक भी काव्यात्मक रखा है ‘पंक्तियों के बीच भी हुआ करता है कविता का पाठ!’ और इसके साथ ही एक सजग पाठक-धर्म, पाठ की अनेकार्थता और पाठक-कर्म पर भी नील ने बहुत सटीक बात की है ‘सबसे पहले कविता के पास हम एक सहृदय पाठक की तरह जाते हैं। कविता के सतर्क पाठ से उसकी तहें खुलने लगती हैं। ऐसे में कविता के नए पाठ भी बनते हैं। पंक्तियों के बीच भी हुआ करता है कविता का पाठ।’ कवि बोधिसत्व के मार्फत नील कविता में सवाल उठाने के महत्व और उसके सलीके को महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं ‘ये (कमलदासी) बिना किसी शोर शराबे और उथल पुथल के कुछ बड़े सवाल उठाती हुई कविताएँ हैं।’ कवि वीरेन डंगवाल की एक कविता के द्वारा नील ने कविता और ईश्वर के प्रसंग पर अच्छी बहस की है। समकालीन कविता में आध्यात्मिक पक्ष या तो गौण है या फिर सतही, एकांगी। रहस्यात्मकता अध्यात्म नहीं है। और न ही अध्यात्म कोरी बकवास की चीज। और हाँ, ईश्वर भी आलोचना से परे नहीं है। ईश्वर के नाम पर व्याप्त सारे प्रपंच कड़ी आलोचना के हकदार हैं। जिसे एक जन बौद्धिक ही कर सकता है। कवि की एक कविता के लिए नील के शब्द हैं-“एक ऐसी कविता (दुष्प्रक्र में स्रष्टा) है जो ईश्वर के ‘फाउलप्ले’ को बेनकाब करती हुई मनुष्य के साथ खड़ी होती है।”

अलग-अलग मिज़ाज़ और भावबोध वाली कविताओं पर नील ने स्वतंत्र तरीके से विचार किया है। आलेख की शब्द सीमा को ध्यान में रखते हुए, आईए, प्रत्येक समीक्षित कवि पर आलोचक नील कमल के द्वारा की गई केवल एक-एक और वो भी छोटी-छोटी टिप्पणियों और कहीं कहीं उल्लेखित काव्य अंशों को देखें। इससे

नील की समीक्षा दृष्टि को समझने में थोड़ी और सहूलियत होगी। साथ ही समकालीन(युवा) हिन्दी कविता संसार को भी थोड़े में महसूस किया जा सकता है। अग्निशेखर-“ऐसे समय में अग्निशेखर की यह कविता ‘उम्मीद(सूरज) के चेहरे से धूल पोंछने का काम करती है।’ मलय-“मलय की कविताएँ अपनी भाषा और अपने मिजाज में मुक्तिबोध के काव्य वैभव के साथ अत्यंत निकट का संबंध स्थापित करती हैं, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।” ऋतुराज-“कविता का छद्म अल्प प्राण होता है। जबकि कविता में बचने-बचाने का हाहाकर पसरा है। ऋतुराज जैसा कवि ही कह सकता है-‘सिर्फ वही आदमी डूबा होगा जिसने अंतिम शब्द कहा होगा-बचाओ!’ छविनाथ मिश्र, शंकर माहेश्वरी-“छविनाथ मिश्र के गीत, शंकर माहेश्वरी के दोहे, हिंदी(कलकत्ता विशेष) की अपनी छूद्रताओं की वजह से कभी वह जगह नहीं बना सके।’ कवि का हस्तक्षेप है-‘उसका स्वप्न, उसकी आकांक्षा।’ कुमार अम्बुज-“पूरी कविता अलग से कुछ भी नहीं कहती है, बिंबों की धारावाहिकता से यह कविता बनी है। एक अबोध सी रूमनियत पूरी काव्य संवेदना के केंद्र में बनी रहती है।” प्रफुल्ल कोलख्यान-“बहुत कम कवितायें हैं हिंदी में जो आपको इतना पीछे ले जाने को तैयार हैं।” हेमंत कुकरेती-“यह कवि का अर्जित किया हुआ मुहावरा है। खुद का गढ़ा और तराशा हुआ। यह परिदृश्य कुल मिलाकर एक ठंडी तटस्थता, उदासीनता और यथा-स्थितिवाद की ओर संकेत है।” गणेश पांडेय-“गणेश पांडेय की गुरु सीरीज की कविताएँ प्रकारांतर से हिंदी की अकादमिक दुनिया का एक आलोचनात्मक दस्तावेज भी हैं।” आशुतोष दुबे-“अपने बगैर मैदान को देखना ही जीवन को देखना है। स्व की अनुभूति अर्थात् अहम् भाव के साथ जीवन के खेलों को समझना कठिन होता है।” अनुपम ओझा-“व्यवस्था’ एक मुक्कमल कविता है। ‘चोरों ने तय किया/ वे अपना संविधान बनायेंगे/ अपनी सहूलियत के लिए संसार में।’ रमाशंकर ‘विद्रोही’-

“विद्रोही वाचिक परम्परा के कवि हैं और कवितायें कहते हैं। इनका जीवन फकीराना है। लेकिन ये आज की कविता में मिसफिट हैं।-वह आज भी आपको पुकारता है- मुझे बचाओं मैं तुम्हारा कवि हूँ।” सुरेश सेन निशान्त-‘कविता का अंदरमहल’, शिरीष कुमार मौर्य-‘श्रम के अद्भुत सौंदर्य की सहज कविता’, प्रभात-‘झबुआ में बजता जीवन संगीत’, निदा नवाज़-‘बर्फ और आग के बहाने’, मनोज छाबड़ा(पिता)-“‘किसी भी कवि का सत्ता विमर्श कितना टाइम-टेस्टेड है यह देखने और जानने का एक उपक्रम यह भी है कि पिता के सत्ता चरित्र के प्रति उसकी दृष्टि क्या और कैसी है। यह इस मिनिएचर सत्ता से किस मात्रा में और किस तरह टकराता है। इस द्वंद्वात्मकता में उसका पावर डिस्कोर्स विकसित होता है।” अनामिका-“यह स्त्री के सेल्फ ग्लोरीफिकेशन की कविता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि अनामिका के यहां स्त्री जीवन के अतरंग का एक स्पष्ट बोध उपस्थित मिलता है।... तथापि अनामिका की कविताएं पुरुष तांत्रिक व्याख्या की तमाम विसंगतियों से टकराती हुई बहुत कम दिखाई देती हैं।” कात्यायनी-“अपने पोलिटिकल ओवर टोन के बावजूद कात्यायनी की बातें पाठक को विश्वास में लेकर चलती हैं तो इसलिए कि इनके यहां कविता का मतलब भाषिक बाजीगरी से कहीं अलग एक कवि के चैतन्य कि उपलब्धि होता है।” केशव तिवारी-“बड़े ही एफर्टलेस तरीके से केशव तिवारी इस कविता (उम्मीद का दरवाजा) में व्यक्तिगत सीमाओं को सामूहिक क्रिया में बदल देते हैं। हर तरह अपना ही तो चेहरा था कहते हुए कवि अपने पाठक के सामने निष्कपट खड़ा हो जाता है।” राकेश रोहित : “राकेश रोहित अपनी कविता में बहुत सादगी के साथ अपने पाठक को लोकतंत्र के अभ्यारण-की सैर पर ले चलते हैं।” कमलजीत चौधरी-“कवि प्रेम को समझने के लिए प्रेम कविताएं पढ़ने से इंकार करता है। वह प्रेम करते हुए प्रेम को समझना चाहता है। वह रंगों को समझने के

लिए तितलियों तक पहुंचना चाहता है। खुशबू और रंग के पीछे चलता हुआ वह तितलियों और मधुमक्खियों की व्यवस्थाओं तक जाना चाहता है।” अशोक सिंह(दिल्ली से कितनी दूर है दुमका)-“हमारे पास निरपेक्ष समीक्षकों, आलोचकों का अभाव-सा है। कुल चार वाक्यों की इस कविता को देखा जाना चाहिए-‘वक्त के चूल्हे पर चढ़ी है/ जीवन की हांडी/ खौल रहा है उसमें/ आँसू का अदहन/ अभी अभी माँ डालेगी/ सूप भर दुख/ और झोंकती अपनी उम्र/ डबकायेगी घर भर की भूख।’... मुझे इस वक्त ऐसी कोई कविता किसी महत्वपूर्ण कवि के नाम के साथ नहीं याद आ रही है जिसमें माँ एक स्त्री और एक मनुष्य की तमाम दुर्बलताओं के साथ दिखाई देती हो। वक्त के चूल्हे पर जीवन की हांडी चढ़ाने वाला यह कवि हिंदी कविता में अभिव्यक्ति का ईमानदार हस्ताक्षर है।” नीलम सिंह : “ऐसे स्त्री स्वरों को सहृदय होकर सुने जाने की जरूरत है। ये वो आवाजें हैं जिनके लिए दुष्यंत कुमार कहते हैं-‘मैं भी तो अपनी बात लिखूं अपने हाथ से, मेरे सफे पे छोड़ दे थोड़ा सा हाशिया।’” अनुज लुगुन-“अनुज लुगुन की ये कविताएं आदिवासी समाज से कुछ शब्द और दृश्य तो उठाती हैं लेकिन आदिवासी जीवन के संघर्षों का उत्ताप उनमें उतना नहीं है। कहना चाहिए कि ये आंदोलन में धँसकर लिखी गई कविताएं नहीं हैं।”-‘लालगढ़’ कविता पर नील पूछना चाहते हैं-‘माओवाद पर उसके(कवि) विचार क्या हैं। और पूछा यह भी जा सकता है कि कवि के रूप में यह जो ‘कुछ तो है’ का परदा है उसे हटा क्यों नहीं दिया जाना चाहिए।” संजय राय, कुमार सौरभ और मिथिलेश कुमार राय-“ये अच्छी कविताएं अपने समय में हिंदी की युवा कविता का वह नेपथ्य रच रही होती हैं जिन्हें मंच के दूसरी तरफ से कभी नहीं देखा जा सकता।” शायक आलोक- (‘वाइल्ड वेरायटी’ का कवि कहकर तारीफ करते हुए)-“भाषा और शैली के मामले में भी इन कविताओं से उम्मीद-सी बंधती है।...बिना किसी विमर्शगत भारीपन

के कविता में यह कवि स्त्री के पक्ष में चुपचाप आ खड़ा होता है। ‘...स्मृतियां उसका शिकार नहीं करती अब. ..रखना ख्याल कि दुनिया न देख सके तुम्हारा देखना।’” शंकरानंद-“एक सूक्ष्म दृष्टि का कवि ही यह कह सकता है-‘जो भी बेकार था रखा हुआ किसी कोने में वह खत्म हो रहा था धीरे-धीरे चुपचाप।’” व्योमकेश शुक्ल-“कवि का काम बूथ पर लड़ना नहीं है बल्कि उसकी लड़ाई इस बात में है कि वह वोटर में वह नैतिक साहस और राजनैतिक विवेक भर सके कि वह अपनी लड़ाई खुद ही लड़े और जीते भी।” नवनीत सिंह -“मैं जिस जगह ठहर कर सोचने लगा और ये बात कोई बनारसी ही कह सकता है-वह है, ‘बनारस की विरक्तियों का ज्ञान बांटना और दिल्ली की तटस्थताओं के द्वारा कायर बनाया जाना’, बनारस के बरक्स दिल्ली को रखने का यह खास ठेठ बनारसी अंदाज सच कहूं तो मुझे बड़ा सुंदर और कुछ कुछ नायाब भी नजर आता है।” अनिल कार्की-“कविता में जितनी स्थानिकता है, उतनी ही वह वैश्विक अपील रखती है।” अच्युतानंद-“कवि का दावा है कि वह प्यार को उसी तरह जानता है जैसे पक्षी आकाश को जानते होंगे। मैं कहूंगा कि यह कविता में बड़बोलापन है।” अविनाश मिश्र-“दरअसल कवि एक विडंबना को अभिव्यक्त कर रहा है लेकिन ऐसा करते हुए वह कहीं ना कहीं प्रेम को बहुत अप्रासंगिक भी सिद्ध करता है।” गीत चतुर्वेदी-“कुछ अद्भुत कह देने और लिख देने के दबाव में कविता का यह प्रेम अपनी स्वभाविकता के ही विरुद्ध खड़ा मिलता है।” हिंदी में बेहतरीन गजल और शेर लिखने वालों की कमी नहीं रही है कभी। पर नील की शिकायत है-“हिंदी कविता के आलोचकों को जाने क्यों गजलों से परहेज रहता है। वे कविता और गजल को अलग-अलग खाँचों में रखते रहे हैं। गौतम-“सोचता होगा वह मुझको बैठकर तनहा कहीं, चाँद निकला और मुझको जोर की हिचकी हुई।” स्वप्निल-“था जलाया अलाव बच्चों ने। एक कहानी भी तापने आई।” त्रिवेणी-“वो चौकता है

अगर मैं अदब से मिलता हूँ। दुआ सलाम यहां बेवजह नहीं होते।” अनमोल-“बात इतनी सोचना तुम हड़बड़ी को छोड़कर। चांद पर क्या करोगे आदमी को छोड़कर।” दिलीप -“नैनों में तेरे आए मेरा अक्स तो रखओ/ ठहरेगा घड़ी भर कोई मेंहमा तो नहीं है।”

इसी तरह अपने एक आलेख (युवा हिंदी कविता के दस साल : 2007 से 2016 के बीच भारत भूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार प्राप्त) में नील ने हाल के वर्षों में पुरस्कृत युवा कविताओं पर भी अपनी पैनी नजर से विचार किया है। पुनः शब्द सीमा को ही ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक कविता पर की गई एक-एक टिप्पणी को ही यहाँ रखने की अनुमति चाहूँगा-‘मदर इंडिया’-‘तमाम दृश्यों और बिंबों के बावजूद ‘मदर इंडिया’ अमूर्तन की कविता है। अधिक से अधिक यह विडंबना की तरफ इशारा करने से आगे नहीं बढ़ पाती।’ ‘अट्टाईस साल की उम्र में कविता’- ‘कविता में प्रेम अपनी सहजता में नहीं उपस्थित है। निःसंदेह यह एक डेलिकवेंट माइंड की कविता है।’ ‘स्थगन’ (2009)-‘स्थगन कविता एक गर्भवती स्त्री और जेठ की दुपहरी में उसके अधखाए आम को लेकर रची गहन भावबोध की कविता है। कुछ सहज बिंबों को लेकर यह कविता अपनी बात कहती है।’ ‘बहुत सारे संघर्ष स्थानीय रह जाते हैं’(2010)-‘कहना चाहिए कि इस कविता में कवित्व जैसी कोई बात ढूंढना दूर की कौड़ी तलाशने जैसा है। अधिक से अधिक इसे उक्ति वैचित्र्य के रूप में पढ़ा जा सकता है।’ ‘अघोषित उलगुलान’ (2011)-‘एक नये शब्द ‘उलगुलान’ के अतिरिक्त कविता में नया और मौलिक कुछ विशेष नहीं।- कहना चाहिए कि कविता में आदिवासी समाज की स्मृतियाँ तो हैं पर उस जीवन का ताप इसमें नहीं है।’ ‘कुछ न समझे खुदा करे कोई’ : “यह एक कमजोर कविता सिरीज है। इसे एक बड़े कंप्यूजन वाले कवि का एक ‘लाप शो’ ही कहा जा सकता है।” ‘कुछ भी कहना खतरे से खाली नहीं’(2013) : ‘एक चमत्कारपूर्ण उक्ति उछालते

हुए कविता इस नतीजे पर पहुँचती है कि सुरक्षित संवाद वहीं है जो द्विअर्थी हों भ्रांतिमूलक हों। तो कविता दरअसल अपने शीर्षक में ही निचुड़ चुकी होती है इसलिए पाठक इसमें कोई नई और मौलिक बात नहीं पाता।” ‘विध्वंस की शताब्दी’(2014): ‘कोहेसिवनेस’ की कमी देखते हुए- “दार्शनिक सूत्रों के बीच गूँथी हुई यह कविता अपने को पढ़वा ले जाती है तो इसका श्रेय इसकी भाषा को दिया जाना चाहिए।” ‘पोयट्री मैनेजमेन्ट’ ( 2016 ) : “इस कविता को समझने का जो अन्यतम टूल है वह भी कविता में ही मिल जाता है और वह टूल है जुगाड़ या तिकड़म यानि तोड़फोड़।-पोयट्री मैनेजमेन्ट एक बेहद औसत कविता है अपनी भाषा में भी और अपने कथ्य में भी। इस कविता ने पोयट्री के कारण कम, मैनेजमेंट के कारण लोगों का ध्यान अधिक खींचा।”

पुस्तक के आखिरी अध्याय का शीर्षक नील ने दिया है-‘वैश्वीकरण के बाद हिंदी कविता की सामान्य प्रवृत्तियाँ : नई सदी की हिंदी कविता के मिजाज की एक पड़ताल।’ इसमें आलोचक ने ‘वैज्ञानिक चिंतन’, ‘मानवीय संबंधों में तनाव’, ‘सपनों और उम्मीदों का साथ’, ‘अकेले होते जाने के खिलाफ’, ‘सामाजिक विसंगतियाँ’, ‘अकारथ प्रयत्नों का समय’, ‘श्रम विरोधी समय’, ‘अमानवीय भूमंडलीकरण’, ‘मॉल संस्कृति’, ‘किसान त्रासदी और सहजता से दूर होता मनुष्य’, आदि उपमानों के जरिए पिछले दो दशकों की हिंदी कविता की उपलब्धियों को बड़ी कारीगरी से उकेरा है। नील की टिप्पणी है-“जब भी इस दौर की कविता का इतिहास लिखा जाएगा उसमें यह बात जरूर लिखी जाएगी कि जब जीवन और समाज में कहीं जनतांत्रिकता नहीं बची थी तब कविता में उसकी तीव्र आकांक्षा पाई गई।”

संक्षेप में, इस समीक्षा पुस्तक में चर्चित, अचर्चित-दोनों तरह के कवियों पर सहज मन और स्वाभाविक गम्भीरता से विचार हुआ है। आलोचक ‘मठों’ को

पहचानने का दावा करता है और 'मठाधीसी' को गलत साबित करते हुए, इसकी जगह जगह खिंचाई भी करता है। लेखक का यह तेवर एक साहसी कदम है, इसमें दो मत नहीं। शब्द संयम, पूरे विवेचन में है। गौरतलब है कि भाषा-व्यवहार के प्रति एक खुला नजरिया भी यहाँ देखने को मिलता है। अंग्रेजी, उर्दू के शब्दों, पदबंधों को बखूबी इस्तेमाल किया गया है। सरल शब्दों में कहें तो लेखक 'कंटेंट' को सहज ही 'कम्यूनिकेट' करना चाहता है। मौलिक बोध का आनंद-आपको यहाँ मिलेगा, बेशक! या कहें, एक स्वाधीन आलोचना का स्वाद लेखक की बातों में अनायास मिलता है। नील का सूत्र वाक्य है "वस्तुनिष्ठ बात होनी चाहिए। स्वस्थ बहस होनी चाहिए।"

नील कमल सूक्ति में बात कहने की कला को साध रहे हैं। इनके 'कहन' में आचार्य शुक्ल और डॉ. नामवर सिंह की आलोचना शैली की आभा सहज महसूस की जा सकती है। यह बात किताब को खास बनाती है और कहना न होगा आलोचक को गम्भीर! तटस्थता का निर्वाह कहाँ तक होना चाहिए? नील कमल खुद कितना तटस्थ रह पाए हैं? उठाने-गिराने वाली

मानसिकता से लड़ते हुए स्वयं के लिए, क्या सबक ले रहे हैं? इस पर भी यह किताब सोचने को प्रेरित करती है। इसके साथ ही यहाँ यह भी इंगित करना उचित जान पड़ता है कि पुस्तक में कविताओं की भाषा पर बात कम हुई है। पर जितनी हुई है, अच्छी हुई है। वैसे भी हिंदी में काव्य भाषा, कथा भाषा और आलोचना भाषा पर नई दृष्टि, अपेक्षित गहराई और विस्तार के साथ बात करने की परम्परा, लगता है अभी विकसित होनी है। कम शब्दों में कहें तो, 'भाषा 'टूल'(साधन) भी है और 'गोल'(साध्य)भी-इस दृष्टि से हिंदी आलोचना में विचार कम हुआ है। या कहें जाने-अनजाने ध्यान ही कम गया है। आखिर में, नील ने इस पुस्तक से अपने प्रति उम्मीदें सहज ही बढ़ा ली है। और मेरा तो खैर, दिल ही जीत लिया है।

**समीक्ष्य कृति** : गद्य वद्य कुछ (आलोचना : हिन्दी कविता)

**कवि** : नील कमल

**समीक्षक** : डॉ. ऋषिभूषण चौबे

**प्रकाशक** : ऋत्विज प्रकाशन, कोलकाता,

**संस्करण** : 2018, मूल्य : 100 रुपये मात्र

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी, प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, मोबाइल-8334956052,  
Email-rishi.hindi@presiuniv.ac.in, rishi.choubey@gmail.com



## निशांत की प्रेम कविताएं

आनंद गुप्ता

प्रेम प्रतिरोध का सबसे बड़ा हथियार होता है। दुनिया में हिंसा और घृणा से मुकाबला भी सिर्फ प्रेम ही कर सकता है। घृणा करते-करते आदमी एक दिन थक जाता है पर प्यार करते कभी नहीं थकता। एक ऐसे समय में जब दुनिया के हर कोने में हिंसा बलवती होती जा रही है प्रेम को जिंदा रखना वक्त की जरूरत है और मांग भी। इतिहास गवाह है प्रेम जितनी लड़ाईयों का कारण रहा है उससे कहीं ज्यादा दिलों के तार जोड़ने का। एक कवि से तो अपेक्षाएं और बढ़ जाती हैं। ठीक ऐसे कठिन समय में युवा कवि निशांत के प्रेम कविताओं का संग्रह 'जीवन हो तुम' का आना कठोर मौसम के बीच ठंडी हवा के झोंकें की तरह है जो तन-मन को सकून देती है। इन कविताओं को पढ़ते हुए आप एक ऐसी दुनिया में खो जाते हैं जो आपको दिल के बेहद करीब लगती है। जैसे ये हमारे इर्द गिर्द घटित हो रहा अनुभव हो।

निशांत जब कोलकाता की धरती पर पलाश, अमलतास या गुलमोहर के खिलने की बात करते हैं तो इन फूलों की लालिमा में यहाँ के लोगों के अंदर भरे उस क्रांतिकारी चेतना और संघर्ष की बात स्वतः आ जाती है। सत्ता हमेशा ही प्रेम का विरोधी रहा है। वह जानता है कि जब तक दिलों के बीच दुरियाँ हैं तब तक उसके लिए कोई खतरा नहीं खड़ा कर सकता है। वर्तमान में विभाजन की राजनीति जोरों पर है। फलतः लोगों ने अपने-अपने घेरे बना लिए हैं। निशांत की कविताएं इन घेरों का निषेध करती हैं। निशांत लिखते हैं- 'जब ऋतु आती है/ पेड़ों पर खिलता है पलाश/ तुमने खिले हुए पलाश वृक्ष/ सचमुच, अपनी आँखों से देखा है?/ अमलतासध्या गुलमोहर/ शांतिनिकेतन चले आओ/ चले आओ कोलकाता/ चले आओ मेरे पास।' लाल-लाल पलाश के फूल गर्मी की कड़ी दोपहरी में भी हँसते खिलखिलाते डालियों पर अडिग बने रहते हैं। प्रेम का भी यही रूप है। वह लोगों को संघर्ष करना एवं कठिन परिस्थितियों में डंटे रहना सिखाता है। निशांत का कवि मन भी एडिनियम के फूल की तरह खिलना चाहता है। उनके ही शब्दों में - 'एडिनियम जैसा खिलना चाहता हूँ/ भरी गर्मी में/ जब देह, देह होने से इनकार कर दे/ मैं एडिनियम होना चाहता हूँ/ इतना ही कोमल/ इतना ही सुंदर/ इतना ही जिंदा/ आँखों को सुंदर लगना चाहता हूँ/ प्रेम/ कुछ करे या न करे/ तपना/ सहना/ और तप सह के/ एडिनियम होना सिखा देता है।'।

निशांत के लिए प्रेम आदमीयत की ओर बढ़ाया गया सबसे सार्थक कदम है जहाँ पहुँच कर आदमी अपने भीतर की तमाम वर्जनाओं को त्याग कर एक नयी जिंदगी जीता है। यह खुद के भीतर खुद की तलाश है जहाँ बुराईयाँ छन कर खुद-ब-खुद बाहर निकल जाती हैं। कवि कहता है- 'चोरी, झूठ, मक्कारी/ धोखा, फरेब, बेइमानी/ गलत, सही, नाजायज/ सब मिलकर खाक हो जाते हैं/ तुम्हारे पास जाकर/ तुम हो/ जहाँ आकर/ एक नया जन्म पाता हूँ मैं।'।

कवि निरंजन श्रोत्रिय कहते हैं- 'सरलता का शिल्प सबसे कठिन होता है।' उनकी ये पंक्तियाँ निशांत की इन कविताओं पर बिल्कुल सटीक बैठती हैं। शिल्प और कथ्य की दृष्टि से ये कविताएं सरल होते हुए भी भाव एवं संवेदना के स्तर पर बेहद मजबूत हैं। शब्दों के चयन में कवि बहुत ही सजग है एवं



आडंबरपूर्ण शब्दों से दूर रहता है। कहा जा सकता है कि ये कविताएं मन की कोमल भावनाओं की उपज है। कविता कहाँ महज सपाटबयानी बन कर रह जाती है एवं कहाँ सपाटबयानी कविता बन जाती है। निशांत इस फर्क को अच्छी तरह जानते हैं और इस संग्रह में निशांत ने सपाटबयानी को बखूबी से कविता में ढाला है। यही कारण है कि महज वैचारिकता के भटकाव में न पड़कर ये कविताएं आसानी से आम पाठकों तक पहुँचती है। 'एक फूल' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए- 'कैसे पुरुष हो/ एक स्त्री की बात नहीं समझते/ उन क्षणों में स्त्री, स्त्री नहीं रहती/ पूरी प्रकृति होती है/ जो भी माँगों बन जाएगी/ जो भी चाहो, हो जाएगी/ प्राण देह भूख इंसान जानवर देवी देवता/ कुछ भी...

।' जीवन के उन अंतरंग क्षणों एवं अनुभूतियों को सरल और साधारण शब्दों में कितनी आसानी से कवि कह जाता है। कविताओं में मौजूद भाव और बिंब का अद्भुत मेल कहीं-कहीं चमत्कृत करता है। 'प्रेमभाष' शीर्षक चार पंक्तियों वाली छोटी सी यह कविता देखें- 'देह के पास खर्चने को/ थोड़े से शब्द हैं/ आत्मा के पास हैं/ कई ब्रह्मांड।' भावनाओं को शब्द चित्र में बाँधने की कला में भी निशांत निपुण है। इस कविता में देखिए - 'बियाम्बा में/ एक पेड़ खींचता है/ समुद्र में एक डोंगी/ भीड़ में तुम/ अकेले में तुम्हारी उपस्थिति।'

प्रेम जीवन की कठिन परिस्थितियों में उम्मीद की तरह आता है। जब सबकुछ असहनीय होने लगता है तो प्रेम आशा की लौ जलाकर हमें ताकत देता है कि हम खुद को उन मुश्किल परिस्थिति से बाहर निकालें। निशांत की इन पंक्तियों को देखें - 'सबकुछ छूट गया है जीवन में/ एक तुम ही बची हो रातरानी की तरह/ बची हैं आशाएँ फूल बनकर तुम्हारे पास/ इस लू में

भी।' घर मनुष्य के जीवन के सबसे सुंदर शब्दों में से एक होता है। घर शब्द के साथ मनुष्य की ढेर सारी भावनाएं जुड़ी होती हैं। भले ही वह ईंट, सीमेंट, बालू और पत्थर का बना होता है पर एक स्त्री में उसे जीवंत बनाने की अद्भुत क्षमता होती है। एक स्त्री के होने भर से घर भी स्पंदित होने और बोलने बतियाने लगता है। 'तुम्हारा घर' शीर्षक कविता में कवि घर में एक स्त्री के होने का महत्व बताते हुए लिखता है - 'मेरा घर/ मेरा नहीं, तुम्हारा घर है/ हमारा नहीं/ सिर्फ और सिर्फ तुम्हारा घर है/ बेटी पत्नी माँ प्रेयसी नहीं/ रजिया सुल्ताना हो तुम/ मैं तुम्हारा मालिक अल्लुनिया/ तुम्हारे होने से ही कमरा/ घर होता है/ मैं निशांत नहीं/ कवि होता हूँ/ इंसान होता हूँ/ तुम्हारे घर में रहकर।'

इस संग्रह की कविताओं का मूल विषय प्रेम होने के बावजूद कवि के जीवन का संघर्ष विभिन्न रूपों में सामने आया है। कवि के इस जीवन संघर्ष में आज के युवाओं के जीवन संघर्ष की झलक हम आसानी से देख सकते हैं। सच भी है संघर्ष में ही प्रेम की असली तपस्या होती है। कुल मिलाकर संग्रह की कविताएं प्रेम का एक ऐसा आख्यान है जो आत्मसंघर्ष एवं प्रतिरोध के रास्ते से निकल कर उम्मीद से भरी हुई आगे बढ़ती हुई चलती है। हालांकि अंतिम हिस्से की कुछ कविताओं के चयन में थोड़ी सावधानी बरतने की जरूरत थी। आशा ही नहीं पूरा विश्वास है कि यह संग्रह कवि के रचनात्मक जीवन में एक महत्वपूर्ण पड़ाव साबित होगा।

**समीक्ष्य कृति** : जीवन हो तुम (कविता)  
**कवि** : निशांत, **समीक्षक** : आनंद गुप्ता  
**प्रकाशक** : सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश,  
**संस्करण** : 2019, **मूल्य** : 117 रुपये मात्र

गली नं.-18, मं.सं.-2/1, मॉनिक पीस, पोस्ट-कांकीनारा,  
 उत्तर 24 परगना-743126(पं. बं.) मोबाइल-9339487500

## नामवर सिंह की स्मृति में आलोचना केंद्रित अंक 'मुक्तांचल' का लोकार्पण

विगत 16 जून 2019 को हावड़ा में स्थित 'बासंती लाल अध्ययन केन्द्र' में 'मुक्तांचल' एवं हावड़ा की संस्था 'विद्यार्थी मंच' के संयुक्त तत्वावधान में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह को याद करते हुए हिंदी आलोचना पर चर्चा एवं काव्य पाठ किया गया। इस मौके पर नामवर सिंह के रचना-संसार पर केंद्रित 'मुक्तांचल' के अंक का लोकार्पण भी किया गया। इस अवसर पर पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा ने नामवर जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि साहित्य में आलोचना का सही अर्थ निंदा करना नहीं बल्कि उन रेशों को ढूँढ़ निकालना है जिसमें रचनाकार के मूल्य बसे होते हैं। मुख्य अतिथि के रूप में आए विमल वर्मा ने अपने वक्तव्य में कहा कि नामवर जी के लेखन में देशकाल की तात्त्विकता का संक्रमण आलोकित होता है।

कथाकार विमलेश्वर द्विवेदी ने कहा कि नामवर जी ने नए लेखकों की रचनाओं की आलोचना करते हुए उन्हें साहित्य जगत में प्रतिष्ठित किया है। आलोचक परशुराम ने कहा कि नामवर जी ने रचना और आलोचना को संवाद का एक माध्यम बनाया है। प्रो. मधुलता गुप्ता ने कहा कि नामवर जी ने बेबाकी से किसी भी रचना की आलोचना की। इसी वजह से आज उनकी प्रासंगिकता वैसी ही बनी हुई है। कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए विश्वभारती विश्वविद्यालय की प्रो. मंजूरानी सिंह ने कहा कि साहित्यकार के पास शब्द योजना नहीं शब्द चेतना होनी चाहिए क्योंकि युग से हटकर किसी भी रचना की आलोचना नहीं हो सकती है। इस अवसर पर प्रसिद्ध गायक अजय राय ने कविताओं पर संगीतबद्ध प्रस्तुति की।

दूसरे सत्र आयोजित कवि सम्मेलन में वरिष्ठ कवि लखबीर सिंह 'निर्दोष', राज्यवर्धन, परवेश, मंजू बेंज इसरत, रामाकांत सिंह, जतिव हयाल, रामअवतार सिंह, रामनारायण झा, प्रदीप कुमार धानुक, नवीन सिंह, जीवन सिंह, रवि अग्रहरि, सुषमा कनुप्रिया, कालिका प्रसाद उपाध्याय, सरिता खोवाला, संजीव दुबे, संदीप गुप्ता, अनु नेवटिया, रावेल पुष्प, सीमा शर्मा, मो. चांद, चंद्रिका प्रसाद पांडेय, राहुल गौड़ तथा मधु सिंह ने अपनी कविताओं का पाठ किया। कार्यक्रम का सफल संचालन प्रो. शुभ्रा उपाध्याय ने किया। इस मौके पर रणजीत सिन्हा, प्रो. संजय जायसवाल, विनीता लाल, पार्वती शॉ, शाहीन परवीन, संजय पाण्डेय, सुधा शर्मा, शुभम जायसवाल, मुकेश झा, गुड़िया राय, अनुभव सिन्हा, विनोद यादव, नेहा सिंह, अजय ठाकुर, सुशील पांडेय आदि उपस्थित थे। धन्यवाद ज्ञापन देते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो. रामप्रवेश रजक ने कहा कि नामवर जी को याद करना ही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करना है।

**प्रस्तुति : सोनू संगम :- 7890183916**

## एक साँझ कविता के कार्यक्रम की 5वीं कड़ी संपन्न

साहित्यिक सांस्कृतिक संस्था नीलांबर कोलकाता ने 9 जून की शाम को कोलकाता के कलाकुंज सभागार में एक साँझ कविता की-5 कार्यक्रम का आयोजन किया। पिछले कुछ वर्षों के दौरान नीलांबर ने अपने आयोजनों से पूरे देश के साहित्य प्रेमियों का ध्यान खींचा है। संस्था ने आधुनिक तकनीक का प्रयोग कर साहित्य को आम लोगों के बीच पहुँचाने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं।

अरुण कमल, कृष्ण कल्पित, मृत्युंजय कुमार सिंह, सुधांशु फिरदौस और उज्ज्वा सरवत ने कार्यक्रम में कविताएं

पढ़ी। इस अवसर पर अरुण कमल ने साहित्य के क्षेत्र में नीलांबर के कार्यों की प्रशंसा की। कविता पाठ के अलावा उनकी कविताओं पर विभिन्न तरह की प्रस्तुतियाँ की गईं जिनमें कविता गीत, कविता नृत्य, कविता मोंताज और कविता कोलाज शामिल हैं। विभिन्न प्रस्तुतियों में हिस्सा लेने वाले कलाकारों में शामिल थे ऋतेश पांडेय, कल्पना झा, स्मिता गोयल, ममता पांडेय, प्रतिमा सिंह, दीपक ठाकुर, पूनम सोनछात्रा, विशाल पांडेय, निधि पांडेय।

प्रस्तुति : आनंद गुप्ता

### प्रेमचंद साहित्यिक अड्डा

‘विद्यार्थी मंच’ के सदस्यों ने मिलकर विगत 28 जुलाई 2019 को ‘बासंती लाल अध्ययन केन्द्र’ पर एक साहित्यिक अड्डे का आयोजन किया। परिचर्चा की शुरुआत ‘मुक्तांचल’ की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा के बीजभाषण से हुआ। डॉ. मीरा सिन्हा ने प्रेमचंद के साहित्य को उस समय के समाज का जीवंत दस्तावेज बताया। परिचर्चा ‘कफ़न’, ‘सवासेर गहूँ’, ‘बड़े भाई साहब’, ‘महाजनी सभ्यता’, ‘सेवासदन’, ‘निर्मला’ आदि रचनाओं की जीवंत बिंदुओं से गुजरता हुआ प्रेमचंद के साम्यवाद और गांधीवाद तक पहुंचा। इस अड्डे पर प्रसिद्ध व्यंग्यकार डॉ. पंकज साहा, कवि अर्द्धेन्दु चक्रवर्ती ‘अतिरेक’, कालिका प्रसाद उपाध्याय ‘अशेष’, विनोद यादव, सुशील पाण्डेय, सुलेखा कुमारी, विद्या रजक, पार्वती शॉ, सोनू संगम, परमजीत पंडित, ऋतिका सिंह, प्रभा उपाध्याय, नगीना लाल दास, विनीता लाल आदि ने अपने-अपने मत रखते हुए जीवन में प्रेमचंद की प्रासंगिकता पर चर्चा किए। सबने अपने-अपने ढंग से प्रेमचंद साहित्य की अलग-अलग कृतियों पर प्रकाश डाला। विनोद यादव ने ‘दो बैलों की कथा’ जैसी प्रेमचंद की कहानी का विश्लेषण करते हुए कहा कि पशुजन्य प्राणी के अंदर भी विचार और संवेदना हो सकती है, जो प्रेमचंद के लेखन में ही संभव है। प्रभा उपाध्याय ने सेवासदन उपन्यास की सुमन का जिक्र करते हुए कहा कि उसे ऐसे गुनाह की सजा मिली जिसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार नहीं थी। सुलेखा कुमारी ने ‘निर्मला’ उपन्यास में नारी जीवन की विडंबना पर रोशनी डाली।

### कवि डॉ. केशरीनाथ त्रिपाठी का अभिनन्दन एवं ‘विहान’ की प्रस्तुति

20 जुलाई, 2019 को कोलकता के भारतीय भाषा परिषद में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक फलक को अपने अमूल्य योगदान से समृद्ध करने वाले महामहिम राज्यपाल कवि डॉ. केशरीनाथ त्रिपाठी का अभिनन्दन कर कोलकातावासी धन्य हुए। इस अवसर पर केशरीनाथ त्रिपाठी जी कविताओं का ‘लिटिल थेस्पियन’ द्वारा मंचन और ‘नीलाम्बर’ द्वारा एक मोंताज प्रस्तुत किया गया। ‘लिटिल थेस्पियन’ की ‘विहान’ कविता की प्रस्तुति द्वारा ग्रामीण जीवन शैली को जीवंत किया गया वहीं ‘नीलाम्बर’ द्वारा प्रस्तुत मोंताज से जनवादी चेतना को प्रदर्शित कर कवि केशरीनाथ त्रिपाठी के कविताओं के सौन्दर्य को दर्शाया गया। इस शुभ अवसर पर माननीय राज्यपाल के कर कमलों से कथाकार कुसुम खेमानी के उपन्यास ‘लालबत्ती की अमृतकन्याएँ’ का लोकार्पण भी किया गया। केशरीनाथ त्रिपाठी जी ने उपन्यास “लालबत्ती की अमृतकन्याएँ” के संदर्भ में कहा कि ‘उपन्यास के एक-एक शब्द से जीवन का यथार्थ दिखता है।’

प्रस्तुति : पार्वती शॉ :- 9038283281

## ‘एक अदद सपने के लिए’ का काव्य मंचन

कोलकाता, 7 जुलाई, 2019 : लिटिल थेस्पियन तथा भारतीय भाषा परिषद के संयुक्त तत्वावधान में नरेंद्र मोहन रचित लंबी कविता “एक अदद सपने के लिए” का काव्य मंचन अनुष्ठित किया गया।

विभाजन की त्रासदी पर आधारित काव्य मंचन में दर्शाया गया कि विभाजन की पीड़ा से गुजर कर कवि सवालिया लहजे में कहता हैं... गुलाब की छड़ी से बंदूक की गोलियां कब और क्यों बरसने लगी? यह तूने क्या कर दिया? मेरे हाथ में कलम थमा दिया... और फिर... क्या करूं इस कलम का अंधेरे में? नरेंद्र मोहन का मानना है कि विभाजन का दंगा हो या आज का भाषाई दंगा, हर हाल में इंसान पीड़ित होता है, मरता है। मगर एक अदद सपने की इच्छा जीने की तमन्ना को बढ़ाती है। इस नाट्य सह काव्य मंचन को सुप्रसिद्ध रंगकर्मी एवं लिटिल थेस्पियन की निदेशक उमा झुनझुनवाला के निर्देशन में किया गया।

रंगकर्मी उमा झुनझुनवाला जी ने कहा कि सिर्फ कविता कहानी सिखाना मेरा मकसद नहीं है। कहीं कुछ इंसान हमारे बीच में बचा रहें, उसके लिए ही मैं रंगमंच के माध्यम से प्रयासरत हूँ। हमारे अंदर इंसान और इतिहास जीता है। हमारा साहित्य इंसान और इतिहास दोनों को संजोए होता है, जिसे रंगमंच के माध्यम से हम आज की युवा पीढ़ी में प्रसारित कर सकते हैं।

जलियावाला बाग के शहीदी कुएं से लाशें निकलने के दृश्य कुछ ऐसा था कि दर्शकों की आँखे नम हो गईं। ‘एक अदद सपने के लिए’ की काव्य प्रस्तुति, मंच सज्जा आकर्षक था। इतिहास की खोज का दृश्य, कुएं से निकलती लाशों का दृश्य मार्मिक था। संगीत का संचालन प्रवीर सेन गुप्ता ने किया एवं प्रकाश का संचालन शशांक मंडल ने किया। नाटक का सेट, वेश-भूषा, संगीत, आलोक आदि का प्रारूप और परिकल्पना भी उमा झुनझुनवाला द्वारा की गई थी। इस कार्यक्रम में शहर के वरिष्ठ साहित्यकार, लेखक, कवि, रंगकर्मी, विभिन्न महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों से आए प्राध्यापक और छात्र भारी संख्या में उपस्थित रहे। दर्शकों ने सभी कलाकारों की सराहना की। मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे- डॉ. शंभुनाथ, कुसुम खेमानी, विमला पोद्दार, अवधेश प्रसाद सिंह, संजय जायसवाल आदि।

भारतीय भाषा परिषद की अध्यक्ष कुसुम खेमानी ने उमा झुनझुनवाला के साथ कलाकारों और नाटक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

काव्य मंचन में भाग लेने वाले कलाकार थे- राहुल कुमार भट्टाचार्या, विनोद यादव, कुसुम वर्मा, पार्वती शॉ, पूजा गोंड, आतिफ अंसारी, कृतार्थ पांडेय, निलांजन चौटर्जी, गौरव गांगुली, सूर्य देव राय, जैनुल आबदिन, मारुफ खान, मुन्ना प्रसाद साव, विनय जायसवाल, शाइस्ता परवीन, सुमित गोस्वामी।

**प्रस्तुति : कुसुम वर्मा :- 9875558210**

**केंद्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**

**संपर्क :** हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन : 0562-2530684, बेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

**संक्षिप्त परिचय**

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य-**

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन, विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति(फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य-**

**शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्य के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम(स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम(स्ववित्तपोषित)

**अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

**शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

**संस्थान के प्रकाशन :** हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी, अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-‘गवेषणा’, ‘मीडिया’ और ‘समन्वय पूर्वोत्तर’ का प्रकाशन।

**पुस्तकालय :** भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ(शोधपरक एवं अन्य)।

**संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :** हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहटी(असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

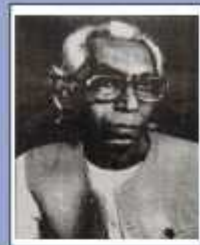
**योजनाएँ :** भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय(जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी. ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए. यू. के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

**-डॉ. कमल किशोर गोयनका**  
उपाध्यक्ष, के. हि. शि. म.  
ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

**-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय**  
निदेशक  
ई-मेल : nkpandey65@gmail.com  
directorofkhs@yahoo.co.in

**इस पार तक...**

**ध्रुवदेव मिश्र पाषाण**  
(जन्म : 9 सितम्बर 1939)



**चादर कबीर की**

ओढ़िये  
बिछाइये  
लपेटिये  
समेटिये  
बस जिन्म का हिस्सा समाइये इसे  
न भारी/ न हलकी/ गुनी हाथों की कलामात/  
सिर्फ साख होने के अहसास का भरोसा  
वाकई बड़ी नायाब चीज है यह।  
घूँप/ वर्षा/ जाड़ा  
ओला-पाला-काशी से मगहर तक  
हर उत्पात से पंजा लड़ाती  
निभाती देह का साथ  
टस से मस नहीं होती  
बचाती फर्ज की मरजाद  
शर्त सिर्फ यह  
कि इसे जतन से बरतें आप  
साथें ताने-बाने की कला का मर्म  
सुख-सेज से मरण-सेज तक  
थरती का ओढ़ना  
आकाश का चँदोवा है यह  
काश! बुनती रहें हमारी अँगुलियाँ  
इकतारे की धुन पर  
सुनते हुये अनहद का नाद  
झीनी-झीनी चादर यह कबीर की।

**- सरगम के सुर साधे (2018)**

RNI No. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

## स्मृति-विशेष



सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

15 सितम्बर 1927 - 24 सितम्बर 1983

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई, शिहण, 60 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सातकिया, हावड़ा-711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा